संस्कृत-विमर्शः

(An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal, UGC-CARE Listed)

नवशृङ्खला

अङ्कः 17 **(जुलाई 2019 - दिसम्बर 2019)** **वर्षम् 2020**

प्रधानसम्पादकः

प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्री

कुलपतिः

सम्पादकः

डॉ. मधुकेश्वरभट्टः

प्रभारी (शोध-प्रकाशनम्)

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

संसदः अधिनियमेन स्थापितः

(प्राक्तनं राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, मानितविश्वविद्यालयः)

भारतसर्वकारस्य शिक्षामन्त्रालयाधीनः

प्रकाशकः
कुलसचिवः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
भारतसर्वकारस्य शिक्षामन्त्रालयाधीनः
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली-110056

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

© केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

ISSN : 0975-1769

संस्करणम् : 2020

प्रत्यङ्कम् - 50.00

मुद्रकः
डी.वी. प्रिंटर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007

SAṂSKṚTA-VIMARŚAḤ

(An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal, UGC-CARE Listed)

New Series

Vol. 17 **(July 2019 - Dec. 2019)** **Year 2020**

General Editor
Prof. P.N. Sastry
Vice-Chancellor

Editor
Dr. Madhukeshwar Bhat
Incharge (Research & Publication)

Central Sanskrit University
(Formerly Rashtriya Sanskrit Sansthan, Deemed to be University)
Under Ministry of Education, Government of India
New Delhi

Publisher :
Registrar
Central Sanskrit University
Under Ministry of Education, Govt. of India
56-57, Institutional Area,
Janakpuri, New Delhi-110056

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

© Central Sanskrit University

ISSN : 0975-1769

Edition : 2020

Rs. 50.00

Printed :
D.V. Printer
97, UB, Jawahar Nager, Delhi-110007

परामर्शदातृ-समितिः

1. **प्रो. वी. कुटुम्ब शास्त्री,**
   36, एवरग्रीन अपार्टमेण्ट, प्लॉट न. 9,
   सेक्टर-7, द्वारका, नई दिल्ली-110075

2. **प्रो. के.वी. रामकृष्णमाचार्युलु,**
   4-45 अपोजिट सत्य सांई मंदिर,
   सत्य सांई नगर, सांई नगर पंचायत,
   तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश) - 517503

3. **प्रो. हृदयरञ्जनशर्मा**
   बी-24/31 के, कश्मीरीगंज, वाराणसी,
   पिन-221010 (उ.प्र.)

4. **प्रो. किशोरचन्द्रपाढ़ी**
   पुरी (उड़ीसा)

5. **प्रो. आजादमिश्रः**
   2/239, विरामखण्डः-2, गोमतीनगरम्
   लखनऊ, (यू. पी.) 226010

6. **प्रो. जि.एस्.आर. कृष्णमूर्तिः**
   राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
   तिरुपतिः - 517507 (आन्ध्रप्रदेशः)

7. **प्रो. श्रीपादभट्टः**
   राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
   तिरुपतिः - 517507 (आन्ध्रप्रदेशः)

✦✦✦

Advisory-Board

1. **Prof. V. Kutumba Sastry,**
   36, Evergreen Appartment Plot-9
   Sect. 7, Dwarka, New Delhi-110075

2. **Prof. K.V. Ramakrishnamacharyalu,**
   4-45, opp. Satyasai Mandir
   Stayasai nagar, Satya Sainagar panchayat
   Tirupati (A.P.) - 517503

3. **Prof. Ram Chandra Pandey**
   38, Manas Nagar, Durgakund
   Varanasi (U.P.)

4. **Prof. Kishor Chandra Padhi**
   Puri (Odisha)

5. **Prof. Azad Mishra**
   2/239, Viramkhand-2
   Gomatinagar, Luknow-226010

6. **Prof. G.S.R. Krishnamurty**
   National Sanskrit University
   Tirupati - 517507 (A.P.)

7. **Prof. Shripada Bhat**
   National Sanskrit University
   Tirupati - 517507 (A.P.)

✦✦✦

समीक्षा-समितिः

1. **प्रो. जयकान्तसिंह शर्मा**
   आचार्यः, श्रीला.ब.शा.राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

2. **प्रो. रामकुमार शर्मा**
   आचार्यः, जयपुरपरिसरः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरम्

3. **प्रो. विष्णुपद महापात्रः**
   आचार्यः, श्रीला.ब.शा.राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

4. **प्रो. सुकान्तकुमार सेनापतिः**
   निदेशकः (प्र.), मुक्तस्वाध्यायपीठम्, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, देहली

5. **डॉ. मन्था श्रीनिवासु**
   परियोजनाधिकारी केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, देहली

सम्पादक-मण्डलम्

1. **प्रो. ए.पी. सच्चिदानन्दः**
   निवृत्तप्राचार्यः, श्रीराजीवगान्धीपरिसरः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, शृङ्गेरी

2. **प्रो. अर्कनाथ चौधरी**
   निदेशकः, जयपुरपरिसरः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरम्

3. **प्रो. आर.जी. मुरलीकृष्णः**
   उपनिदेशकः (प्र.) प्रशासनम्, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, देहली

4. **डॉ. देवानन्द शुक्लः**
   उपनिदेशकः, शैक्षणिकम्, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, देहली

Review Committee

1. **Prof. Jaykant Singh Sharma**
   Professor, S.L.B.S.National Sanskrit University, New Delhi
2. **Prof. Ramkumar Sharma**
   Professor, Jaipur Campus,
   Central Sanskrit University, Jaipur
3. **Prof. Vishnupad Mahapatra**
   Professor, S.L.B.S.National Sanskrit University, New Delhi
4. **Prof. Sukantkumar Senapati**
   Director (I/c) Mukta Swadhyaya Peetham,
   Central Sanskrit University, Delhi
5. **Dr. Mantha Sriniwasu**
   Project Officer, Central Sanskrit University, Delhi

Editorial Board

1. **Prof. A.P. Sacchidananda**
   Retd. Principal, Shri Rajeev Gandhi Campus,
   Central Sanskrit University, Sringeri
2. **Prof. Arknath Chodhary**
   Director, Jaipur Campus,
   Central Sanskrit University, Jaipur
3. **Prof. R.G. Murlikrishna**
   Deputy Director (I/c), (Administration),
   Central Sanskrit University, Delhi
4. **Dr. Devanand Shukla**
   Deputy Director, (Academic),
   Central Sanskrit University, Delhi

विषयानुक्रमणिका

परामर्शदातृ-समितिः *v*

Advisory Board *vi*

समीक्षा-समितिः/सम्पादक-मण्डलम् *vii*

Review Committee/Editorial Board *viii*

1. **दण्डनीति के सन्दर्भ में प्राचीन राजनीति शास्त्र की प्रासंगिकता** 1
–डॉ. श्रीमती राजकुमारी त्रिखा

2. **Impact of the Sanskrit Rites, Tantric and Magic Spells as Revealed in the Chakma Society of Tripura** 9
–Dr. Sipra Ray

3. **शाकुन्तलोपाख्यानस्य साम्प्रतिकसमाजानुगुणत्वम्** 22
–डॉ. रत्नमोहन झाः

4. **बन्धमुक्त्योर्लक्षणं तर्योविश्लेषणञ्च** –प्रवीण रायः 38

5. **पौराणिक दशावतार : आधुनिक विकासवाद के प्रेरक तत्त्व** 43
–डॉ. अर्पिता चटर्जी

6. **व्यपदेशिवदकेस्मिन् परिभाषाविचारः** 52
–डॉ. मधुकेश्वरभट्टः

7. **चिरंजीव दाश का अनुवाद लालित्य** 56
–डॉ. अजय कुमार मिश्रा

8. **भारतीय मनोविज्ञान; एक समीक्षात्मक विश्लेषण** 62
–डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार

9. **शब्दशास्त्रप्रतिपादितकर्मभेदेषु निर्वर्त्यविकार्यकर्मणोर्वैलक्षण्यम्** 71
–श्यामसुन्दरशर्मा

10. **प्रमाणमञ्जरी में वर्णित गुणपदार्थ एक अन्वेषण** 84
–डॉ. भूपेन्द्र कुमार राठौर

11.	**'अग्ने नय' इति मन्त्रार्थविचारः**	–डॉ. दे. दयानाथः	115
12.	**मञ्जूषाकृद्दिशा स्फोटविमर्शः**	–सुश्रीविदुषी बोल्ला	123
13.	**राष्ट्र की स्मृद्धि में ऋग्वेदकालीन नारी की भूमिका**	–मंगला ठाकुर	134
14.	**मध्यमकाव्यविमर्शः**	–डॉ. अनीता शर्मा	144
15.	**प्राकृत व्याकरण के प्राचीन सन्दर्भ**	–डॉ. रजनीश शुक्ल	155
16.	**कालिदासनाटककृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् की रक्षा-व्यवस्था**	–डॉ. कमलेश	161
17.	**संस्कृत-अंग्रेजी में शब्दसाम्य विमर्श**	–डॉ. गजानन धरेन्द्र	170
18.	**संस्कृत साहित्य में वर्णित राजधर्म की वर्तमानकालिक प्रासंगिकता**	–डॉ. दिनेश भारद्वाज	178
19.	**Climatology in *Ṛtusaühāra***	–Dr. Kapil Gautam	185
20.	**आलङ्कारिकाणां दृष्ट्या अन्योक्ति-अलङ्कारः**	–देवस्मिता वारिक	197
21.	**जीवैकत्वनानात्वविचारः**	–डॉ. गणपति वि. हेगड़े	203
22.	**प्रहेलिकाऽलङ्कारस्य समीक्षणम्**	–डॉ. फिरोज़	207
23.	**वर्तमान परिप्रेक्ष्य में योग की आवश्यकता**	–डॉ. सुभद्रा झा	219
24.	**भारतेन्दु और उनका 'मुद्राराक्षस'**	–डॉ. मंजुला दास	225

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

दण्डनीति के सन्दर्भ में प्राचीन राजनीति शास्त्र की प्रासंगिकता

-डॉ. राजकुमारी त्रिखा
जनकपुरी, नई दिल्ली

[राज्यप्रशासने दण्डस्य अतीव महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। प्राचीनभारते दण्डनीतिः कीदृशी आसीत्। अधुना तस्याः समन्वयः कथंकारं स्यात् इति प्रबन्धेऽस्मिन् विदुष्या सूपत् प्रास्ताावि।]

1. कृतयुग में सृष्टि के प्रारम्भिक काल में सभी नर नारी प्रेमपूर्वक, परस्पर मिलजुल कर रहते थे। सभी एक दूसरे की सुखसुविधा का ध्यान रखते और संकट के समय परस्पर सहयोग करते थे। परन्तु समय बीतने के साथ साथ लोगों का नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया। लोगों में लालच, धोखा और स्वार्थ के भाव बढ़ने लगे। शीघ्रातिशीघ्र धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और पद पाने की लालसा में लोग दूसरों के अधिकारक्षेत्र में अतिक्रमण करने लगे। सर्वत्र अनाचार होने लगा। तब ऋषियों ने समाज में अनुशासन लागू करने के लिए विचार मन्थन किया। समाज के समुचित और व्यवस्थित संचालन के उद्देश्य से उन्होंने कुछ सर्वलोकहितकारी नियम बनाये। परन्तु प्रजा ने उन नियमों की अवहेलना करते हुए, परस्पर गलाकाट प्रतिस्पर्धा करते हुए, केवल अपने ही लाभ का ध्यान रखा। तब ऋषियों ने ऐसे व्यक्ति का राजा के रूप में चयन किया जो स्वस्थ, सच्चरित्र, न्यायप्रिय और शुद्ध आचरण वाला हो और अनुशासनहीन प्रजा को साम, दाम, दण्ड आदि द्वारा नियन्त्रित करके उसे सन्मार्ग पर चला सकता हो।[1]

मानवस्वभाव आज के युग में भी इसी प्रकार का है। प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपना ही स्वार्थ साधने की धुन सवार है। उसके मनमानी करने से अन्य लोगों को, पर्यावरण को, वैश्विक जीवन को कितनी हानि हो रही है, इस और उसका ध्यान नहीं जाता। प्रश्न है कि प्राचीनकाल में ऋषि प्रणीत जिस व्यवस्था ने समाज को उचित मार्ग पर और सुव्यवस्थित रूप में संचालित किया, वही

1. महाभारत, शान्ति पर्व

राजनीति के सिद्धांत क्या हमारे भ्रष्टाचार निमग्न समाज और शासकों का सही मार्गदर्शन कर सकते हैं? इस पत्र में मुख्य रूप से दण्ड नीति के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

ऋषियों ने विधि तथा निषेधात्मक आचारसंहिता बनाई और राजा को यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह प्रजा द्वारा उन नियमों का पालन आवश्यक रूप से करवाये। उन्होंने राजा के अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित किये। राजा प्रजा के लिए लोककल्याणकारी योजनाएं प्रारम्भ करे और अपने सुख को नजरअंदाज करके प्रजा के हित का उसी प्रकार अहर्निश ध्यान रखे, जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपनी पसन्द नापसन्द का ध्यान न रखते हुए, अपने गर्भस्थ शिशु के हित का ध्यान रखती है।[1] राजा को अपने सुखभोग और विश्राम के समय की बलि देकर भी प्रजा की देखभाल, आन्तरिक और बाहरी संकटों और शत्रुओं से राज्य की सुरक्षा और दुष्टों का दमन करना होता है। इस व्यवस्था में राजा को आमोद प्रमोद और विश्राम का समय नहीं मिल पाता अतः महाकवि कालिदास ने राज्य की तुलना छतरी से करते हुए कहा है- दण्ड व्यवस्था अपने हाथ में रखने वाले राजा के लिए राज्य उतना सुखदायक नहीं जितना कि कष्टदायक है, जिस प्रकार स्वयं अपने हाथ में पकड़ी छतरी से धूप और वर्षा से बचाव के कारण उतना सुख नहीं मिलता जितना कि न छतरी का दंडा पकड़ने का कष्ट होता है।[2]

हमारी प्रशासन प्रणाली राजतन्त्र नहीं, बल्कि लोकतंत्र है, जिसमें जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि, क्षेत्रीय, राज्य और केंद्रीय स्तर पर शासन व्यवस्था सम्भालते हैं। अभी भी शासकीय लक्ष्य प्रजा का कल्याण और आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना ही है। आज भी हमारे संविधान में सभी नागरिकों को समान रूप से अनेक अधिकार प्राप्त हैं। महाभारत में भी राजा के दायित्वों का उल्लेख नारद और युधिष्ठिर सम्वाद में मिलता है। महर्षि नारद युधिष्ठिर से पूछते हैं- हे राजन्! तु गूंगे, पंगु, विकलांग, बेसहारा तथा सम्बन्धियों से रहित लोगों को पिता के समान सुरक्षा प्रदान करते हो ना?[3] राजा का दायित्व है कि वह निर्धन,

---

1. यथा हि गर्भिणी हित्वा, स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
   गर्भस्य हितमाधत्ते, तथा राज्ञाप्यसंशयम्।
   वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ, नित्यं धर्मानुसारिणा।
   स्वं प्रियं तु परित्यज्य, यल्लोकहितं भवेत्।। महा. शान्ति. 56.44-46
2. नातिश्रमापनाय यथा श्रमाय, राज्य स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्। अभिज्ञानशाकुंतलम् छठा अंक
3. क्वचितदन्धानंश्च मूकांश्च पंगून् व्यंगानबान्धवान्,
   पितेव पासि धर्मज्ञ, तथा प्रव्रजितानपि।। मह. सभा. 5.125

दु:खी, बेसहारा तथा पराश्रित विधवाओं को जीवन यापन करने योग्य धन दे।[1]

भारत सरकार ने भी यथासम्भव इन दायित्वों का निर्वाह करने के लिए अनेक योजनाएं बनाई हैं, परन्तु उनका अपेक्षित और अभीष्ट परिणाम नहीं मिलता। कल्याणकारी योजनाओं में व्यय किये धन का 10 प्रतिशत भी सही अर्थों में प्रयोग नहीं होता। विविध स्तरों पर नियुक्त अधिकारी गण बेईमानी से उस राशि का कुछ अंश हड़पते जाते हैं। इस स्थिति पर नियन्त्रण करना बहुत आवश्यक है। केवल दण्ड ही इसका एकमात्र उपाय है। अज्ञान वश किये हुए नियम विरुद्ध कार्य के लिए तो उस व्यक्ति को समझा कर अथवा चेतावनी देकर सुधारा जा सकता है, परन्तु जो जान बूझकर पूरे होशोहवास में नियमों का उल्लंघन करते हुए बेईमानी करते हैं, उन्हें तो दण्ड देकर ही सही मार्ग पर लाया जा सकता है। ठीक ही कहा गया है- भय बिनु होय न प्रीति। अत: दण्ड नीति का समुचित प्रयोग अनिवार्य है, क्योंकि बलवानों के बलपूर्वक आचरण से, अत्याचार से पीड़ित अनाथ मनुष्यों का आश्रयदाता और संरक्षक राजा ही होता है।[2] अत: राजा को सदैव सजगतापूर्वक अपने मन्त्रियों, अधीनस्थ अधिकारियों और अपराधियों पर नजर रखनी चाहिये, ताकि वे कोई भ्रष्टाचार न कर सकें और अपना-अपना कार्य निष्ठा पूर्वक करें। देवर्षि नारद युधिष्ठिर से कुशलक्षेम पूछते हुए कहते हैं- तुम्हारे मन्त्री ईमानदारी से अपना कर्तव्य निर्वाह करते हैं ना? वे अपराधियों को दंडित किये बिना ही छोड़ते तो नहीं, अथवा स्वार्थवश किसी निरपराध को दण्ड तो नहीं देते? तुम्हारे मूर्ख आर भ्रष्ट मन्त्री किसी विशुद्ध हृदय और पवित्र आचरण वाले पुरुष पर चोरी का मिथ्या दोषारोपण करके उसका धन तो नहीं हड़प लेते अथवा अधिकर धन के लोभ से उसे प्राणदण्ड तो नहीं देते? कहीं चोरी करते हुए और चोरी के माल सहित पकड़े गये चारे को धन (रिश्वत) के लोभ से छोड़ तो नहीं दिया जाता?[3]

दुर्भाग्य से आज भारतीय समाज में, प्रशासन में, सर्वत्र यही दुरवस्था

---

1. कृपणनाथवृद्धानां विधवानाञ्च योषिताम्,
   योगक्षेमं वृत्तिञ्च नित्यमेव प्रकल्पयेत्।। महा. शान्ति. 86.24
2. बलात्कृतानां बलिभि:, कृपणं बहु जल्पताम्।
   नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत्।। महा. शान्ति. 85.18
3. कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा, क्षारितश्चौरकर्मणि,
   अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचि:।।
   दुष्टो गृहीतस्तत्कारी, तज्ज्ञैर्दृष्ट: सकारण:,
   कच्चिन्मुच्यते स्तेनो, द्रव्यलोभान्नरषर्भ।। महा. सभा. 5.105-6

दिखाई देती है। मानवप्रकृति बदलती नहीं। प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में शासन प्रमुख क्या करे? वेदव्यासजी कहते हैं कि यदि कोई मन्त्री अथवा उच्च पदाधिकारी भ्रष्टाचार में संलिप्त हो तो राजा उसे भी दण्ड दे।[1] दण्ड देते समय राजा केवल अपराधी और उसके अपराध का ही ध्यान रखे। अपराधी के साथ अपने अन्तरंग और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होने पर भी उसे दण्ड अवश्य दे। यदि राजा के अपने सगे बन्धु बान्धव भी अपराध करें तो उन्हें भी अवश्य ही कठोर से कठोर दण्ड दे।[2] यहाँ तक कि माता, पिता, भाई, स्त्री, पुरोहित, कोई भी क्यों न हो, यदि वह अपराधी हो, धर्मच्युत हो तो राजा उनको भी अवश्य ही दण्ड दे, क्योंकि राजा के लिए कोई भी व्यक्ति अदण्डनीय नहीं है।[3] समुचित दण्ड देने वाले राजा को वध और बन्धन का पाप नहीं लगता, परन्तु जो मनमाना दण्ड देता है, उसको इस लोक में अपयश और मरणोपरांत नर्क मिलता है।[4] यद्यपि राजा को गुप्तचर व्यवस्था, मन्त्रिमण्डल से मन्त्रणा, राजकोष का निरीक्षण कार्य सदा स्वयं अपने हाथ से करने चाहिए, परन्तु दण्ड विधान का कार्यभार विशेष रूप से राजा को स्वयं ही सम्भालना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण राज्य इसी पर प्रतिष्ठित है।[5] दण्ड का उद्देश्य राजकोष भरना नहीं है। अतः निर्णय करते समय राजा को विशेष रूप से सतर्व। रहते हुए अपराधों की उग्रता तथा गम्भीरता और अपराधियों की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार उचित दण्ड देना चाहिए। जैसे अपराधी धनवान हो, तो उसे कठोर जुर्माना, सम्पत्ति जब्त जैसे अर्थ दण्ड देना उचित है। यदि निर्धन हो तो कारागार में डल देना चाहिए। अत्यंत दुराचारी अपराधी को मारपीठ कर शारीरिक यातना देकर सही मार्ग पर लाना चाहिए।[6] सर्वप्रथम गहन जांच पड़ताल द्वारा अपराधी और अपराध का निश्चय हो

---

1. दुष्टानां निग्रहो दण्डः, हिरण्यं बाह्यतं क्रिया।। शान्ति. 22.40
2. दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान्।। शान्ति. 267.29
3. माता पिता च भ्राता च, भार्या चैव पुरोहितः,
   नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो, यः स्वधर्मे न तिष्ठति।। तत्रैव. 121.60
4. सम्यक् प्रणयतो दण्डं, भूमिपस्य विशांपते,
   युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो, धर्म एव हि शाश्वतः।।
   कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः,
   स इहाकीर्तसंयुक्तो, मृतो नरकमृच्छति।। तत्रैव. 85.23-24
5. चरान्मन्त्रञ्च कोशञ्च दण्डं चैव विशेषतः,
   अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा, सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम्।। तत्रैव 86.20
6. अपराधानुरूपञ्च, दण्डं पापेषु धारयेत्।
   वियोजयेद् धनैर्ऋद्धानधनानथबन्धनैः।
   विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिव।। तत्रैव 85.20-21

जाने के बाद ही दण्ड दिया जाये जिससे न तो कोई निर्दोष दण्डित हो और न ही कोई अपराधी दण्ड से बच पाये। क्योंकि जो दोष अवध्य व्यक्ति के वध में है, वही दोष वध योग्य पुरुष का वध न करने में भी है।[1] परन्तु मनुस्मृति में आतताइयों को तुरन्त मार डालने का स्पष्ट निर्देश है। आततायी चाहे गुरु हो, बाल, वृद्ध, बहुत ज्ञानी ब्राह्मण हो, यदि वह आक्रमण करने को आ रहा हो, तो उसे बिना कोई सोचविचार किए मार डालो।[2] आतंकवादियों का प्रतिकार करने के लिए यह नीति प्रासंगिक है। कौटिल्य ने दण्ड के चार लक्ष्य बताये हैं।

1. अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति
2. प्राप्त वस्तु की रक्षा
3. रक्षितवस्तु का सम्वर्द्धन
4. सम्वर्धित वस्तु को उचित पात्रों में बाँटना।

राज्य और प्रजा की सुख शान्ति के लिये संसाधनों का सम्यक् संरक्षण और सभी को उपलब्ध कराना ही उद्देश्य है। इस कार्य में बाधा डालने वादे दुष्टों का दमन आवश्यक है, अन्यथा दण्ड के अभाव में फलते फूलते अपराधियों को देख कर अन्य लोग भी अपराध करने को प्रेरित होते हैं। इस तरह निरन्तर फैलता अपराध कालान्तर में विकट समस्या बन जाता है। फिर प्रजा भी राजा से विमुख हो जाती है। तब राज्य की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती है।

अतः अपराधियों का दण्ड द्वारा निग्रह अनिवार्य है। हमारे संविधान में विविध अपराधों के लिए दण्ड निर्धारित हैं। परन्तु खेद है कि उनका कार्यान्वन ईमानदारी से और समय पर नहीं किया जाता। जाँच अधिकारियों में ईमानदारी, सम्वेदनशीलता और सेवाभाव का प्रायः अभाव रहता है। त्वरित दण्ड का अभाव अनेक नये अपराधों को जन्म देता है। अतः समाज को पतन से बचाने के लिए ही स्वधर्म पालन तथा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की गई, और राजा को यह दायित्व सौंपा गया कि वह यथाशक्ति निष्ठा पूर्वक प्रजा की देखभाल और आन्तरिक और बाहरी संकटों से रक्षा करे। जनता को नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करें।

प्राचीन काल में प्रभुसत्ता न तो राजा में ही निहित थी, न किसी अन्य व्यक्ति में। धर्म की शक्ति ही सम्प्रभुशक्ति थी। अपने धर्म की अवहेलना करने

---

1. यस्त्ववध्यवधे दोषः, स वध्यस्यावधे स्मृतः। तत्रैव. 82.84
2. गुरुम् वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
   आततायिनमायान्तम् हन्यादेवाविचारयन्।। मनुस्मृति 8.350

वाला दण्डनीय था, चाहे वह राजा हो या प्रजा। कानून के मूल स्रोत श्रुति, स्मृति और शिष्टाचार थे। ब्राह्मण धर्म का निरूपण करते थे और राजा प्रजा से धर्म पालन करवाता था।

इस व्यवस्था का एक उदाहरण हमें ऋषि माण्डव्य की कथा में मिलता है, जिनके द्वारा दण्ड व्यवस्था में किए गए परिवर्तन आज के समय में भी प्रासंगिक हैं। उन्होंने अपराधियों को दण्ड देने की आयु 14 वर्ष कर दी थी। कथा इस प्रकार है.....[1]

ऋषि माण्डव्य अपने आश्रम परिसर में मौनव्रत धारण करके समाधिस्थ हो गए। तभी डाकुओं का एक समूह चुराये हुए धन के साथ वहाँ आया। राजकीय पुरुष उन्हें पकड़ने के लिए उनका पीछा कर रहे थे। डाकुओं ने ऋषि को समाधिलीन देखा, तो वे चोरी के धन को आश्रम में छिपा कर स्वयं भी वहीं छिप गए। राजकर्मचारियों ने ऋषि से डाकुओं का अता पता पूछा, परन्तु मौनव्रत के कारण ऋषि ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब उन्होंने आश्रम की सघन तलाशी ली। डाकुओं और चोरी के माल को राजा के सामने पेश करते हुए ऋषि माण्डव्य को उन्हें आश्रम में छिपाने का दोषी भी बताया। चोरों का साथ देने उन्हें और चोरी का माल छिपाने के आरोप में ऋषि को सूली पर चढ़ाने का दण्ड दिया गया। राजा के आदेशानुसार ऋषि को सूली पर बिठा दिया गया। सूली की नोक ऋषि के गुदाद्वार से उनके शरीर में चुभ गई सूली पर चढ़ाने के तीन चार दिन बाद भी ऋषि की मृत्यु नहीं हुई। आरक्षकों से यह सूचना पाकर राजा समझ गया कि मुझसे भयंकर भूल हुई है। ये तो कोई सिद्ध महात्मा हैं। उसने ऋषि से विनम्रतापूर्वक क्षमा मांगते हुए उन्हें सूली से उतारने का आदेश दिया। परन्तु तब तक सूली शरीर में इतनी अधिक धंस चुकी थी कि उन्हें सूली से उठाया नहीं जा सका। तब सूली को काटकर उन्हें सूली से अलग किया जा सका। परन्तु सूली का कुछ भाग उनकी गुदा में रह कर कष्ट देता रहा। सूली की नोक को अणि कहते हैं, इसलिये ऋषि का नाम अणि माण्डव्य पड़ गया। इसी कष्टप्रद स्थिति में घूमते हुए वह धर्मराज के पास पहुंचे और पूछा कि किस पाप के कारण उन्हें यह कष्ट मिला है। धर्मराज ने कहा कि पिछले जन्म में तुमने बचपन में एक पक्षी की गुदा में तिनका डालकर उसे दुःख दिया था। इसी पाप के कारण यह सूली का टुकड़ा (अणि) गुदा में कष्ट दे रहा है।

तब ऋषि ने कहा- शास्त्रों का विधान है कि बारह वर्ष की आयु तक किये गए अपराध का दण्ड व्यक्ति को नहीं दिया जाता। आज से मैं नई

1. अणि माण्डव्य कथा.। महा. आदि पर्व

दण्डव्यवस्था लागू करता हूँ। अबोध अवस्था में किये पाप का दण्ड नहीं दिया जायेगा। **चौदह** वर्ष से अधिक आयु का किशोर ही अपराध करने पर दण्ड का भागी होगा। सरकारी नियमों के अनुसार अट्ठारह वर्ष की आयु का व्यक्ति कानून बालिग हो जाता है। बालिग अपराधियों को अपराधानुसार अनेक दण्ड दिये जा सकते हैं। परन्तु नाबालिग को अपराध करने पर भी अधिक दण्ड नहीं दिया जा सकता। आजकल अट्ठारह वर्ष से कुछ कम आयु के किशोर भी हत्या, लूटपाट और बलात्कार जैसे गम्भीर और जघन्य अपराधों को अन्जाम दे रहे हैं। नाबालिग होने के कारण उन्हें कठोर दण्ड नहीं दिया जाता, और बाल सुधार गृह में भेज दिया जाता है। कई किशोर वहाँ भी अनेक नियम विरुद्ध कार्य करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि जानबूझकर दूसरों को कष्ट पहुँचाने में समर्थ व्यक्ति नाबालिग कैसे हुआ? कुछ वर्ष पूर्व घटित निर्भया कांड के गैंगरेप के अपराधियों में एक नाबालिग की आयु अट्ठारह वर्ष से कुछ मास ही कम आयु का था। परन्तु उसी ने निर्भया के साथ रेप के साथ साथ उसके यौनागों को बर्बरता पूर्वक क्षतविक्षत किया था। रेप करने मे समर्थ अपराधी को नाबालिग अथवा किशोर कैसे माना जा सकता है? अतः भारत सरकार बालिग होने की आयु सोलह वर्ष करने का विचार कर रही है। अपरिपक्व आयु में बालिग माने जाने पर उसे वोट डालने का अधिकार, सम्पत्ति के उत्तराधिकार जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार मिल जायेंगे। दूरदर्शिता रहित और अपरिपक्व अवस्था में मनमानी करने की इच्छा और शक्ति होती है। परन्तु जोश के कारण वह अपने कुकृत्य के परिणाम को नहीं देख पाता। अतः बालिग होने की आयु कम करने के स्थान पर जघन्य अपराधों में कठोर दण्ड देने की आयु घटा कर **चौदह** वर्ष की जाये तो अपराधियों में सख्त सन्देश जायेगा। अणि माण्डव्य ऋषि की कथा इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन करती है।

हमारे संविधान में आदर्श राज्य के लिये लिए आवश्यक सभी नियमों का विधान है। नागरिकों की सुरक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ, परिवहन सेवाएँ, जल व्यवस्था, पर्यावरण संरक्षण, राष्ट्रिय संसाधनों का उचित वितरण जरूरतमन्दों, निर्धनों, विधवाओं, और बुजुर्गों को मासिक पेन्शन तथा अन्यान्य अनेक लोककल्याणकारी योजनाएँ चलाई जा रही हैं। परन्तु भ्रष्टाचार के कारण उनका पूरा लाभ जनता को नहीं मिल पाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के कारण यहाँ शिक्षा प्रणाली में नैतिक शिक्षा का सर्वथा अभाव है, जबकि राजा का मुख्य कर्तव्य है प्रजा को अनुशासित रखना और प्रजा द्वारा नैतिक नियमों का हर हालत में पालन करवाना। सर्वप्रथम तो सामनीति का अवलम्बन लेकर प्रजा को समझा बुझा कर अनुशासन में रहने को प्रेरित करे। यदि प्रजा न माने तो प्रोत्साहन देकर प्रेरित करे। यदि प्रजा तब

भी अनुशासन का पालन नहीं करे, तो दण्ड देकर उसे नैतिक नियमों का पालन करने को बाध्य करे। तभी सब लोग ईमानदारी से अपना-अपना काम करेंगे, और शासनतंत्र सुचारु रूप से चलेगा। प्रजा पर नियंत्रण का कार्य केवल राजा ही कर सकता है।[1] अतः राजा विशुद्ध न्याय और समुचित दण्ड व्यवस्था द्वारा प्रजा को अपने-अपने कार्य इस प्रकार करने को प्रेरित करे कि किसी व्यक्ति के कार्य से किसी अन्य व्यक्ति के कार्य में बाधा न पड़े।[2]

प्राचीन राजनीति के ये नियम आज भी प्रासंगिक हैं और समाज में सुख, शान्ति, समरसता, नैतिक मूल्यों के पालन जैसे सुखपरिणाम देने में समर्थ हैं।

✦✦✦

1. धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि, धर्मो राजनि तिष्ठति।। महा. शान्ति. 90.5
2. धर्मं यो बाधते धर्मो, न स धर्मः कुधर्मस्तत्।। महा. वन. 131.11

Impact of the Sanskrit Rites, Tantric and Magic Spells as Revealed in the Chakma Society of Tripura

Dr. Sipra Ray
Head and Associate Professor,
Department of Sanskrit,
Suryamaninagar, Tripura-799022

[संस्कृतभाषायाः प्रभावः भारतस्य संस्कृतौ भाषासु सर्वादा अस्त्येव। देशस्य पूर्वोत्तरभागे स्थितस्य त्रिपुराराज्यस्य आदिवासिजनसमुदायेषु संस्कृतस्य प्रभावः कीदृशः अस्ति इति शोधपूर्णे लेखे न्यरूपि।]

Key words:- Chakma, Rites and Rituals, Religious and Cultural life, Medicinal process.

Abstract

The Chakmas are one of the main tribes of the Mongolian Race travelled from the Chittagong Hill Tracts to Tripura in the first part of eighteenth era. This article will present a view of the history of Chakma Community, their religious life in light of Sanskrit and Vedic faith. Chakmas are still recalling their uniqueness by performing their traditional formal procedure and speaking their own tongue. They are Buddhist in particular: neverthelesshave too obligate fondness to their traditional philosophy and beliefs.

SECTION 1: INTRODUCTION

In the northeastern corner of India. a small tiny state is Tripura. Tripura has rich heritage of tradition and diverse culture from ancient times. During British colonial rule, the state was known as 'Hill-Tipperah', ruled by the Kings of Manikya dynasty.

The state Tripura is a hub of nineteen different indigenous groups. Among them Chakma is one group who are rich in heritage. It is a fact that

the advancement of human civilization began along the river-sides from ancient period and mode of sturggle for existence is the main pivot that lolled the Chakmas to a charming land of long beautiful ridges of green hills and luxuriant forests to settle their abode in Tripura.

Chakmas to Tripura are one of the Indigenous groups who are originated from the Hill tracts of Chittagong in Bangladesh and then moved towards India afterwards. Basically, they belonged to the family of Tibeto-Burmese tribe who are from Mongolian race. A large number of Chakmas are found in Bangladesh in number of four lakhs who are known as *dainnaks*[1]. Besides this, in *Arakan* region of Burma Chakmas are dwelling, they are found also in the states of Mizoram, Arunachal Pradesh, Assam and West Bengal.

SECTION 2: ORIGIN OF THE TRIBE

Originally Chakmas are belonged to the family of Tibeto- Burmese who are from Mongloid race. The Chakmas are called differently in various places. According to Risly, The name *Chakma* has been derived from *Tsamka, Tsak, Thek*[2]. The Burmese called them *'Tsak or Thek'*[3], the Kuki called them *'Tui-thek'*, the Mog call them *'Saak',* the Tripuris call them *'Chakkuma'*[4] and in Bangladesh Chittagong Bengalese used to call them *'Chammua'*. The accurate name of this group is *'Changma'* as per generic term which was modified to *'Chakma'*[5] by British.

There is no doubt that Chakma are the ethnic groups emigrated in the north-eastern regions of India departing from the regions of South-Western China. This tribe is highly influenced by Indian civilizations. It is noticeable from their culture, heritage and ancient history, that Chakmas belong to the Indo Mongoloid ethnic group.

Form the traditional book of Chakma named *'Bijak'*[6], it is proven that the ancient history of Chakma is written in their language. As per the book, Chakma was departed from India by some foreign invaders and

---

1. Majumbar, Pannalal. *The Chakmas of Tripura*. Agartala: Tribal Research & Cultural Institute, Govt. of Tripura, 2013, p.9.
2. Dev Varman, S.B.K. *The Tribes of Tripura- A Dissertation.* Agartala: Tribal Research & Cultural Institute, Govt. Of Tripura, 2012, p. 42.
3. Majumdar, *Op, Cit.* p. 12.
4. *Ibid,* p. 35.
5. *Ibid,* p. 23.
6. *Ibid,* p. 36.

went to Burma (now Myanmar) and stay there for long times. Later on, they came to the plains of Chittagong in India leaving Myanmar at 14th century. At the time of Mughal Empire, Chakma entered Tripura to settle in this place, due to inhuman behavior of King Satura known as *pagla Raja.*

According to famous anthropologist, Dr. Heinz Bechart, Chakmas belong to the people of South East Asia. Their dress shows similarities with the dress of Burmese and Shan people. There are also a number of customs which hints to the form of 'Animism', which was is very similar to the people of Burmese and Shan groups before their conersion to 'Buddhism'. They mainly believe in the stream of *Hinayani* Buddhism. The name of *Chakma* is originated from the Shakya Clan which means Shakya - *'Shak (Tsak)'* that is Chak + Ma where 'ma' means *'maanuch'* or the man in Tibeto Burmese language. The ancestor of the Chakma were known somewhere as Kadu of *Tsak or Thsek.* The *Bjak* is considered to be started from the reign of the Chakma King Bijoygiri. It is said that he went from India and founded a new Kingdom in Burma at tenth century or some opines the time as seventh century.

SECTION 3: DIALECTS

As per the eminent writer Sugata Chakma, the language of Chakma is originated from the languages of Aryan groups. This language has relation with the New Indo-Aryan language which came from the branch of *Purbi-Magadhi,* an Indo-Aryan language. Other facts stated by different scholar that the language of Chakma is derived from the Tibeto-Burmese of North-Eastern region. Chakma vocabulary has been originated from Sanskrit, Pali, and Prakrit of Old Indo-Aryan laguage, as well as from Bengali, Assamese, and Hindi fo modern Indo-Aryan language.

It has been observed by many scholars that the Chakma scripts have been derived basically from the ancient Indian Brahmin script. By paying attention to the characters of Chakma language it can be noted the influence of ancient southern Indian Brahmin script like *pallavi* script or present Tamil and Malayalam script which originated from the *Pallavi* scripts. In ancient time Chakmas were living in the *Arakanian* region of Burma. Their scripts may have evolved from and under the influence of the *mon-Khmer* or the Burmese scripts, probably up to the 13th century, before proceeding the period of their advent into the Chittagong in the 14th century.

SECTION 4: RELIGION AND CULTURAL LIFE

The Chakmas of Tripura are carrying out two types of rituals. One is spiritual and the other is customary. In the *spiritual rituals.* they have the belief that the whole society lies in one Supreme. The next is customary where the rituals are changed from one part of region to other.

The Chakmas are the followers of *Hinayani* Buddhism from the outer phase of the society. But in the inner phase they are kin believer of *Tantric* rituals of Buddhism. The customary popular pujas and festivals of the Chakmas may be classified into four groups. These are- Family besed, *Guthi* (Clan) based, Village based and Public or Universal.

In the matter of belief and practice the Chakmas are not different from other tribal groups in Tripura. They also borrowed some Hindu belief, rites of worship Goda and Goddesses beside Buddhism. The traditional priest of Chakma is known as *Lorhior Roulee*[1]. These *lorhisare* nowa-days are considered as *Bhikkus* who are the Buddhist priest in the society. According to H.H Risley, animism is the highest factor in the religion of the primitive tribes and the Chakmas are not the exceptions. Their religious cults are combination of ancestor worship of natural deities and spirits.

This table shows the Pujas that Chakmas perform in the society:

Family Based Puja[2]

Name of the Pujas	Name of the Gods and Goddesses	Purpose
GHAR-CHUMLANG	BIYAWTRA, PARAMESHWARI, BAJAMATTI	To prevails peace and prosperity in the family.
MA-LAKKI-MA	MA LAKKI MA	At the time harvesting to have high production in the cultivation.
	GANGA, BIYATRA,	To purify the

1. *Ibid,* p. 154.
2. *Ibid,* p. 150.

BUR PARA	BAJAMATTI	souls of the family members and safeguard from evil ghostand spirits.
KAJAPANI	GANGA	To relief from impurity.
DHARMAKAM	BUDDHA	For the peace and progress.

Village Based Puja[1]

Name of the Puas	Name of the Gods and Goddesses	Purpose
THANMANA	MA-KAKKI-MA, THAN, BIYATRA, GANGA, DHALESWAR, PARAMESHWARI, KALAIYA, RAKSHYAL, BHUT RAJA, MODYA, HADYA, FULLKAMARI, MELKAMARI, MOHINI DEVI	To relief the family member or villagers from all kinds of diseases. These Goddesses are safeguarding the people from the hand of epidemic and other disaster.
BUR PARA	MATYA, GANGA, BIYATRA. BAJA MATTI	To protect the family from tiger attack.

Gutti (Clan) Based Puja[2]

Name of the Pujas	Name of the Gods and Goddesses	Purpose
GUTTIBHAT OR BHATDYA	BUDDHA	For salvation of the dead of several generations of a clan.

Details of benevolent Gods and Goddesses in Chakma society:

1. MA-LAKKI-MA: Goddess of crops of fortune.

---

1. *Ibid,* p. 151.
2. *Ibid,* p. 152.

2. THAN: God of house hold in village.

3. BIYATRA: Son of Ganga and the God for all works of welfare.

4. GANGA: The Goddess of river, oceans and water.

5. DHALESHWARI: The Goddess of learning or according to another view the Goddess of cotton.

6. PARAMESWARI: The Goddess of nature.

7. RAKHYAL: The God of preservation of soil or according to another view the God of the forest.

8. BHUTRAJA: The kind of ghost.

9. MODYA: The God of tiger.

10. HADYA: The God of harmful insects.

11. FUL KAMARI: The Goddess of scabies and boils.

12. MEL KAMARI: The Goddess of Pox, Cholera, etc.

13. MOHINI: The Goddess of earth.

14. SIJILA: The God of harms to the child.

15. BARMA: The God of Fire.

16. BIKRAM PUDIMA: The Goddess of art and craft.

17. CHONDI: The Goddess of games and sports.

Besides these, many Pujas are performed by the Chakma community to please other deities.

1. DHARMAKAM PUJA: This puja is offered for peace and prosperity of the family. This puja is held in accordance with the rituals of the *Tanras* of the Buddhist scripture. *SIDDHI PUJA* is another name of this puja. This puja is held inside a jungle. The *LORI*- a Buddhist priest performs this puja in accordance with the *Tantric rituals.* He helped by *LOTHAK* who lived a sanity life.

2. THANMANA PUJA: This is a village besed puja and every year this puja is held in the months of *Magh* and *Falgun* in each village. This puja is held by collecting subscription in proportionately from the villagers. THAN is regarded as the savior God of the village. Sacrifices and offerings are given to these fourteen Gods and Goddesses. They are MA-LAKKI-MA, THAN, BIYATRA, GANGA, DHALESHWARI, PARAMESHWARI, KALAYIA, RAKSHYAL, BHUTRAJA, MODYA, HADYA, FUL KUMARI, MELKAMARI, AND MOHINI

DEVI.[1] This puja is performed in accordance with traditional rituals. It is celebrated on the river bank by constructing cane with banboo attached to the river.

3. CHU-NGU-LANG PUJAS: Chakmas have their own culture like other tribal community. Mostly they follow Buddhism. Apart from that now-a-days they adore the God and Goddess likes. *shiv, kali, Saraswati, Nabagrahas, Laxmi,* etc.

At the beginning of CHU-NGU-LANG Puja reverence is offered to the natural elements of earth, Sky and natural power. This Puja is performed at the time of marriage, Childbirth, increasing productivity of field, welfare of family perform by priest called *'Lahri or Roulee'* , In this puja, *Parameswari also* got worshipped. She is the mother Earth.

4. VADYA PUJA: This puja is for offering rice to the ancestor in presence of *Lohri.*

5. BIJHU FESTIVAL: It is started from the last two days of *Chaitra* and continues for 3 (three) days. Chakmas entertain in the festival by dancing and singing. One of the important rituals in festival is *'Phool Bijhu'* which oceurs one day earlier of the main or *mul* festival. The last day of oceasion is called *'Gecha-Pacha'.*

6. BUR PARA PUJA: The *Burpara Puja* is condensed to conciliate the nature deity for the confort of the family. Rendering to the observation of *Lohri* all the family members go to the river ghat and rinse their heads for ablution.

The influence of ANIMISM is traceable in the pujas of Chakmas. It is observed that animism plays a vital role in the pujas and rituals of Chakmas. With the improvement of knowledge sacraments are changd to some extent and these deviations we catch in the folk sagas, folk formalities and folk gospels etc. Wine is offered as a common material in all the pujas of Chakma society. There is no fixed pouja pandle, habitually offer puja in the natural ambiances. It is a feature of the pre-historic puja rituals to investigate the sacrificed cock to conclude the bad and good result of the puja. It is derived from the ancient tribes of Burma. Jhum or forest oriented Gods and Goddess are appreciated almost in all tribes. But there is specific dissimilarity between Chakmas and other tribes. Other tribes believe in Totemism but Chakmas do not believe in Totemism.

---

1. *Ibid,* p. 156.

Now we may discuss about the influence of ancient Buddhist rituals among the Pujas and festivals of the Chakmas. The *Vadhya Puja* of the Chakma has vital role in the Chakma culture and the discussion of this *Vadhya puja* is found in the antique Buddhist literature. It is cited in the ancient Buddhist writings: The *Bimbisara the* King of Magadha formerly performed the *Vadhya puja* following Buddhist rituals for salvation of the souls of his Kith's and Kins. So the Chakma conceded the ancient Buddhist rites as an ancient followers to Buddhism, we can take this as a conclusion. Chakmas organize Chariot festival which has been influenced by Buddhis. This festival is organized followed by Tantric rituals. In ancient period this Chariot pulling festivals was there among *Mahayani* Buddhists of Tibet. This puja is still in vogue in various *Mahayani Buddhistic* cults in India. Chakmas observe the jubilees of dead. The Chakma Societies of *Byuhchakra and Kalpataru* have been originated from Buddhist culture.

It can be said that inspiration of Buddhist *Tantras* and caremonies of Hinduism have a prodigious role in pujas and festivals of the Chakmas of Tripura. But the notion of Animism was followed from their traditional customs, rites and principles, In various pujas and festivals of the Chakmas, we have seen that some Buddhist rituals have a great impact on them. It is certain that, foremost Buddhist formal procedure have an excessive guidance on them. Some of them are *Baishaki Purnimaor Buddha Jayanti, Prabarana Puranima, Ashwini Purnima, Falguni Purnima.*

SECTION 5 : RELIGIOUS MANTRAS OF THE CHAKMAS

The Chakmas have several categories of sacred mantras narrated in the Shamanistic resolution. Particular mantras are used on the way to off the evils and to medicate the patient who has been affected by evils of any miseries. Specific mantras are used in connection with different situation and as per the need of the victim. For the sanitization of a man the Chakma use the water of the brook with the help of the *Lori* which enchants the mantras in the Chakma vernaculars.

Some of the Chakma Mantras are as follows:

A. Purification Mantra:

"SHIL BHANGI PATHER GARANG
PATHER BHANGI DARJA GARANG
DURJA PANI HUJE TULANG

SAJANG NALE BHARANG PANI

ABUJ MANEI SUDDHA GARANG

SHUDDHAGARI PADHANG GHAR

MARE NANG DEBIR PUT SHIBSHANKAR"[1]

significence:- After crushing the stones I shall create a sea. I shall arrange all human abodes to live over the surface of the sea. I shall draw water from them and I shall purify the silly human being to send them to their houses after purification. I am the son of Goddess, *shibsankar.*

B. Mad Para:

"UNG WSHIBENG PUDI KAJAL PUDI

SAT PHUDURE MA

KI PUGE CHARA KARE

ANDHAR RATRI GA

MARI JA PHUDDYE

MARI JA"[2]

Significance:- Certain wine is purified by chanting these mantras with an interpretation to terminate the creepy-crawlies from the plant life.

SECTION 6: FOLK-MEDICINE IN CHAKMAS

Indigenous medication process is an essential aspect of the Chakma community. Folk medicine is an ancient and customary means to the remedy of diseases of any ethnic group of peoples. It stands for an inclusive variety of thing which are largely based on herbs and animals substances. The village folk practice it in a conplete faith, as it takes the result in practical sense by their communal minds through the eternities. But they also rejoinders instantly in some superstitious beliefs and habits, such as magic, rituals, mantras and forecasting for remedial means of sicknesses. Like other aboriginal people, the Chakmas also use such folk-medicine with ample devotion and magic-religious performed by them as cited above. EXcept of these two means of medication procss, the Chakmas also exercise a native sort of rehabilitation for healing the patients.

In the context, in Chakma society all manners of folk-medicinal

---

1. *Ibid,* p. 171.
2. *Ibid,* p. 172-73.

customary treatments are prepared by specific expert person who is known as *'Boidya'*[1], The *Boidya* take care all the responsibilities, corresponding by means of herbals folk-medicines, magico-religious deeds or physiotherapy treatments by way of them practice of sense control in curing the patients. They are also regarded the most sagacious men, as because they practice some kind of occultism. They keep a gigantic stock of Handbooks of Folk medicine which has been acknowledged in *'Tallik Shastras'*. These records are written in Chakma character and intended with various vague marks (the *Aug* in Chakma dialectal). Chakmas treatment process also includes mantras, different sacrificing activities, the technique of physiotherapy and Yoda. These ample scriptures, in involving to the folk-medicine of Chakma society are known as *'Boidyaliputhi'*.

The Chakmas mostly supposed that hare are countless evil-spirits who become annoyed to a person for which the sickness effects upon him. Because of the *Boidhyas* prefer to prescribe pujas or sacrificing rituals to appease the evil spirits. Diseases like Cholera, plague, small pox or such kind of widespread sicknesses are credited to celestial anger. For curative of such diseases the *Boidhyas* set some aids, ceremonials, sacrifices, pujas, mantras or superior prayers to pacify the anger of the evil spirits.

The physiotherapy is more systematic than the magio-religious cure. This technique is practiced regularly by the *Boidhyas.* In this concern, it is worthy to mention here that various elderly women who predominantly deal with the motherhood or delivery case and recognized as *'Ajha'* in Chakma society, they apply this method to the patient of pregnant woman, Another treatment is healing the patient by giving cold water bath for curing fever. This treatment is known as *'Sinan'* in Chakma language.

Moreover, the *Boidyas* go for the method of treatment by inspecting the pulse of the patient. And it is remarkable that to have this knowledge the *Boidyas* have to go through the manuscript called *'Yug-Kalam'*[2] which deals with only the matter of human body and its pulse. This process is actual tough one. It is virtually significant to the theme of *'Kaya Sahan'* of Buddhist Tantricism.

Some medication process that prevail in Chakma society:

---

1. *Ibid,* p. 203.
2. *Ibid,* p. 208.

1. Headache: (a) *Bongal* (a wild plant) leaves are crushed and applied outwardly on the head. (b) *Lajuri Kher (mimosa pudica)* is bubbled and applied on the head. (c) *Chidirabeishak* (a small herbal plat) and *Todekgilshak*[2] *(hydrocdyle)* leaves are crushed and applied on the head.

2. Fever: (a) *Marech-Shak* (an edible plant) and *Beishak* (a small plant) roots are crushed taken orally. (b) *Sherakala* (a wild banana plant) juice is taken orally.

3. Burn: (a) Oil of chicken is applied. (b) The yolk of eggs to be used.

4. Bleeding: (a) *Sudhoma* (a small plant) leaves are grounded and applied externally. (b) *Miyo* (a wild plant) flower is to be burn and the asses is applied (c) the yound leaves of *Muguja* (a wild plant) and the saliva are mixed and used externally.

5. Tooth ache: (a) *Jujube* and *garjon* (a wild tree) barks are boiled and gargling with the juice are done.

6. Weak eye sight: (a) the jelly substance of snail to be used in the eye externally. (b) To prevent eye disease the year's first hail is put on the eye.

7. Stomach pain: (a) Ginger and honey are mixed and taken orally. (b) *ketranga*[1] (a small herbal plant) leaves are cursched and taken orally. (c) *Thandamanek,*[2] (a tuber) is boiled and taken orally.

8. Urinal Track infection: The root of flax plant is boiled and taken orally.

9. Catarrah: *Basaka* (a small plant) leaves are taken.

10. Dog bite: (a) Boiled Papya need to take as a medicine (orally) without oil. (b) The egg shell is pasted and then used externally on the worn place. (c) *Moli* (a kind of tablet used for fermentation in the preparation of wine) is pasted and used exernally.

11. Measles: *Sugar Amila* (a wild creeper) is taken orally.

12. Bone fracture: The complete bones of a chicken are pasted and used externally.

---

2. *Ibid,* p. 204.
1. *Ibid,* p. 204.
2. *Ibid,* p. 204.

These are the list of diseases with their herbal medications that the *Boidya* prescribed to cure a person.

Thus we find that, Chakmas worship various Gods and Goddesses, which are based on different factors of their daily life, such as, for good sowing and harvest, to protect themselves from a number of serious diseases, propitiation of evil forces, facing high rain and drought, satisfaction of the deceased and soul, observance of different seasons or dates, welfare of the society or of a new-born baby, etc. Here , we find the clear influence of *Atharvaveda.* In the folklore of the Chakmas, the existence of an evil spirit called *Poyā* has discussed who brings diseases to the society and the people. They worship this spirit to appease it, in which flowers, fruits, sweets and rice, etc. are offered. They have the belief that diseases can be cured through pujas. The influences of Tantric rites and magic spells mentioned in the *Atharvaveda* are found in the Chakma societies. Magic plays a great role in the life of the Chakmas.

In the *Atharvaveda,* many rituals are mentioned, namely, *Garbhadhāna, pumsavana, Sīmantonnayana, Vivaha, Jātakarma, Nāmakaraṇa, Anaprāśana, Godāna, Cūḍākaraṇa* and *Upanayana*, which are related to the different stages of life in which specific rituals have to be performed. We find the influences of these rituals in different forms in the Chakma community of Tripura even today[1].

SECTION 7: CONCLUSION

At the current platform we are aware about the fact that religious life, no doubt, have a social dimension which form a man's life and have a vital role in the society. The tribes of Tripura contribute to the ecological richness and have a foundness to the wildlife deities, spirits, and ancestors to carry on fight for survival. The ancestral religion of Tripura is basically polytheistic and is the deities are worshiped in Pujas and festivals together at the household level and collective levels. The ethnic culture is linked to religion. It is expressed through their music; dance, sculpture, crafts and literature which are originated manifestation through spiritual rites and rituals. So, now in Tripura, tribal people go together through cultural uniqueness and religious distinctiveness. The belief of the tribal folks of Tripura is, to certain extent is a merger of diverse pious priciples and performance,

---

1. Debbarma, Suren. *Tripurar Adibasi Jeevan O Sanskriti*, Agartala: Akshar Publication, 1997.

such as animism, totemism, Shamanism, magic, fertility cult, and ancestor worship and Brahmanism or Buddhism etc.

Bibliography

1. Bhattacharjee, Priyabrata *Tribal Pujas and Festivals in Tripura.* Tripura State Tribal Cultural Research Institute and Museum, Agartala, 1994.

2. Bhowmik, Dr. Dwijendralal. *Tribal Religion of Tripura: A Socio-Religious Analysis.* Agartala: Tribal Research Institue, Govt. of Tripura, 2003.

3. Chakma, Niranjan, *Chakma Bhasa O Sanskriti Prasanga,* Agartala, 1989.

4. Chakma, Sugata. *Chakma Parichiti.* Bangladesh: Rangamati, 1985.

5 Chatterjee, S.K. *Origin and Development of Bengali Language.* Calcutta Reprint, 1975.

6. Choudhury, Dr. Dulal. *Shabder Dik Darshan,* Satyayug, 1984.

7. Debbarma, Suren. *Tripurar Adibasi Jeevan O Sanskriti,* Agartala: Akshar Publication, 1997.

8. Dev Varman. S.B.K. *The Tribes of Tripura- A Dissertation.* Agartala: Tribal Research & Cultural Institute, Govt. of Tripura, 2012.

9. Goswami, Bijan Behari. *Atharvaveda Samhita.* Calcutta: Haraf Prakashani, 2000.

10. Majumdar, Pannalal. *The Chakmas of Tripura.* Atartala: Tribal Research & Cultural Institute, Govt. of Tripura, 2013.

11. Palit, Projit Kumar, *History of Religion in Tripura.* New Delhi: Kaveri Books, 2004.

12. Talukdar, S.P. *The Chakmas: Life and Struggle,* New Delhi: Gyan Publishing House, 1988.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

शाकुन्तलोपाख्यानस्य साम्प्रतिकसमाजानुगुणत्वम्

-डॉ. रत्नमोहनझाः

सहायकाचार्यः, दूरस्थशिक्षा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

[साहित्ये उपाख्यानस्य अधिकं महत्त्वं विद्यते। उपख्यानं मूलकथां परिपोषयति। अस्मिन् लेखे शकुन्तलोपाख्यानस्य वैशिष्ट्यं साम्प्रतिके समाजे तस्य कीदृशः प्रभावः इति सूपत् निरुपितः।]

मानवमनसि स्थितस्य शाश्वतशिशुभावस्य स्वाभाविकजिज्ञासा आख्यानोपाख्यानानामुत्प्रेरिका। मानवस्य कौतूहलमेव आख्यानमजनयत् इति प्रतिभाति। विश्वस्मिन् विश्वे विद्यमानः समग्रोऽपि साहित्यलोकः विभिन्नाख्यानोपाख्यानभरितः। यस्मिन् समाजे काचित् लिपिः नास्ति, किञ्चित् साहित्यं नास्ति तस्मिन् अपि कथाकोविद-ग्रामवृद्धानां मुखे आख्यानोपाख्यानानामक्षयभाण्डागारं समुपलभ्यते। कालान्तरे चेदं लोकसाहित्ययोः प्राणाधायकं शृङ्गारसंवर्धकं च तत्त्वं सञ्जायते। निश्चप्रचमिदं वक्तुं शक्येत यत् लोकाख्यानानां समृद्ध्याकर्षणाभ्यामेव आद्याख्यानस्रष्टा आकृष्टोऽभूत्। लोकाख्यानसाहित्ये चराचरजीवनस्य सर्वाङ्गानि चित्रितानि सन्ति। विषयस्यास्य पुष्टिः 'दीघनिकाय'स्य[1] ब्रह्मजालसुत्ते वर्णितकथाभेदैरपि भवति।

आख्यानेषु विविधप्रकारकानि अस्माकं जीवनमूल्यानि सन्निहितानि सन्ति। अत्र सुप्रसिद्धस्य शाकुन्तलोपाख्यानस्य साम्प्रतिकसमाजानुगुणत्वस्य परिशीलनं विधीयते। एतदर्थं सर्वादौ आख्यानोपाख्यानयोः ऐतिह्यमवलोकनीयम्।

'व्यक्तायां वाचि' इत्यर्थे 'चक्षिङ्' धातुना निष्पन्नं भवति आख्यानम्। 'चक्षिङ्' इत्यस्यादेशो भवति 'ख्यान्' इति। तदनु 'आ' उपसर्गपूर्वकं 'ख्या' धातुना सह 'ल्युट्'(अन्) प्रत्यययोगेन 'आख्यानम्' निष्पद्यते।[2] आख्यायते अनेनेति आख्यानम्।[3]

---

1. दीघनिकाय - 1.8 तत्र वर्णिताः 26 कथाः
2. अष्टाध्यायी - 2.4.54
3. वाचस्पत्यम् - तारानाथः, पृ. 613

पाणिनेः अष्टाध्याय्याम् अर्थद्वये आख्यानशब्दः प्रयुक्तः- प्रतिवचनार्थे इतिवृत्तकथनार्थे च-

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।[1]

जैनाचार्यः हेमचन्द्रः एकस्मिन् काले एकेन जनेन प्रोक्तां कथाम् आख्यानत्वेन मनुते-

आख्यानसंज्ञा तल्लभते यदाभिनयन् पठन् गायन्।
ग्रन्थिकः एकः कथयति गोविन्दवद् अवहिते सदसि।।[2]

साहित्यदर्पणकारः कथयति- 'आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः'[3] इति। तदनुसारेण पुरावृत्तकथनं ऐतिहासिकं पौराणिकं वा कथनम् 'आख्यानम्' इत्युच्यते।

भारतीयवाङ्मये सर्वादौ ऋग्वेदसंहितायाम् आख्यानस्य सत्ता समुपलभ्यते। तेषु कानिचन आख्यानानि देवताविशेषमवलम्ब्य कानिचन च सामूहिकघटनामभिलक्ष्य वर्तन्ते। ऋग्वेदस्य अनेकेष्वाख्यानेषु इन्द्रस्य अश्विनस्य इतरेषां च देवानां वीरता पराक्रमः तेषामुपकारभावनाश्च विस्तरेण वर्णिताः सन्ति। ऋग्वेदे प्रायेण 30 आख्यानानां सुस्पष्टम् उल्लेखः प्राप्यते। तेषु शुनःशेपाख्यानम् अगस्त्यलोपामुद्राख्यानं वशिष्ठ-विश्वामित्राख्यानं नहुषाख्यानम् अपालाख्यानं सरमापण्याख्यानम् उर्वशीपुरुरवाख्यानं नचिकेताख्यानम् इत्यादीनि अतिप्रसिद्धानि वर्तन्ते। एतान्यतिरिच्य स्तुतिष्वपि केषाञ्चन आख्यानानां सङ्केतः प्राप्यते।

ऋग्वेदातिरिक्तेषु विभिन्नेषु वैदिकग्रन्थेष्वपि आख्यानानां विवरणं लभ्यते। ऋग्वेदसम्बद्धानुक्रमणीसाहित्ये विशेषतः बृहद्देवतायां सर्वानुक्रमण्यां च, निरुक्ते नीतिमञ्जर्यां सायणभाष्ये च एतेषामाख्यानानां विस्तृतघटनानामपि वर्णनं विद्यते। आख्यानानि पुराणेष्वपि वर्णितानि सन्ति, परन्तु एषां घटनासु क्वचित् ह्रासः क्वचिच्च परिबृंहणं दृष्टिपथमायाति। ब्राह्मणग्रन्थाः श्रौतसूत्राणि चापि आख्यानस्य विकासपरम्परां प्रस्तुवन्ति। तद्यथा[4] ऋग्वेदे अनेकेषु सूक्तेषु सङ्केतितः सोभरि-कन्वाख्यानं

---

1. अष्टाध्यायी - 2.4.90
2. काव्यानुशासनम्, हेमचन्द्रः-अ. 8, पृ. 339
3. साहि. दर्पणः - 6 परि.
4. ऋग्वेदे - 9.19-22
5. श्रीमद्भागवते - 9.6.38-355
6. ऋग्वेदे - 5.61

श्रीमद्भागवते[5] विस्तरेण वर्णितं विद्यते। ऋग्वेद[6] उल्लिखितं श्यावाश्व-आत्रेयाख्यानं साङ्ख्यायनश्रौतसूत्रे[1] अपि निर्दिष्टं वर्तते। ऋग्वेदे[2] अनेकेषु सूक्तेषु निगदितं च्यवनभार्गव-सुकन्यामानवी इत्यनयोः आख्यानं तांड्यब्राह्मणे[3] निरुक्ते[4] शतपथब्राह्मणे[5] श्रीमद्भागवतमहापुराणे[6] च विस्तरेण प्रकाशितं वर्तते। ऐतरेयब्राह्मणे देवतानां कृते सोमानयनोद्देश्येन छन्दः खगस्य रूपं धृतवान्। इदं सौपर्णाख्यानमुच्यते-

'ते सुपर्णा भूत्वोदपतंस्ते यत्सुपर्णा भूत्वोद पतस्तदेतत् सौपर्णमित्याख्यानविद आचक्षते'[7]

पुराकाले सौपर्णाख्यानश्रवणस्य महत्प्रचलनमासीत्। शतपथब्राह्मणे आख्यानार्थे व्याख्यानपदं प्रयुक्तम्।[8]

विश्वसाहित्ये भारतीयाख्यानसाहित्यस्य अत्यन्तं महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। आख्यानसाहित्यस्य मौलिकता रचनानैपुण्यं विश्वव्यापकप्रभावश्च संस्कृताख्यानानु-शीलनाय निरन्तरमस्मान् प्रेरयति। एषु आख्यानेषु विशुद्धकाल्पनिकलोकस्य चित्रणं वर्तते। एतेषु क्वचित् कुतूहलः क्वचित् घटनायाः प्रस्तुतीकरणं क्वचित् हास्यविनोदः क्वचित् गम्भीरोपदेशः क्वचिच्च सरसकाव्यस्य मधुरास्वादनं विद्यते। पाश्चात्याः विद्वान्सोऽपि अस्माकमाख्यानसाहित्यस्य मौलिकतां मनोरञ्जकतां च मुक्तकण्ठेन प्राशंसन्।

आचार्येण कपिलदेवद्विवेदिना समग्रं संस्कृताख्यानसाहित्यं स्वरूपदृष्ट्या मुख्यतया चतुर्षु भागेषु विभक्तम्- अद्भुतकथा, लोककथा, कल्पितकथा, पशुकथा चेति।[9]

आख्यानानां विकासस्य विपुला सामग्री रामायणे महाभारते पुराणेषु च अतीव रुचिरया शैल्या विस्तरेण च समुपलभ्यते। वाल्मीकिरामायणे सम्पूर्णा रामकथा आख्यानसंज्ञयापि अभिधीयते।

---

1. सांख्यायनश्रौतसू. - 16.11.9
2. ऋग्वेदे - 1.16-118, 10.39
3. ताण्डब्राह्मणे - 14.6.11
4 निरुक्ते - 4.19
5. शतपथब्रा. - 4 काण्डे
6. श्रीमद्भागवते - 9.3
7. ऐतरेयब्रा. - 3.13.1
8. शतपथब्रा. - 3.6.2.7
9. सं. साहि. का समीक्षात्मक इति.कपिलदेव द्विवेदी - पृ. 571

'आश्चर्यमिदमाख्यानां मुनिना सम्प्रकीर्तितम्'[1]

'एवमेतत् पुरावृत्तम् आख्यानं भद्रमस्तु वः'[2]

महाभारते कथातत्त्वप्रधानाः ऐतिहासिकघटनाः इतिवृत्तात्मकानि च वर्णनानि आख्यानसंज्ञया अभिहितानि। आख्यानेष्वन्तर्भूताः लघुकथाः 'उपाख्यान' संज्ञया अभिहितानि वर्तन्ते। आख्यानोपाख्यानयोर्विषये विद्वत्सु मतवैविध्यं दृश्यते। श्रीधरस्वामिना उक्तम्–

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥[3]

स्थूलतया इदं वक्तुं शक्यते यत् आख्यानस्य सहायको भवति उपाख्यानम्। यतः तेनैव पूर्णतां प्रति नीयते आख्यानम्। बृहदाख्यानस्य वर्णनं सुदीर्घं भवति। तत्र श्रोता जामितां नानुभवेदित्येतदर्थं मध्ये मध्ये मन्ये उपाख्यानस्य सन्निवेशः कृतः स्यात्।

उत्तरवैदिकसाहित्ये आख्यानविधया सह आख्यायिकाया उल्लेखोऽपि प्राप्यते। पाणिनेः 'अधिकृत्यकृतेग्रन्थे' सूत्रमधिकृत्य कात्यायनस्य वार्तिके पदमिदं दृश्यते– 'लुब्धाख्यायिकाभ्यो बहुलम्'।[4] वार्तिकस्यास्य उदाहरणत्वेन महाभाष्येऽपि लभ्यते– 'वासवदत्तामधिकृत्य कृता आख्यायिका वासवदत्ता, सुमनोत्तरामधिकृत्य कृता आख्यायिका सुमनोत्तरा' इति। वार्तिककारात् कात्यायनात् (ई.पू. 300) प्रागेव आख्यान–आख्यायिका–इतिहास–पुराणानानि सुप्रतिष्ठितान्यासन्। सः 'कृतूक्थादि–सूत्रान्तात्ठक्'[5] इति पाणिनिसूत्रमधिकृत्य वार्तिकमलिखत्– 'आख्यानाख्यायिकेतिहास–पुराणेभ्यश्च' इति।

आख्यायिकायाः प्रथमोल्लेखः तैत्तरीयारण्यके प्राप्यते। इतिहासपुराणयोः चर्चा सर्वादौ अथर्वसंहितायां[6] तदनु शतपथब्राह्मणे[7] गोपथब्राह्मणे[8] चोपलभ्यते। शतपथब्राह्मणे[9]

---

1. वा. रामा., बालका. – 4.23
2. वा. रामा., युद्धका. –131.122
3. पुराणविमर्शः, बलदेवोपाध्यायः – पृ. 66
4. अष्टाध्यायी – 4.3.87
5. तत्रैव – 4.2.60
6. अथर्वसं. – 15.16.4
7. शतपथब्रा. – 13.3.4.12
8. गोपथब्रा. – 1.10
9. शतपथब्रा. – 13.4.12.13

एकत्र एव इतिहासपुराणे पञ्चमवेदत्वेन वर्णिते। ओल्डनवर्गस्य मतानुसारेण आख्यानस्य स्वरूपं गद्यपद्यमिश्रितं भवति।[1]

साहित्यं निरन्तरं गतिशीलं भवति। युगानुरूपं तस्य विधासु परिवर्तनं परिवर्धनं संशोधनं परिष्कारश्च प्रवर्तते। तदनुसारेणैव लक्षणादिकं निर्धायते। काव्यशास्त्रिणः आनन्दवर्धनाद्याचार्याः आख्यानम्, उपाख्यानम्, निदर्शना, प्रवह्लिकः, मन्थुल्ली, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, बृहत्कथा इति नैकाः विधाः पर्यगणयन्। भोजसदृशाः आचार्याः विस्तरेण एषां सोदाहरणं लक्षणमपि प्रास्तुवन्।

महाभारते प्रायेण मुख्यरूपेण 67 उपाख्यानानि वर्तन्ते। तद्यथा- शकुन्तलोपाख्यानम्, ययात्योपाख्यानम्, महाभिषोपाख्यानम्, अणिमाण्डव्योपाख्यानम्, व्युषिताश्वोपाख्यानम्, तपत्युपाख्यानम्, वशिष्ठोपाख्यानम्, और्वोपाख्यानम्, पञ्चेन्द्रोपाख्यानम्, सुन्दोपसुन्दोपाख्यानम्, सारङ्गकोपाख्यानम्, सौभवधोपाख्यानम्, नलोपाख्यानम्, अगस्त्योपाख्यानम्, ऋष्यशृङ्गोपाख्यानम्, कार्तवीर्योपाख्यानम्, सुकन्योपाख्यानम् इत्यादीनि।

भारतीये वाङ्मये शाकुन्तलोपाख्यानस्य वर्णनं प्रमुखतया त्रिषु स्थानेषु प्राप्यते- महाभारते पद्मपुराणे अभिज्ञानशाकुन्तले च। एतेषु पौर्वापर्यचिन्तनेन ज्ञायते यत् शाकुन्तलोपाख्यानं सर्वप्रथमं महाभारतस्य आदिपर्वणः सम्भवपर्वणि भगवता व्यासेन निरूपितम्। ततः कथानकमिदं स्वीकृत्य महाकविकालिदासः अभिज्ञानशाकुन्तलमित्यस्य नाटकस्य रचनामकरोत्। तदनन्तरं पद्मपुराणकारः कञ्चन अंशं महाभारतात् कञ्चन अंशं अभिज्ञानशाकुन्तलाच्च स्वीकृत्य पद्मपुराणे न्यरूपयदिति भाति। उपाख्यानेस्मिन् सामाजिकमूल्यस्य परिशीलनार्थं महाभारते पद्मपुराणे अभिज्ञानशाकुन्तले च निरूपितस्य कथानकस्य संक्षेपेण सन्दर्शनमपेक्षितं प्रतिभाति।

महाभारते महर्षिणा वेदव्यासेन आदिपर्वणः सम्भवपर्वणि एकोनसप्ततितमादध्यायात् चतुस्सप्ततितममध्यायं यावत् शकुन्तलावृत्तान्तं निरूपितम्। महर्षिः वैशम्पायनः उपर्युक्तेषु षट्सु अध्यायेषु दशाधिकेषु त्रिशते श्लोकेषु शकुन्तलायाः भरतस्य चोत्पत्तिं, दुष्यन्तेन तयोः प्राप्तिप्रसङ्गं च जनमेजयं श्रावयति। जनमेजयः वैशम्पायनमुद्दिश्य कथयति -

सम्भवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥

दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन् विस्तरं त्वहम्॥[2]

1. वैदिकइण्डैक्स, भा.-1, पृ.77
2. महाभा., आदिपर्व - 69.1-2

एकोनसप्ततितमे अध्याये दुष्यन्तस्य मृगयाविहारः वर्णितः। एकदा चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्तः मृगयाविहारप्रसङ्गे मालिनीनदीमुभयतः विद्यमानम् अत्यन्तं सुरम्यम् उपवनं प्राप्नोति। तत्र कण्वाश्रमं विलोक्य स्वीयं किरीटं राजचिह्नानि च अवतार्य सैनिकान् च बहिरेव संस्थाप्य स्वयं कुलपतिं कण्वं मेलितुं तदाश्रमम् प्रविष्टः-

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम्।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम॥[1]

मुनेः अनुपस्थितौ तस्य पोष्यपुत्री शकुन्तला राज्ञः सत्कारं विदधाति। सा कथयति यत् हे अभ्यागत! मम पिता फलमानेतुम् आश्रमात् बहिः गतः, तस्मात् किञ्चित् प्रतीक्षां करोतु। शकुन्तलायाः अपूर्वं सौन्दर्यं विलोक्य इलिलपुत्रस्य दुष्यन्तस्य मनसि कामभावना अङ्कुरति। अत एव सः तस्याः परिचयं ज्ञातुमिच्छति-

दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शेभने॥[2]

दुष्यन्तस्य जिज्ञासां श्रुत्वा शकुन्तला स्वीयमुत्पत्तिवृत्तान्तं श्रावयति। सा च क्षत्रियकन्या इति सम्यगवगत्य दुष्यन्तः तस्याम् अनुरागम् अभिव्यज्य विविधैः प्रलोभनैः विवाहप्रस्तावमुपस्थापयति-

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने॥

आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च।
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने॥[3]

शकुन्तला प्रस्तावमेनं श्रुत्वा कथयति यत् मम पिता एव मद्विषये निर्णयं स्वीकरिष्यति। अतः भवान् सन्दर्भेऽस्मिन् तत्समीपे एव निवेदयतु। परन्तु दुष्यन्तस्य हठं विज्ञाय तत्पुरतः सा स्वीयं प्रतिप्रस्तावमुपस्थापयति। अत्यन्तं कौशलेन सा सूचयति यत् हे महाराज! भवदनन्तरम् आवयोः पुत्रः एव युवराजः भवेदिति-

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः।
मयि जायेत् यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः॥

युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया॥[4]

---

1. तत्रैव - 70.33
2. तत्रैव - 71.13
3. तत्रैव - 73.2-3
4. तत्रैव - 73.16-17

दुष्यन्तः शकुन्तलायै प्रतिश्रुतिं प्रदाय गान्धर्वविधिना परिणयमकरोत्। तस्य सहवासेन शकुन्तला गर्भवती भवति। दुष्यन्तः किञ्चित् कालम् आश्रमे स्थित्वा तस्यै राजभवनमानयनस्य आश्वासनं च प्रदाय स्वयं हस्तिनापुरं समायाति।

राज्ञः निर्गमनानन्तरं महर्षिः आश्रममागत्य तपोबलेन दुष्यन्तेन सह शकुन्तलायाः गान्धर्वविवाहस्य सर्वं वृत्तान्तमवगत्य स्वीयां स्वीकृतिं प्रयच्छति। ततः वर्षत्रयानन्तरं शकुन्तला एकं पुत्रं प्रसूति। कण्वमहर्षिः विधिपुरस्सरं तस्य जातकर्मादिसंस्कारं विदधाति। षट्सु वर्षेष्वेव तस्मिन् बालके विशिष्टं बलं अद्भुतश्च पराक्रमः समायातः। सः सिंहशावकैः सह क्रीडतिस्म, तेषां च दन्तान् गणयतिस्म। वन्यपशून् बलादाकृष्य वृक्षेषु बध्नातिस्म। बालस्याद्भुतं पराक्रममवलोक्य ऋषिणा तस्य नामकरणं सर्वदमनमिति कृतम्। इत्थं परिणयानन्तरं नववर्षाणि यावत् शकुन्तला तपोवने न्यवसत्। तदनन्तरम् औचित्यं विचार्य महर्षिः कण्वः तपस्विभिस्सह सपुत्रां तां हस्तिनापुरं प्रैषयत्।

दुष्यन्तसमीपं समागत्य शकुन्तला आश्रमस्य सम्पूर्णं वृत्तान्तं श्रावयति। सा कथयति यत् हे राजन्! देवोपमः एषः कुमारः मम गर्भात् समुत्पन्नः भवदीयः पुत्रः वर्तते। एतदर्थं भवता प्रतिश्रुतिः प्रदत्ता विद्यते–

अयं पुत्रस्त्वया राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यताम्।
त्वया ह्ययं सुतो राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः।
यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तमः॥[1]

परन्तु राजा ताम् अभिज्ञाय अपि ब्रवीति यदहं त्वां नैव परिचिनोमि। त्वं स्वतन्त्रा असि। तस्मात् यथेच्छं यत्रकुत्रापि गच्छ। त्वया सह मम न कोपि सम्बन्धो वर्तते–

धर्मार्थकामसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत् कुरु॥[2]

दुष्यन्तस्य वचनं श्रुत्वा शकुन्तला निरुत्तरा सञ्जाता। सा सत्यस्य धर्मस्य भार्यायाः पुत्रस्य च बहुविधं बहुप्रकारैश्च माहात्म्यं तं बोधयति परञ्च साक्ष्याभावात् सः नैकमपि शृणोति। अन्ततः अनन्यगतिका सा गन्तुमुद्यता भवति। तदानीमेव आकाशवाणी भवति–

---

1. तत्रैव – 74.17
2. तत्रैव – 74.20

'भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम्'[1]

'त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला'[2]

एनामाकाशवाणीं श्रुत्वा राजा पुरोहितैः मन्त्रिभिश्च सह परामृश्य शकुन्तलां राजमहिषीपदे सर्वदमनस्य च भरत इति नामकरणं विधाय तं युवराजपदे प्रतिष्ठापयति–

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत्।।[3]

पद्मपुराणे शाकुन्तलोपाख्यानम्

पुराणानि भारतीयसाहित्यस्य गौरवभूतानि वर्तन्ते। वैदिककालादेव विद्याविशेषत्वेन पुराणशब्दः श्रूयते। भारतीयाख्यानानां विशालः विश्वकोषः वर्तते पुराणम्। तत्र आख्यानानां विविधानि रूपाणि लभ्यन्ते। पुराणे आख्यानानां परिधौ भारतीयसमाजस्य धार्मिक–सामाजिक–आर्थिक–नैतिक–राजनैतिक–क्षेत्राणि वर्तन्ते। विभिन्नरुचयः पाठकाः स्वानुगुणं किमपि अवश्यं प्राप्नुवन्ति।

तेषु अष्टादशषु पुराणेषु पद्मपुराणस्य स्थानम् अत्यन्तमुत्कृष्टं वर्तते। प्रायशः सर्वाणि पुराणानि पद्मपुराणं क्रमदृष्ट्या द्वितीयं मन्यन्ते। केवलं देवीभागवतपुराणमेनं चतुर्दशं स्वीकरोति। पुराणेऽस्मिन् न केवलं नारायणस्य नाभिकमलादुद्भूतेन ब्रह्मणा कृतायाः सृष्टेरेव वर्णनं विद्यते अपितु वेदप्रतिपादितायाः दशविद्याया अपि विशदं वर्णनं विद्यते। अतः पुराणमिदं वैष्णवजगति अत्यन्तम् आदृयते। पुराणमिदं पुराणशरीरिणो विराडब्रह्मणो हृदयमुच्यते–

ब्राह्मं मूर्धा हरेरेव हृदयं पद्मसंज्ञितम्।[4]

पुराणस्यास्य कलेवरमपि सुमहदस्ति। नारदीयपुराणानुसारेण यथा मानवः पञ्चेन्द्रियो भवति तथैवेदं पुराणमपि पञ्च खण्डात्मकमस्ति–

यथा पञ्चेन्द्रियः सर्वः शरीरीति निगद्यते।
तथेदं पञ्चभिः खण्डैरुदितं पापनाशनम्।।[5]

स्वयं पद्मपुराणमपि आत्मानं पञ्चखण्डात्मकं कथयति। तेषु पञ्चखण्डेषु आहत्य पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणि श्लोकाः विद्यन्ते–

---

1. तत्रैव – 74.111
2. तत्रैव – 74.112
3. तत्रैव – 74.126
4. पद्मपुरा., स्वर्गखण्डे – 62.22
5. नारदपुरा. – 92.2

पाद्मं तत् पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह पठ्यते।
पञ्चभिः पर्वभिः प्रोक्तं संक्षेपाद् व्यासकारितात्।।[1]

तत्र च सृष्टि-भूमि-स्वर्ग-पाताल-उत्तरखण्डास्सन्ति-

प्रथमं सृष्टिखण्डं हि भूमिखण्डं द्वितीयकम्।
तृतीयं स्वर्गखण्डं च पातालं तु चतुर्थकम्।।
पञ्चमं चोत्तरं खण्डं सर्वपापप्रणाशनम्।।[2]

पद्मपुराणस्य तृतीये स्वर्गखण्डे शाकुन्तलोपाख्यानं वर्णितं विद्यते। पुराणेस्मिन् राज्ञः दुष्यन्तस्य गान्धर्वविवाहपर्यन्ता कथा महाभारतस्य साम्यं भजते। परन्तु क्वचित् भदोऽपि दृश्यते। महाभारते शकुन्तलायाः जन्मवृत्तान्तं सा स्वयं कथयति परन्तु अत्र दुष्यन्ताय वृत्तान्तमिदं तस्याः सखी प्रियंवदा श्रावयति। राजा आश्रमाच्च गमनसमये शकुन्तलायै स्वीयम् अंगुलीयकं प्रयच्छति। शकुन्तला परिणयानन्तरं गर्भावस्थायाः सप्त मासान् यावत् कण्वाश्रमे तिष्ठति। तदनन्तरं हस्तिनापुरगमनसमये तया सह शार्ङ्गरवः शारद्वतः गौतमी प्रियंवदा च गच्छन्ति। मार्गे सरस्वतीनद्यां स्नानसमये शकुन्तला अंगुलीयकं प्रियंवदायै ददाति। तच्च प्रियंवदायाः हस्तात् पतति। किन्तु भयेन सा नैव प्रकटयति। शकुन्तला अपि तद्विस्मरति, अतः प्रियंवदां न पृच्छति। दुष्यन्तः यदा शकुन्तलां निराकरोति तदा तस्मै अभिज्ञानप्रदर्शनार्थं सा प्रियंवदायाः अंगुलीयकं याचते। तदनु प्रियंवदा शकुन्तलायाः कर्णे कथयति यत् अंगुलीयकं नद्यां पतितमिति। वार्तामिमां श्रुत्वा शकुन्तला मूर्च्छति। ततः परं पद्मपुराणस्य कथानकम् अभिज्ञानशाकुन्तलस्य कथानकेन सह साम्यं भजते।

कालिदासस्य अभिज्ञानशाकुन्तलम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम् इत्यत्र पदद्वयं विद्यते अभिज्ञानं शाकुन्तलं चेति। अभिज्ञायतेऽनेनेति अभिज्ञानं, शकुन्तलाया इदं शाकुन्तलम्। अर्थात् अभिज्ञानेन स्मृतं शकुन्तलाविषयकं वृत्तान्तं यस्मिन् तत् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। आदिकविः महर्षिवाल्मीकिः अपि अभिज्ञानपदस्य प्रयोगम् अस्मिन् अर्थे अकरोत्। सुन्दरकाण्डे महावीरः हनुमान् सीतामुद्दिश्य कथयति-

अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद् राघवो यतः[3]

पुनश्च सीता हनुमते प्रत्युत्तरति-

---

1. पद्मपुरा., सृष्टिखण्डे - 1.1.59
2. तत्रैव - 1.1.54
3. वा.रामा., सु.का. - 38.10

इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम्[1]

संस्कृतसाहित्योपवने कालिदासः वसन्त इवास्ति। अनेन समग्रोपवनं पुष्पायितम्। अभिज्ञानशाकुन्तले कवेः कौशलं भारतीयसंस्कृतिसौरभसंयोगेन अत्यधिकम् अभिरामम् उत्कृष्टतमं च सञ्जातम्। महाभारतस्य स्वार्थचिन्तनक्षमा लोकव्यवहारनिपुणा आत्मसमर्पणमूल्यज्ञा स्पष्टवादिनी प्रगल्भा युवती शकुन्तला कालिदासस्य अभिज्ञान-शाकुन्तलनाटके लज्जाशीलसम्माननीयकरुणोत्पादकनायिकात्वेन रूपान्तरिता। एवमेव स्वार्थपरायणः राजा दुष्यन्तः यः महाभारते नीत्यनुरोधेन शकुन्तलायाः परिज्ञाने व्याजं विदधाति, सः नाटकेऽस्मिन् विस्मृत्याभिभूतत्वेन चित्रीकृतः। तस्मात् तस्य भर्त्सनं विधातुमपि न शक्यते। अपितु तस्य नैतिकं चरित्रम् अतीव उत्कृष्टं सञ्जातम्। स च परस्त्रीसम्पर्कविमुखः एकः आदर्शः राजा सञ्जातः।

कविवरकालिदासः स्वकीयाभिज्ञानशाकुन्तलस्य कथानकं महाभारतस्य आदिपर्वणि वर्णितात् शाकुन्तलोपाख्यानात् स्व्यकरोत्। अभिज्ञानशाकुन्तलस्य कथानकस्य मूलाधारः महाभारतम् विद्यते। परन्तु महाभारतस्य कथानकेऽस्मिन् स्वीयं प्रातिभं योगदानं विधाय असौ विश्वस्मिन् विश्वे समग्रे साहित्यसंकुले इदं शीर्षस्थाने अस्थापयत्।

अभिज्ञानशाकुन्तले हस्तिनापुरस्य राजा दुष्यन्तः मृगयाविहारसमये कण्वाश्रमं प्राप्नोति। तदाश्रमे स राजा महर्षेः पोष्यपुत्र्याः शकुन्तलायाः अनुपमसौन्दर्यं विलोक्य तस्यामाकृष्टो भवति। तस्याः लोभनीयं सौन्दर्यं विलोक्य विस्मितः राजा कथयति-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[2]

गान्धर्वविधिना च तया सह विवाहं कृत्वा राजधानीप्रत्यागमनसमये सः स्वनामाङ्कितम् अंगुलीयकमेकं दत्वा कथयति यत् मदीयः विश्वासार्हः कश्चन जनः अत्र समागत्य त्वां मत्सकाशं नेष्यतीति।

दुष्यन्तस्य गमनानन्तरं शकुन्तला तस्य चिन्तने एव सततं निमग्ना भवति। एकस्मिन् दिने महर्षिः दुर्वासाः कण्वाश्रमं प्रति समायाति। सः उच्चस्वरेण आकारयति। परन्तु दुष्यन्तचिन्तानिमग्ना सा महर्षेः आगमनं नैव परिलक्षयति। शकुन्तलाम् अतिथिपरिभाविनीं मत्वा स्वस्यावहेलनामनुभूय दुर्वासाः अभिशपति-

---

1. वा.रामा., सु.का. - 38.12
2. अभि.शाकु. - 1.20

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि
सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।[1]

महर्षिः कण्वः शकुन्तलायाः अरिष्टशान्तिं विधाय सोमतीर्थात् आश्रमं समायाति। ततः अग्निशालायाम् आकाशवाण्या विवाहवार्तामवगत्य शकुन्तलां पतिगृहं प्रेषयति। तया सह तापसी गौतमी, ब्रह्मचारिणौ शारङ्गरवशारद्वतौ च यान्ति। महर्षिकण्वोऽपि प्रियम्वदानसूयाभ्यां सह शकुन्तलाशून्यं स्वाश्रमं प्रति परावृत्तः स्नेहप्रवाहाभिभूतस्सन् कथयति–

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।[2]

परन्तु महर्षेः दुर्वाससः शापप्रभावात् राजा शकुन्तलां नैव परिचिनोति। सा यदा राज्ञः अंगुलीयकं प्रर्दश्य आश्रमवृत्तान्तं स्मारयितुमिच्छति तदा ज्ञायते यत् मार्गे शचीतीर्थे वन्दनसमये तत् जले पतितमिति। शकुन्तलया उक्तैः बहुविधतर्कैरपि दुष्यन्तः न समाहितः। सः कथयति यत् आत्मकार्ये निर्वर्तनीनामनृतवाङ्माधुरीभिः विषयिणः आकृष्यन्ते। उड्डयनसामर्थ्यात् प्राक् परभृतः स्वानि अपत्यानि काकैः परिपोषयन्ति। अशिक्षितास्वपि स्त्रीषु परवञ्चनकौशलं प्रसिद्धमेव। अतः वनवास-वर्धितापीयं शकुन्तला स्त्रीभावसुलभं वञ्चनकौशलं जानात्येव। यदि स्त्रीजातौ समुत्पन्नासु शिक्षणं विनैव नैसर्गिकं वञ्चनपटुत्वं दृश्यते तर्हि वाग्व्यवहारकुशलासु मानुषीषु किं वक्तव्यम्–

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
सन्दृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।।[3]

दुष्यन्तेन निराकृता शकुन्तला यदा राजभवनात् बहिरागच्छति तदा तन्मात्रा मेनकया सा तेजोमयमूर्तित्वेन महर्षेः कश्यपस्य किंपुरुषवर्षस्थम् आश्रमं प्रति नीयते। तत्रैव सा पुत्रं सर्वदमनं प्रसूते।

हस्तिनापुरे च एतदभ्यन्तरे कस्यचित् धीवरस्य सकाशे राजपुरुषैः राज्ञः

---

1. तत्रैव – 4.1
2. तत्रैव – 4.21
3. तत्रैव – 5.22

अंगुलीयकं प्राप्यते। धीवरः अंगुलीयकप्राप्तिविषयकं समग्रं वृत्तान्तं प्रामाणिकतया विवृणोति चेदपि तं चौरं मत्वा रक्षकौ दुष्यन्तस्य पुरतः उपस्थापयतः। अंगुलीयकस्य दर्शनमात्रेणैव स राजा शकुन्तलया सह जातं गान्धर्वविवाहं स्मरति। स्मृतशकुन्तलः सः न क्वापि शान्तिं लभते। वसन्तोत्सवं प्रतिषिध्य शकुन्तलावृत्तान्तं भूयो भूयःस्मरन् निन्दंश्चात्मनश्चेष्टितं पश्चात्तापमनुभवन् महता कष्टेन दिवसान् यापयति।

एकदा दानवगणस्य संहारार्थं समागन्तुम् इन्द्रः तस्मै सन्देशं प्रैषयत्। तदनु स राजा अमात्ये राज्यदायित्वं निधाय वासवीयं रथमारुह्य प्रस्थितः–

त्वन्मतिः केवला तावत् परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः॥[1]

देवासुरसंग्रामात् प्रत्यागमनकाले दुष्यन्तः मरीचिनन्दनस्य देवपितुः कश्यपस्य दर्शनलालसया तदाश्रमं याति। तत्र नरपतिः शुभसूचकचिह्नमनुभवन् तापसीभ्यां निषिध्यमानेनाबालसत्वेन बालेन संक्रीडितुं सिंहशिशुं बलादाकृष्य जृम्भस्व सिंह! दन्तांस्ते गणयिष्ये इति वीरोचितैः कृत्यैः औरससुतानुरागेण चाकृष्टो भवति। तापसीभ्यां तद्वृत्तान्तमभिज्ञाय स्वपुत्र एवायमिति जातनिश्चयो बालं प्रेम्णा क्रोडीकरोति। ततः तत्रादतां शकुन्तलां वीक्ष्य क्षमायाचनापुरस्सरं तामभिनन्दति। अनन्तरं सकलत्रपुत्रो राजा भगवन्तं कश्यपं द्रष्टुं समायाति। महर्षिः कश्यपः स्नेहदृष्ट्या शुभाशिषा तौ अनुगृह्णाति–

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव॥[2]

इत्थं पुत्रकलत्राभ्यां सह दुष्यन्तः सानन्दं स्वनगरं प्राप्नोति।

नाटकस्यास्य प्रभावेण एव कालिदासः कविकुलगुरुत्वमवाप्नोदिति कथने अतिशयोक्तिः नैव प्रतिभाति। उपर्युक्ते स्थानत्रयेपि कथायां किञ्चित् साम्यं वैषम्यं च दृश्यते। महाभारते वर्णिताख्याने तादृशाः केचन विषयाः न सन्ति यादृशाः पद्मपुराणे कालिदासस्य नाटके च वर्तन्ते। अपि च रोचकतादृष्टया एषु केन कुतः विषयः स्वीकृतः इत्यत्र मतवैभिन्यं भवितुमर्हति परन्तु आख्यानस्यास्य प्रभावः उत्कृष्टतम इत्यत्र नास्ति कस्यापि संशयलेशमात्रमपि।

उपाख्यानेऽस्मिन् बहवः शाश्वतिकाः विषयाः सन्ति। तेषां मूल्यं न कदापि क्षीयेत। पाश्चात्यसमाजे प्रसृताः विवाहविच्छेद–वृद्धाश्रम–भ्रष्टाचारादयः महद्रोगाः अद्यत्वे भारतीयसमाजमपि व्याप्नुवन्ति। तस्मादिदानीम् शाकुन्तलोपाख्याने निरूपितानि

---

1. तत्रैव – 6.32
2. तत्रैव – 7.28

जीवनमूल्यानि अत्यन्तमुपादेयानि विद्यन्ते। महाभारतस्य कथानके दुष्यन्तः शकुन्तलया सह विवाहार्थं यदा अतीव आग्रहं करोति तदा सा सन्दर्भेऽस्मिन् पित्रा सह वार्तालापं विधातुं कथयति। अनेन भारतीया परम्परा सामाजिकं मूल्यं च प्रकटितं भवति। अस्माकं परम्परायां स्वेच्छाचारिता नैव आदृयते। भारतीयसंस्कृतौ निर्दिष्टानां पुरुषार्थानां साधने गृहस्थाश्रमस्य अत्यन्तं महत्त्वभूतं स्थानं वर्तते। आश्रमस्यास्य मूलं भवतः दम्पतिः। तयोः कस्यापि महत्त्वं न्यूनाधिकं न भवति। अत्र स्त्री भोग्यवस्तुरूपेण न परिगण्यते अपितु पुरुषस्य जीवनसङ्गिनी त्रिवर्गसाधिका च भवति। महाभारते वर्णिते शाकुन्तलोपाख्याने शकुन्तलादुष्यन्तयोः प्रसङ्गे भार्यायाः महत्त्वम् अतीवोत्कृष्टरीत्या प्रतिपादितम् वर्तते–

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥[1]

अस्माकं जीवने सन्ततेः विशिष्टं महत्त्वं विद्यते। वार्धक्ये सन्ततिरेव सहायकः भवति। अत एव भारतीयसंस्कृतौ वृद्धाश्रमस्य नास्ति किमपि स्थानम्। सन्ततिभिः पितरौ गृहे एव सेव्येते। किन्तु अद्यत्वे इदं मूल्यं ह्रासतां गतः। तस्मात् वृद्धाश्रमसंस्कृतिः भारते अपि प्रसरति। अस्य मूल्यस्य संरक्षणे शाकुन्तलोपाख्याने प्रतिपादितं पुत्रस्य महत्त्वम् उपकारकं भवति–

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥[2]

वात्सल्यभावः न केवलं मानवेषु अपितु सर्वेष्वपि जीवेषु भवति। महाभारते शकुन्तलोपाख्याने शकुन्तला दुष्यन्तस्य पुरतः अतीव मार्मिकवचोभिः मानवेतराणां वात्सल्यभावम् उपस्थापयत्–

अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः।
ममाण्डानीति वर्धन्ते कोकिलानपि वायसाः॥

शिशोरालिङ्ग्यमानस्य चन्दनादधिकं भवेत्।[3]

पद्मपुराणे शाकुन्तलोपाख्यानस्य कथानकं परस्परं विरुद्धमानसप्रवृत्तीनां तुमुलसङ्घर्षाश्रितं वर्तते। प्रथमप्रवृत्तौ कामः धर्मश्च। अपरप्रवृत्तौ वासना कर्त्तव्यञ्च।

---

1. महाभा., आदिपर्व – 68.41–42
2. तत्रैव – 74.39
3. तत्रैव – 74.55

आदौ तत्र कामस्य साम्राज्यं अनन्तरञ्च धर्मस्य विजयः। वासनावशीभूतस्य राज्ञः पतनं भवित, परन्तु कर्त्तव्यं प्रति अग्रेसरस्य तस्य पुनरुत्थानमपि भवति। इत्थं समस्तमिदमुपाख्यानं धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि इत्यस्य साक्षात् विग्रहः प्रतिभाति।

आध्यात्मिकदृष्टया चिन्तयामश्चेत् अयमहं भोः इत्येन पूतस्य तपोमयजीवनस्य कृते आह्वानं विधातुं द्वारि समायातः महर्षिः दुर्वासाः अरण्येऽपि अत्यन्तं शुद्धजीवनस्य विलासरहिताचरणस्य तपश्चर्यायाश्च प्रीतकत्वेन वर्तते। अपि च निलीनः चौर इव वृक्षाणां पार्श्वभागात् समायातः दुष्यन्तः विलासितायाः प्रतीकत्वेन वर्तते। शाकुन्तलोपाख्यानस्य कथानके उत्तरोत्तरं परिवर्तनं दृश्यते। अनेन क्रमशः सामाजिकमूल्याभिवृद्धिरेव जायते। नाटकेऽस्मिन् राजा दुष्यन्तः मृगयाविहारसमये स्वयम् अग्रे याति, तस्य सैन्यं च पृष्ठतः त्यक्तं भवति। सः कण्वाश्रमं प्रविश्यापि आत्मानं तदा प्रकटयति यदा राज्ञः साहाय्यमवाप्तुं तपस्विकन्याभिः चर्चा विधीयते।

दुष्यन्तः यद्यपि राजा तथापि आश्रमप्रवेशसमये सः स्वीयं कीरीटादिकं सर्वमपि परित्यजति। अद्यत्वे आश्रमस्थानीयाः एव विद्यासंस्थाः भवन्ति। तस्यां शासकानां व्यवहारः शिष्टः स्यात्। तत्रत्याः मर्यादाः सर्वैरपि अनुपालनीयाः। तत्र अधिकारभावस्य न अपितु कर्त्तव्य भावस्य प्रामुख्यं भवति। इत्थम् अनेके बिन्दवः उपाख्यानेऽस्मिन् तादृशाः सन्ति येषां समाजानुगुणत्वम् अद्यापि वर्तते।

राजानमप्राप्य तत्सैनिकाः आश्रमसमीपमागत्य उत्पातं प्रारभन्ते। तस्मिन् समये राजा शकुन्तलादिभिः सह वार्तालापे संलग्नः आसीत्। सैन्योत्पातं श्रुत्वा ताः कुटीरं यान्ति। दुष्यन्तश्च ताः आश्वास्य स्वयं बहिः गच्छति। अनेन कविना अत्र अत्यन्तं व्यवस्थिततया शकुन्तलायाः शीलं लज्जां मुग्धतां मर्यादां च रक्षितवान्।

समाजे गृहस्थानां सन्ततिमोहः सुप्रथितः एव। परन्तु अरण्यौकसः कुलपतिः वीतरागः महर्षिः कण्वः औरससन्ततिस्नेहेन शकुन्तलायाः अरिष्टशान्तिं विधातुं सोमतीर्थं याति।

साम्प्रतं वनसंरक्षणार्थं बहुप्रकारकाः प्रकल्पाः प्रचाल्यन्ते। मानवाः स्वीयं भविष्यमविचिन्त्य एव वृक्षनाशनं कुर्वन्तः सन्ति। वनसम्पत्सु कीदृशी दृष्टिः अपेक्षिता इति महर्षेः कथनेनावगन्तुं शक्यते–

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥[1]

---

1. अभि.शाकु. – 4.8

भारतीयसमाजे अद्यत्वे परिवारस्य स्थितिः अत्यन्तं चिन्तनीया भाति। पितरौ अतीव स्नेहेन समर्पणेन प्रयत्नपूर्वकं च सन्ततिं पालयन्ति। परन्तु बहुषु गृहेषु पुत्रस्य परिणयानन्तरं स्नुषायाः आगमनेन कलहः प्रारभ्यते, परिवारसदस्यानां सौमनस्यं नश्यति, तस्य कलहस्य च सम्पूर्तिः गृहभञ्जनेन भवति। विकसिताः उच्यमानाः आधुनिकयुवत्यः संयुक्तपरिवारं दूषणत्वेन मन्वते, किन्तु वस्तुतः संयुक्तपरिवारः भारतस्य भूषणत्वेन विद्यते। इयं पारिवारिकी व्यवस्था रक्षणीया चेत् महर्षेः कण्वस्य उपदेशः अवश्यं श्रोतव्यः-

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥[1]

महर्षिः कण्वः तपोवनस्य प्रधानः, निसर्गसुन्दरी शकुन्तला च कुलपतेः पोष्यपुत्री। परन्तु सख्यः तामादिशन्ति-हला, शकुन्तले! गच्छोटज फलमिश्रमर्घ्य-भाजनमुपहर, इदमपि पादोदकं भविष्यति।[2] पुनरपि तस्याः मनसि अहङ्कारस्य लेशमात्रमपि न दृश्यते। आश्रमस्थैः लतापादपपशुपक्षिभिः सह तस्याः सोदरभावः विद्यते। मालिनीनद्याः तटे लतामण्डपे एकान्ते राजा यदा तस्याः अञ्चलं ग्रहीतुमिच्छति तदा सा तं निवारयन्ती कथयति- पौरव! रक्ष, रक्ष विनयम्। कामपीडिताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।[3]

महर्षेः कण्वस्य अनुपस्थितौ आश्रमपदे आगन्तृणां सत्कारस्य सम्पूर्णं दायित्वं शकुन्तलायाः आसीत्। परन्तु दुष्यन्तैकचित्ता अनन्यमानसा सा तपोधनस्यापि आतिथ्यं व्यस्मरत्। यः कोऽपि जनः सामूहिकदायित्वे भवति तस्य वैयक्तिकजीवनस्य तथा प्रामुख्यं न भवति यथा दायित्वस्य भवति। शकुन्तला कर्त्तव्यपरिपालनमत्यजत्। तस्मात् तया कष्टं सोढव्यमापतितम्। तिरस्कारेण शकुन्तला दण्डिता। अत्र अवधातव्यं यत् महर्षिकण्वोऽपि स्वकीयोपेक्षायाः कृते तयोः दण्डनं कर्तुं शक्नोति स्म। परन्तु सः तपोधनः। तस्य तद्दायित्वं नासीत्। अतः अन्ततः शकुन्तला राज्ञा एव दण्डिता। तथैव अभिज्ञानत्वेन अङ्गुलीयकमवाप्य पश्चात्तापस्य विरहस्याग्नौ दुष्यन्तोऽपि दहति। स्वयंकृतापराधेन सोऽपि दण्डितो भवति। अनेन सामाजिकमूल्यस्य उत्कर्षः परिलक्ष्यते। इत्थं परिशीलनेन शाकुन्तलोपाख्यानस्य सम्पूर्णं कथानकं सामाजिकमूल्येन परिपूरितं दृश्यते।

---

1. तत्रैव - 4.17
2. तत्रैव - अ.1, पृ.46
3. तत्रैव - अ.3, पृ.155

कालिदासस्य काव्यसरस्वत्याः सर्वोत्कृष्टप्रसादत्वेन अभिज्ञानशाकुन्तलं वर्तते। नाटकेऽस्मिन् आद्यमङ्कचतुष्टयं भोगभूमिः तदनु अङ्कद्वयं पञ्चमषष्ठौ दण्डभूमिः अन्तिमश्च सप्तमः अङ्कः सिद्धभूमिः वर्तते। कविवरेण मादकसौन्दर्यस्य, निश्चलप्रेम्णः, प्रकृतिजन्यसारल्यस्य, ऋषिकुलौदार्यस्य, कण्वमहर्षेः आदर्शवात्सल्यस्य, दुर्वाससः निर्ममदण्डस्य, वासनायाः प्रक्षालनस्य, आत्मनः निर्मलीकरणस्य, संस्कृतिपीयूष-सम्मेलनस्य, श्रेयसप्रेयसयोः मनोग्राहिग्रन्थिबन्धनस्य च सर्वाणि उपादानानि एकत्रैव मिश्रीकृत्य अभिज्ञानशाकुन्तले निर्मितं प्रपाणकं रसं भारतीयजीवननिमित्तं नितान्तं महत्त्वभूतं बहुमूल्यं च विद्यते।

आख्यानेषु मानवसमाजस्य सामूहिककल्याणार्थं विश्वमङ्गलाभिवृद्ध्यर्थं च बहुविधानि जीवनमूल्यानि समाहितानि वर्तन्ते। प्रत्येकमाख्यानस्य अन्तस्तले अस्माकं शिक्षणार्थं प्रभूतानि तथ्यानि अन्तर्निहितानि विद्यन्ते। क्वचित् चारित्रिकत्रुटयः अनैतिकाचरणानि अपि दृश्यन्ते। परन्तु कुमार्गे अनैतिकगर्ते वयं न पतेम इत्येतदर्थमेव सोद्देश्यं तानि चित्रितानीति प्रतिभाति। इत्थं शाकुन्तलोपाख्यानस्य साम्प्रतिकं समाजानुगुणत्वं सर्वतोभावेन सिध्यति।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

बन्धमुक्त्योर्लक्षणं तयोर्विश्लेषणञ्च

-प्रवीण रायः

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

[अष्टादशपुराणान्तर्गते श्रीमद्भागवतपुराणे जीवानां बन्धनं मुक्तिश्च कीदृशं विवेचितमस्ति? किं च तयोः स्वरूपमिति विषयमधिकृत्य अस्मिन् शोधपत्रे विश्लेषितम्।]

विषयप्रवेशः–श्रीमद्भागवतपुराणं अष्टादशपुराणानां निचये मयूरशिखैव अलङ्करोतीत्यस्मिन् विषये न संशयलेशः। अस्मिन् हि सर्वविषयोपेतपुराणे अत्यन्त-गभीरदार्शनिकविषयः राद्धान्तत्वेनाभिलक्षितः "विद्यावतां भागवते परीक्षा" इत्युक्त्या अस्य गभीरत्वमुन्मीलितं प्रतिभाति। जातस्य जीवस्य जगत्याद्याऽपेक्षा कोहमित्याकारिणी जिज्ञासा भवति। किं कारणं? येनाहं जगति जीवामि। जगतः कारणं किम्? किमर्थं जीवः जगति रक्तः जायते? किञ्च जगद्बन्धाद्विमुक्तः भवेदित्यादयः सर्वेऽपि प्रश्नाः श्रीमद्भागवतस्य सप्तविंशेऽध्याये कपिलमुनेराख्याने प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकेन मोक्षप्राप्तेः निरूपणे समासाधिताः। तच्च बन्धमुक्तयोर्लक्षणं भगवान् इत्थं प्रत्यपादि।

श्रीमद्भागवतस्य तृतीये स्कन्धे सप्तविंशेऽध्याये प्रकृति-पुरुषयोर्विवेकेन मोक्षप्राप्तेर्निरूपणं कृतं भगवता कपिलेन। यथोक्तं श्रीधरस्वामिना–

सप्तविंशे ततः सम्यग्बहुसाधनयोगतः।
पुंप्रकृत्योर्विवेकेन मोक्षरीतिर्निरूप्यते॥

विदिततत्त्वस्य भगवति मानसं मुञ्जत आत्मारामस्य प्रकृतिः कर्हिचिदपि नापकुरुते। तत्त्वमिदं कपिल-देवहूति-संवादमाध्यमेन वक्ष्यमाणरूपेण भवति।

भगवान् कपिलो देवहूतिं प्रति भणति–

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥1॥

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते।
अहं क्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते॥2॥

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्य निर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥3॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥4॥

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम्॥5॥

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च॥6॥

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणप्रसङ्गतः।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा॥7॥

यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥8॥

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम्।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च॥9॥

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः।
उपलभ्यात्मनाऽऽत्मानं चक्षुषेवार्कमातमदृक्॥10॥

मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते।
ततो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम्॥11॥

यथा जलस्थ आभासः स्थस्थेनावदृश्यते।
स्वाभावेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः॥12॥

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक्॥13॥

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः॥14॥

मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः॥15॥

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः॥16॥

(श्रीमद्भाग. 3.27.1-16)

हे मातः! यथा हि जले प्रतिबिम्बतेन सूर्येण सह जलस्य शीतलता-चञ्चलतादि-

गुणानां सम्बन्धो न भवति तथैव प्रकृत्याः कार्यशरीरे स्थितोऽप्यात्मा (पुरुषः) वस्तुतः प्रकृतेः सुख-दुःखादिधर्मैर्न लिप्यते यतो हि स स्वभक्तो निर्विकारः, अकर्ता निर्गुणश्चास्ति। परं यदा स एव पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः सह एवं सम्बन्धं स्थापयति तदा स अहङ्कारेण विमूढः सन् आत्मानं कर्तारं मन्यते।

गीतायामपि अयं भावः प्रकाशितोऽस्ति यथा–'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**'।

तेनाहङ्कारेणायं प्रकृतिसङ्गकृतैः पुण्यपापरूपकर्मदोषैरात्मनः स्वाधीनतां नाशयति; अथ च उत्तममध्यमाधमासु योनिषु उत्पन्नो भूत्वा संसारचक्रे भ्रमति। यथा स्वप्ने भयशोकादिकस्य कारणे अविद्यमानेऽपि स्वप्नगतपदार्थेषु आस्थायां जातायां दुःखमनुभूयते, तथैव भय-शोकाहं-जन्म-मरणानां सत्तायामसत्यामपि अविद्यावशात् विषयान् चिन्तयतो जीवस्य संसारचक्रं कदापि न निवर्तते। यतो आत्मा विषयध्यानमर्थहेतुः, अतो अयमात्मा नियन्तव्यः। असतामिन्द्रियाणां पथि अर्थात् विषयमार्गे संसक्तं मनस्तीव्रेण भक्तियोगेन वैराग्येण च वशं नेयम्।

भक्तिविरक्त्योस्तीव्रत्वे कारणानि वर्णयन् ज्ञानेन मोक्षप्रकारं षड्भिः श्लोकैराह भगवान् कपिलः। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादिभिर्योगमार्गैश्चित्तमभ्यसन् अर्थात् पुनः पुनरेकाग्रीकुर्वन्नात्मानमुपलभ्य सर्वानुस्यूतं परमात्मानं प्रतिपद्यते जनः। भगवति प्रेम्णा, भगवत्कथाश्रवणेन, सर्वारतसमत्वेन, निर्वैरेण, आसक्तित्यागेन, ब्रह्मचर्येण, मौनेन, बलीयसा अर्थात् भगवदर्पितेन स्वधर्मेण च यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन् मितभोजी, एकान्तसेवी, शान्तः, मैत्रः, करुणः, धैर्यवान्, प्रकृतिपुरुषयोर्वास्तविकस्वरूपानुभवात्प्राप्तेन तत्त्वज्ञानेन स्त्रीपुत्रादिसम्बन्धिसहिते देहे अहं ममत्वाभिनिवेशत्यागी, निवृत्तबुद्ध्यवस्थानः, परमात्मानमतिरिच्य किमपि अपश्यन्, आत्मदर्शी मुनिः आत्मनात्मानमुपलभ्य निरुपाधिकं मिथ्याभूतेऽहङ्कारे सद्रूपेणाभासमानं प्रकृतेरधिष्ठानं सर्वानुस्यूतं ब्रह्म प्राप्नोति।

यदा जले पतितः सूर्यविम्बो ग्रहान्तर्वर्तिभित्तौ स्फुरति तदा गृहकोणस्थितैः पुरुषैर्भित्त्यादौ स्थले स्थितेन स्वाभासेन सूर्यपतिविम्बेन यथा प्रथमं जलस्याभासोऽवदृश्यते (लक्ष्यते), गगनस्थस्य गृहमध्ये प्रतिविम्बायोगात्, यथा च जलस्थेन दिवि स्थितः सूर्यो लक्ष्यते एवं देहेन्द्रियमनोभिरवच्छिन्नैः स्वाभासैरात्मप्रतिविम्बैस्त्रिगुणोऽहङ्कारः सतो ब्रह्मण आभासो यस्मिंस्तेन रूपेण लक्षितः। अनेन चाहङ्कारेण सदाभासतयापरमार्थ-प्रज्ञप्तिरूप आत्मा लक्षितो भवति। सुषुप्तिसाक्षित्वेन शुद्धात्मप्रतिपत्तिरनुभूयते। एवञ्च विवेकी जन आत्मनोऽनुभवं करोति–

अत्र देवहूतिः कपिलं प्रश्नं पृच्छति–

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो॥17॥

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च॥18॥

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम्॥19॥

क्वचित् तत्त्वामर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते॥20॥

(श्रीमद्भ. 3/27, 17-20)

अर्थात् प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्याश्रयत्वात् नित्यत्वाच्च प्रकृतिः पुरुषं कदापि मोक्तुं न शक्नोति। यथा गन्धस्य पृथ्व्याश्च, रसस्य जलस्य च पृथक् पृथक् स्थितिर्न भवितुं शक्यते तथैव पुरुषः प्रकृतिश्च परस्परं त्यक्त्वा न स्थातुं शक्नुतः। अकर्तुः पुरुषस्यायं कर्मबन्धो यदाश्रयोऽस्ति तस्याः प्रकृतेः गुणेषु सत्सु पुरुषस्य कैवल्यं कथं सम्भावते? यदि कदाचित् तत्त्वावमर्शेण संसबन्धस्य तीव्रं भयं निवृत्तमपि भवेत् तथापि तन्निमित्तभूतानां गुणानामभावात् तद् भयं पुनरपि उपस्थातुं शक्नुयात्।

अस्य प्रश्यस्योत्तरं भगवता कपिलेन इत्थं प्रदत्तम्-

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम्॥21॥

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥22॥

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्शिम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥23॥

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोष च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते महिम्नि स्थितस्य च॥24॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥25॥

एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम्।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित्॥26॥

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः॥27॥

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥28॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः।
यद् गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे॥29॥

यदा नयोगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद् आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः॥30॥

(श्रीमद्भागवते 3/27/21-30)

अर्थात् हे मातः। यथा अतिरुत्पत्तिस्थानमरिणः स्वस्मादुत्पन्नेनाग्निना प्रज्वल्य भस्मसाद् भवति, तथैव निष्कामभावेन कृतेन स्वधर्मपालनेन चित्ते शुद्धे जाते चिरकालं यावत् भगवत्कथाश्रवणेन पुष्टया तीव्रया भगवद्भक्त्या, तत्त्वसाक्षात्कारहेतुना ज्ञानेन, प्रबलेन वैराग्येण, व्रतनियमादिसहिते कृतेन ध्यानाभ्यासेन, चित्तस्य प्रगाढेन ऐकाग्र्येण पुरुषस्य प्रकृतिः (अविद्या) भक्तं दिवं क्षीयमाणा शनैः शनैः तदा नित्यशो दृष्टदोषा भुक्तभोगा परित्यक्ता प्रकृतिः स्वे महिम्नि स्थितस्य स्वतन्त्रस्य (बन्धनमुक्तस्य) ईश्वरस्य (पुरुषस्य) आशुभं न कर्तुं शक्नोति। यथा अप्रतिबुद्धस्य जनस्य कृते प्रस्वापो ब्रह्मनर्भभृत् भवति किन्तु प्रतिबुद्धस्य कृते स्वप्नाः किमप्यनर्थं कर्तुं न क्षमन्ते तथैव विदिततत्त्वस्य नित्यं च भगवति मानसं युञ्जत आत्मारामस्य मुनेः प्रकृतिः कमप्यपकारं कर्तुं न क्षमेत। मनुष्यो यदैवमनेकेषु जन्मसु चिरकालं यावत् आत्मचिन्तन एव रतो भवति तदा तस्य ब्रह्मलोकपर्यन्तेषु समस्तेषु भोगेषु वैराग्यमुत्पद्यते। एवम्भूतो भगवद्भक्तो भगवत्प्रसादेन प्रतिबुद्धार्थः सन् आत्मानुभवेन सर्वेभ्यः संशयेभ्यो मुक्तो भवति, किञ्च लिङ्गादेहे नष्टे सति केवलं भगवत्येवाश्रितं कैवल्याख्यं निःश्रेयसं स्वसंस्थानं प्राप्नोति। स्वदृशा छिन्नसंशयस्य तस्य योगिनः तत्पदात् निवर्तनं च भवति। यदि योगिनश्चित्तं योगोपचितासु मायामयीसु अणिमादेः सिद्धिषु न विषज्जते तर्हि स भगवतस्तदविनाशिपदं प्राप्नोति यत्र मृत्युः स्वप्रभातं दर्शयितुं क्षमो नास्ति।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

पौराणिक दशावतार : आधुनिक विकासवाद के प्रेरक तत्त्व

-डॉ. अर्पिता चटर्जी

संस्कृत विभाग, तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर, बिहार।

[पुराणानि सर्वविषयाणाम् आगरः विद्यते। दशावतारवर्णनम् अतिप्रसिद्धं विद्यते। अस्मिन् लेखे आधुनिकविकासवादस्य कृते दशावतारवर्णनं कथं प्रेरकं विद्यते इति सुष्ठु निरूपितः।]

अवतार का तत्त्व पुराण के प्रधान विषयों में एक है। यह तत्त्व भगवान के धर्मनियमाकत्व रूप पर प्रतिष्ठित है। 'अवतार' शब्द साधारणतः ऊँचे से नीचे की ओर उतरने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब हम इसकी व्युत्पत्ति की ओर नज़र डालते हैं तो पाते है कि अवतार शब्द 'तृ' धातु से धञ् प्रत्यय के योग से बनता है। इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ यह है कि किसी महनीय शक्तिसंपन्न देवता का निचले लोक में ऊपर से उतरना तथा मानव अथवा अमानव रूप धारण करना। इसी अर्थ में पुराणों में 'आविर्भाव' शब्द का उल्लेख पाया जाता है। 'अवतार' की बात अलौकिक शक्तिसंपन्न भगवान् विष्णु, भगवान् शंकर या इन्द्रदेव आदि के लिए उपयुक्त माना जाता हैं कार्यवशतः भगवान् का बिना रूप-परिवर्त्तन के आविर्भाव होना भी 'अवतार' रूप माना जाता है।

"तस्य तच्चेतसो देवः स्तुतिमित्थं प्रकुर्वतः।
आविर्बभूव भगवान् पीताम्बरधरो हरिः॥"[1]

पुराण के विकास में एक नवीन युग आरंभ होता है जब व्यासजी ने 'पुराण-संहिता' का प्रणयन कर पुराण को सुव्यवस्थितरूप में प्रतिष्ठित किया। पुराण में समन्वय साधन के बीच ही नहीं प्रत्युत पल्लवति तरू की कल्पना साकार रूप से वर्तमान है। प्राचीन युग से आनेवालीं, लोक-समाज में प्रचलित होने वाली, इतस्ततः विकीर्ण रूप से उपलब्ध होने वाली, उपासना पद्धतियों आचार विचारों कल्पना मान्यताओं सबका एक विराट् समन्वय उपस्थित कर, जो

1. 1/20/14-विष्णुपुराण

साहित्यिक रचना इनमें उपलब्ध है वह वैविध्य धारण करने पर भी सुसमंजस है, अनेकता से मंडित होने पर भी एक्य भावापन्न है, लोकप्रिय जन-विश्वासों का आगार होने पर भी शास्त्रीय विश्वासों से सम्पन्न है। इसी समन्वय भावना के कारण अवतारवाद का जन्म हुआ, जिसके साथ भक्ति का सार्वभौम राज्य पुराणों में विराजने लगा। फलतः मानवहृदय को विकसित करने वाली भक्ति प्रधान उपासना-मार्ग के रूप में गृहीत है। इसी प्रकार धर्म तथा मानव स्वभाव के संवेगात्मक पक्ष पर आकृष्ट कर पुराण ने मानव मन की परिष्कृति के नवीन मार्ग की उद्भावना की। धर्म तथा साहित्य में इस भक्तिमार्ग के योग से जो मधुरिमा आई है, वह पुराण-युग की एक विशिष्ट देन है। जितने भी अवतारों का वर्णन किया जा रहा है उनका पाठ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है–

"विष्णार्दशावतारांशान्यः पठेच्छृणुयान्नरः।
सोऽवाप्तकामो विमलः सुकलः स्वर्गमाप्नुयात्।।"[1]

संसार की सृष्टि आदि के आधारभूत भगवान् विष्णु इस प्रकार अवतार लेकर धर्म और अधर्म की व्यवस्था किया करते हैं।

गीता में भगवान् विष्णु ने अधर्म के विरुद्ध अवतार ग्रहण करके पुनः उस अधर्म के नाश करने की बात कही है–

"यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।"[2]

भगवान् का धर्मनियामक रूप ऐसा है जो धर्म के नियमों को पाबंदियों के साथ पालन करता है, यह वो रूप है जो विरुद्ध है अधर्म के, वो रूप जो अधर्म नाश हेतु बार-बार संसार में आविर्भूत होता है। भगवान् का ऊँचे लोक से इस निम्न लोक में आना ही 'अवतार' पद वाच्य है। भगवत सहापुराण में कहा गया है कि मनुष्यों के परम कल्याणार्थ मोक्ष के साधन के रूप में अवतार ग्रहण किया गया जो कि उनकी गुणात्मक, अव्यय, अप्रमेय अभिव्यक्ति है–

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्यप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणत्मनः।।"[3]

---

1. 16/12-12½-अग्निपुराण
2. 4/3-4- गीता
3. 10/29/14-भगवद् पुराण

यदि अवतार के रूप में भगवान् का प्राकट्य नहीं होता तो अलौकिक रागात्मिका भक्ति का वितरण कैसे होता? भगवान के सौन्दर्य, गुण-समुच्चय, भाषण-इन रोचक-तत्त्वों को जानने में मनुष्य सर्वदा ही असमर्थ रहता। ज्ञान का वितरण भी भगवान् के अवतार का प्रयोजन है। जीव के बंधन को काटने का मार्ग बताकर उसे मुक्त करना ही अवतार का मुख्य तात्पर्य है। वायुपुराण में भी इसका प्रयोजन बताते हुए कहा गया है-

"जज्ञे पुनः पुनर्विष्णुर्यज्ञे च शिथिलः प्रभुः।
कर्तुं धर्मव्यवस्थानम् अधर्मस्य च नाशनम्॥"[1]

जब-जब सृष्टि का नाश हआ है, तब-तब भगवान् द्वारा अवतार रूप धारण करके इसके कल्याणार्थ सृष्टि का अभ्युदय हुआ। हम जानते हैं कि विकासवाद का सिद्धात अँग्रेज वैज्ञानिक डारविन महोदय द्वारा 19वीं शती के मध्यभाग में प्रतिपादित हुई। सृष्टि के विषय में जब हम विकासवाद की बात करते है। तो हम पाते हैं कि सर्वप्रथम पृथ्वी पर लघुकाय जीवों की उत्पत्ति हुई और तदनन्तर दीर्घकाय प्राणियों की सृष्टि हुई। जैसे-जैसे मनुष्य में बुद्धि-तत्त्व का विकास हुआ, वैसे-वैसे हमारा क्रमिक विकास होता गया। सर्वप्रथम हम जलीय जीवों की सृष्टि का आरंभ देखते हैं। इसी लक्ष्य हेतु मत्स्य का अवतार लिया गया। भगवान् द्वारा मनु को कहा गया थ कि समुद्र अपने आपको इतना बढ़ा लेगा कि सृष्टि का नाश हो जाएगा। उन्होंने मनु को उस समय सभी बीजों को बड़ीनाव में रखकर, सप्तर्षियों के साथ उस नाव पर विचरण करने का आदेश दिया और कहा- "नाव को मेरी सींग में बाँध देना।" इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गए। मनु ने वैसा ही किया एवं नई सृष्टि की उत्पत्ति का बीज बोया। अग्निपुराण में कहा गया है-

"सप्तमेऽथ दिने ह्यब्धिः प्लावयिष्यति वै जगत्।
उपस्थितायां नावि त्वं बीजादीनि निधाय च॥
सप्तर्षिभिः परिवृता निशां ब्राह्मीं चरिष्यसि।
उपस्थितस्य में श्रृङ्गे निवध्नीहि महाहिना॥"[2]

इस अवतार से नई सृष्टि के आरंभ होने का वर्णन है जो विकासवाद की एक महत्त्वपूर्ण सीढ़ी जानी जाती है। इसके पश्चात् कर्मावतार प्रसङ्ग आता है। अग्निपुराण में इस अवतार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि समुन्द्रमंथन प्रारम्भ होने पर वह जल में डूबने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्दराचल

1. 18/69-वायुपुराण
2. 2/12-13-अग्निपुराण

को मंथन का दंड बनाया गया जो बिना आधार के डूबने लगा। यह देख भगवान् विष्णु ने कूर्म रूप धारण किया और उसे डूबने से रोक लिया। यह कच्छप कोई साधारण कूर्म नहीं बल्कि अतिविशाल था–

"कर्मरूपं समास्थाय दध्ने विष्णुश्च मन्दरम्।
क्षीराब्धैर्मथ्यमानाच्च विषं हालाहलं ह्यभूत॥"[1]

सृष्टि रक्षा के इस क्रम में हम देखते हैं कि यदि मन्थन दंड डूब जाता तो सृष्टि का विकास भी रूक जाता। अतः अधर्म के नाशार्थ एवं राक्षसों के पतन हेतु इस अवतार का जन्म महत्त्वपूर्ण है।

वराह अवतार धारण करने का लक्ष्य पृथ्वी को नीचे से ऊपर लाना था। श्रीमद्भागवत पुराण के तृतीय स्कंध के 13वें अध्याय में इस अवतार का बड़ा ही यथार्थ तथा आकर्षक वर्णन किया गया है। यहाँ वराह को 'यज्ञवराह' के रूप में चित्रित किया गया है जिसमें यज्ञ के समस्त अंग एवं साधनों का प्रतीकरूप वराह के देह में विद्यमान है। भगवत के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में वराहावतार का वर्णन इस प्रकार है–

"यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्।
क्रौडी तनुं सकल यज्ञमयीमनन्तः
अर्न्महार्णव उपागतमादिदैत्य
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो ददार॥"

फलतः वराह अवतार के द्वारा पाताल लोक से भूतधात्री पृथ्वी का उद्धारकार्य प्रजापति के कार्यों में एक विशिष्ट स्थान रखता है और यह पुराणों में भी स्पष्टतः वर्णित है।

नृसिंहावतार के पीछे भी यही कारण था कि अधर्म से संसार को मुक्त किया जाए। इस अवतार को ग्रहण करने का लक्ष्य हिरण्याक्ष को मारना था। कालांतर में इसका भ्राता हिरण्यकशिपु हुआ जिसने यज्ञ में देवताओं के भाग को तो जीत लिया, सभी देवताओं को भी अपने अधिकार में कर लिया। तब भगवान् विष्णु ने नरसिंह का रूप धारण करके उसका अंत कर दिया।

"जितदेवयज्ञभागः सर्वदेवाधिकारकृत।
नारसिंहं वणुः कृत्वा तं जधान सुरैः सह॥"[2]

---

1. 3/8 – अग्निपुराण
2. 4/4–अग्निपुराण

नृसिंहावतार में मानव एवं सिहं दोनों के रूप को दर्शाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब बुराई का सिर इतना ऊँचा उठ जाए कि काटने में असुविधा हो, तो मनुष्य में छिपा क्रोध उजागर होता है। उस समय अन्याय को सहन करने की क्षमता शेष नहीं रहती। इस अवतार से भगवान् ने हमें सत्कार्य के विकास और असत्कार्य के नाश हेतु प्रेरित किया है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में श्रीनृसिंहदेव का चरित्र चित्रण अति रोचक ढंग से किया गया है।

जब हम भगवान् के वामनावतार का प्रयोजन देखते हैं, तो पाते हैं कि अति घमंड के कारण राजा बलि की दुर्दशा हुई। उन्होंने अदिति के गर्भ से वामन रूप में जन्म लिया। जब राजा बलि देवताओं का उद्धार करने हेतु भगवान् विष्णु ने वामन रूप धार किया और राजा के यह कहने पर कि वो अपना अभीष्ट वर उनसे माँगे, उन्होंने तीन पग भूमि माँग लिया। शुक्राचार्य जैसे गुरू के मना करने के बावजूद बलि ने अहंकारवशतः वामन की याचना स्वीकार कर ली। फिर वामन ने अपना विराट् रूप धारण किया एवं भूर्लोक, भुवर्लोक एवं स्वर्लोक को अपना तीन पग बना लिया एवं बलि को सुतल में भेज दिया।

"वेदान्तपठन्तं तं श्रृत्वा वामनं वरदोऽब्रवीत्।
निवारितोऽपि शुक्रेण बलिर्ब्रूहि यदिच्छसि॥
तत्तेऽहं सम्प्रदास्यामि वामनो बलिमब्रवीत्।
पदत्रयं में गुर्वर्थं देहि दास्ये तमब्रवीत्॥"[1]

इस अवतार रूप से यह सीखने को मिलता है कि मानव को अपना अहं तोड़ना चाहिए। संसार में सबकुछ नश्वर है, अतः अपना विकास करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इसके बाद परशुराम के अवतार रूप पर हम दृष्टिपात करने पर पाते हैं कि क्षत्रियो को उद्धत जानकर पृथ्वी का बोझ दूर करने हेतु देवता और ब्राह्मण आदि का पालन करने वाले भगवान् विष्णु ने विश्व शांति के लिए जमदग्नि की पत्नी रेणुका के गर्भ से परशुराम के रूप में अवतार लिया। भृगुवंशी परशुराम शस्त्रविद्या मे पारंगत थे। उस समय कार्तवीर्य नामक राजा हुए जो मृगया से थके हुए थे। जमदग्नि ने उन्हें अपने आश्रम में निमंत्रण दिया एवं सेना सहित कामधेनु के प्रभाव से सबको भोजन कराया। यह देख कार्तवीर्य लोभाविष्ट हो गए एवं कामधेनु को पाने की इच्छा करने लगे। जमदग्नि ने कामधेनु देने से इंकार कर दिया, तो क्रोधवश उनकी हत्या कर दी गई। इस घटना से परशुराम इतने क्रोधित हुए कि इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दिया।

1. 4/8-9-अग्निपुराण

"उद्धतान्क्षत्रियान्मत्वा भूभारहरणाय सः॥"[1]

यह अवतार रूप लेने का अभिप्राय यह है कि 'लोभ' नामक रोग से ग्रस्त होकर मनुष्य अतिनीच कार्य करता है लेकिन इसकी सजा भी कालक्रम में उसे मिल ही जाता है। अतः लोभ जैसे महाशत्रु से स्वयं को विरत कर आत्मविकास की ओर अग्रसर होना चाहिए।

भगवान् विष्णु के समावतार धारण करने का तात्पर्य मनुष्य में मौजूद अवगुणों का दमन करके सद्गुणों को उजागर करना। बुराई पर अच्छाई की जीत का प्रतीक है–'रामायण'। यह अवतार हमें हमारे कर्त्तव्य का बोध कराता है। दुष्टों का वध करने के लिए भगवान् का जन्म रामरूप में हुआ। प्रत्येक मनुष्य को पितृभक्त, पतिव्रत, मातृभकत, सुशासक, सत्यपरायण आदि के रूप में उजागर किया जा सकता है। रावण का वध करने के लिए भगवान् चार रूपों में अवतरित हुए।

"रावणादेर्वधनार्थाय चतुर्धामभूतस्वयं हरिः।
राज्ञो दशरथाद्रामः कौसल्यायां बभूव ह॥"[2]

इस समय तक संसार का इतना विकास हो चुका था कि सतयुग आरंभ हो गया था। लोगों में सच्चाई, मातृ-पितृ-दाराभक्ति का अवलोकन किया जा सकता था एवं कर्त्तव्यपरायणता के गुण विद्यमान थे।

रामावतार के बाद कृष्णावतार रूप सामने आता है। पृथ्वी के पाप का बोझ उतारने के लिए वासुदेव तथा देवकी के गर्भ से भगवान् विष्णु 'कृष्ण' के रूप में अवतरित हुए। कृष्णजन्म भी इस बात का द्योतक है कि जब मनुष्य अपने कुकर्मों की चरम सीमा को लाँघ जाता है, तो उसे उसके कर्मों का फल भी प्राप्त होता है जो संसार की एक सर्वथा सत्या रीति है। जब कंस देवकी के आठवीं संतान को फेंकने लगा, तब वह बालिका आकाश में जाकर कहने लगी–

"किं मया क्षिप्तया कंस जाता यस्त्वां वधिष्यति।
सर्वस्वभूतो देवानां भूभारहरणाय सः॥"[3]

ऐसा सुनकर कंस अपनी जीवन रक्षा हेतु सर्वत्र मायाजाल फैलाने लगे जिसे श्रीकृष्ण काटते रहे। अंततः उसका ही अंत हो गया।

बुद्ध का अवतार धारण करके भगवान् ने इस ओर इंगित किया है कि

---

1. 4/12–अग्निपुराण
2. 5/4–अग्निपुराण?
3. 12/11–अग्निपुराण

चाहे कितना भी भौतिक सुख मिल जाए लेकिन वास्तविक विकास 'आत्मिक विकास' ही है। माया-मोह-स्वरूप भगवान विष्णु शुद्धोदन पुत्ररूप में अवतरित हुए। उन्होंने दैत्यों को मोहित करके वैदिक धर्म से विमुख किया जो बौद्ध बन गये। इस तरह दूसरे लोगों से भी वेदधर्म का त्याग करवाया। अग्निपुराणोक्त यह श्लोक द्रष्टव्य है-

"मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत्।
मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजिता वेदधर्मकम्॥"[1]

श्रीमद्भागवत् पुराण में कहा गया है-

"ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्मा जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥"[2]

विक्रम की आरंभिक शताब्दियों में बुद्ध-धर्म का भ्यान् अभ्युत्थान हुआ। इसमें राजाश्रय ही प्रधान हेतु था। पुराणों ने ऐसी जनता जो वैदिक धर्म में पहले विश्वास रखती थी परंतु बाद में बौद्धधर्म में दीक्षित होने लगी, उन्हें वैदिक धर्म में पुनः दीक्षित करने के निमित्त एक सार्वभौम धार्मिक क्रांति उत्पन्न किया। अवतारों में बुद्ध की गणना भी इस क्रांति का एक महनीय साधन है।

तदोपरांत कल्कि अवतार की ओर दृष्टि डालते हैं। इस अवतार के विषय में शास्त्र का कथन है कि यह अवतार भविष्य में होने वाला है। कलियुग के अंत में जब शासकों के दुष्कर्मों से प्रजाओं का नितान्त उत्पीडन होगा, जब अधर्म अपनी चूडा पर पहुँच जायेगा तथा ब्राह्म धर्म की सार्वत्रिक निन्दा, अपमान आदि होगा तब कल्कि अवतार का अभ्युदय होगा। मत्स्य पुराण एवं अग्निपुराण मे समान बाते कही गइै हैं-

"कल्कि विष्णुयशः पुत्रो याज्ञवल्क्य पुराहितः।
उत्सादयिष्यति म्लेच्छान् गृहीतास्त्रः कृतायुधः॥
स्थापयिष्यति मर्यादां चातुर्वर्ण्ये यथोचिताम्।
आश्रमेषु च सर्वेषु प्रजा सद्धर्मवर्त्मनि॥"[3]

विष्णु के अवतारों में यह अंतिम अवतारा माना गया है। वैदिक धर्म की स्थापना के निमित्त तथा अवैदिक धर्म के विध्वंसन के लिए हो इस अवतार का उदय हुआ था। फलतः इस अवतार का उद्देश्य भी वही है जो उपरोक्त अवतारों

---

1. 16/2-अग्निपुराण
2. 1/3/24-श्रीमद् भागवतपुराण
3. 16/9-अग्निपुराण

का बताया गया है- "धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश।"

"यह्योलयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः
पाखण्डिनो द्विजजना वृालां नृदेवाः।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते॥"[1]

अपने विकास के लिए नाम स्मरण की उपादेयता इस कलिकाल में विशेष रूप से मानी गयी है। आज का समाज इतना विकसित हो चुका है कि लोगों के पास पूजा-पाठ के लिए काफी कम समय है। वैदिक-युग में पूजा-पाठ ही सब कुछ था। अतः भवद्नाम के स्मरण मात्र से अल्प अभ्यास से महत् फल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार दशावतार का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह पुराणों से उद्धृत है। इन पुराणो की उत्पत्ति ही इसलिए हुई ताकि भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी हो। पुराण इस संस्कृति का मेरुदण्ड है-वह आधारपीठ है जिसपर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है। इसमें वर्णित अनेक विषयों में 'अवतारतत्त्व' एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिसका ज्ञान अति आवश्यक है। उपरोक्त अवतारों का लक्ष्य इतना ही है कि अधर्म के नाश के लिए भगवान् को इन रूपों को धारण करना पड़ता है। यह सांसारिक विकास की ओर इंगित करता है। यदि संसार में सिर्फ अधर्म ही रहे तो यह अपने अंतिम को प्राप्त हो जाएगा। अतः जिन-जिन युगों में अधर्म को बढ़ते देखा गया, उन-उन युगो में अवतार धारण किया गया। मत्स्यावतार में जलीय जीवों की सृष्टि हुई, कर्म का रूप धारण करके राक्षसों के छल-कपट से युक्त रूप का ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के अंदर रहता है। इस अज्ञान को हटाकर हमें भगवान शिव की तरह बनना चाहिए जो पूरे विष को पीकर नीलकंठ हो गये। हमें भी कटुता को अपने अधीन रखकर मानसिक विकास की ओर उद्यत होना चाहिए। विशुद्ध मानव का प्राकट्य अब होने वाला होता है लेकिन ऐसा प्राणी जिसमें पशुत्व तथा मनुष्यत्व दोनों का समभावन मिश्रण पाया जाता है वह प्राणी है- नृसिंह। यह पशु अर्ध मानव एवं आधा पशु है। वामनावतार रूप धारण किया गया जो इस बात का प्रतिनिधित्व करता है कि मानव पहले नाटा और छोटा था जोंकि मानव का प्राथमिक रूप था और वह उससे आगे बढ़ता है। मनुष्य का खूंखार, भयानक, रक्तपिपासु रूप वामन के अनंतर परशुराम अवतार में मिलता है जहाँ वह परशु धारण करता है। अपने पिता के हत्यारे के प्रति उसके मन में द्वेष

1. 2/7/38-श्रीमद् भागवतपुराण

उत्पन्न होता है और वह इक्कीस बारशासकों का विनाश करता है। इसके पश्चात् मनुष्य के ऐसे रूप का वर्णन मिलता है जो क्रमशः अपने सद्व्यवहारों के कारण भी जाना जाता है। दाशरथी राम हमारे मर्यादा-पुरूषोत्तम हैं जिनमें मानव-जीवन की समग्र मर्यादाओं का विकसित रूप संपन्न है। जहाँ आदर्श पिता, पुत्र, राजा आदि समग्र आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। तब श्रीकृष्ण रूप धारण किया जाता है जिसमें 'बलराम' रूप में अवतरण पाया जाता है। 'बलराम' में हम बल के ऊपर अधिक आग्रह रखने वाले मानव रूप का साक्षात्कार करते हैं जो प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए अनियंत्रित बल का ही आश्रयण करता है। 'बुद्ध' में कृपा की अधिकता दृष्टिगत होती है। यहाँ मानव कृपा के आधिक्य से इतना संपन्न रहता है कि वह शत्रु के ऊपर बल का प्रयोग न कर, कृपा, करूणा तथा मैत्री जैसे उपायों द्वारा उसे अपने वशीभूत करता है। इससे उसकी आत्मशक्ति का विकास होता है। परंतु जब ऐसा करने पर भी मनुष्य की समस्या नहीं सुलझती, तब कल्कि के रूप में 'अकृप' रूप का साक्षात्कार करते हैं। दुर्दान्त एवं उद्दण्ड प्राणी कृपा-करूणा के कोमल साधनों से पराक्रांत नहीं होता। दुर्दान्त काद मन हिंसा की सहायता चाहता है और उद्दण्ड का स्वभाव करूणा की पीठी दवाई से ठीक नहीं होता। फलतः कल्कि के अवतार में हम प्राणियों के वर्तमान युग की समस्याओं का समाधान रूप पाते हैं।

इस प्रकार अन्तः प्रविष्ट होकर विचार करने पर आवतारवाद विकासवाद के वैज्ञानिक तथ्य के ऊपर आधारित नितांत सत्य तथा बहुमूल्य देन है, इसमें संशय के लिए स्थान नहीं होना चाहिए। विकासवाद का तत्त्व भारतवर्ष में सुदूर प्राचीन काल में विवेचित किया गया था जिसके मूल स्त्रोत वेद हैं। यह तो सर्वमान्य सिद्धांत है कि वेदों का परिबृंहण इतिहास-पुराण में है और इसी सिद्धांत का एक पोषक साधन यहाँ उपस्थित किया गया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचीः-

1. श्रीमद् भागवद्गीता
2. पुराण विमर्श- आचार्य बलदेव उपाध्याय
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास-वाचस्पति गैलोला
4. पुराणपर्यालोचनम् (गवेषणात्मक एवं समालोचनात्मक भाग)- डॉ. कृष्णमणि त्रिपाठी
5. अग्निपुराण-श्री तारिणीश झा, डॉ. घनश्याम त्रिपाठी

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

व्यपदेशिवदकेस्मिन् परिभाषाविचारः

-डॉ. मधुकेश्वरभट्टः
सहाचार्यः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली-110058

[अस्मिन् लेखे व्यपदेशिवदेकस्मिन् परिभाषायाः आवश्यकता, परिभाषासिद्धि-प्रकारः, परिभाषायाम् एकस्मिन् पदप्रयोजनम्, अनया अशास्त्रीयस्यापि अतिदेशः, तत्र कैयटाशयः, कैयटमतनिराकरणं कथमकारि इति विषयाः कूपत् न्यरूपिषत।]

अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। परिभाषा हि द्विविधा तत्रादौ सूत्रात्मिकाः याः पाणिनिना उच्चारिताः अन्याश्च याः पाणिनिना साक्षान्नोच्चारिताः। अत एव परिभाषेन्दुशेखरे नागेशेन एवं स्पष्ट्यकारि प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते[1] इति। तासु परिभाषासु अन्यतमा परिभाषा व्यपदेशिवदेकस्मिन् इति। दक्षस्यापत्यं पुमान् दाक्षिः इत्यत्र दक्ष इति अदन्तात् प्रातिपदिकात् अत इञ्[2] सूत्रेण इञ्-प्रत्यये दक्ष+ङस्+इ इति स्थिते सुब्लुकि यचि भम्[3] इत्यनेन भत्वात् यस्येति च[4] इत्यनेन अकारलोपे ततः तद्धितेष्वचामादेः[5] इति सूत्रेण आदिवृद्धौ दाक्षि इति सिद्धे पुनः सुबुत्पत्तौ प्रथमैकवचने दाक्षिः इति रूपं सिध्यति। वासुदेववाचकात् अ शब्दात् अस्यापत्यम् इः इत्यादौ अदन्तप्रातिपदिकाभावादिञ् न स्यात् यतो हि अत इञ्[6] सूत्रे येन विधिस्तदन्तस्य[7] सूत्रेण तदन्तविधौ अत इति विशेषणत्वात् प्रातिपदिकं विशेष्यमिति कृत्वा सूत्रार्थः एवं फलति षष्ठ्यन्तह्रस्वान्ताकारान्तप्रातिपदिकात्

---

1. परिभाषेन्दुशेखरः
2. अष्टाध्यायी 4-1-95
3. तत्रैव 1-4-18
4. तत्रैव 6-4-148
5. तत्रैव 7-1-117
6. तत्रैव 4-1-95
7. तत्रैव 1-1-72

अपत्यार्थे इञ् स्यादिति। प्रकृते अशब्दे अदन्तत्वाभावात् इञ् प्रत्ययो न स्यात्। अतः परिभाषारब्धा व्यपदेशिवदेकस्मिन्। निमित्तसद्भावात् विशिष्टोपदेशः- मुख्यो व्यवहारो यस्यास्ति स व्यपदेशी। यस्तु व्यपदेशहेत्वभावादविद्यमानव्यपदेशोसहायः सः तेन तुल्यं वर्तते। कार्यं प्रतीत्येकस्मिन्नसहायेपि तत्कार्यं कर्तव्यमित्यर्थः। अत्र एकस्मिन्- असहाये, व्यपदेशिवत् - मुख्यव्यवहारवत् कार्याणि क्रियेरन् इत्ययं सामान्योर्थः लभ्यते। व्यपदेशः-विशिष्टः अपदेशः अस्यास्तीति व्यपदेशी तेन तुल्यं व्यपदेशिवत्। अस्याः परिभाषायाः स्वीकारे दक्षस्यापत्यं दाक्षिः इत्यत्र यथा दक्षशब्दात् इञ् - प्रत्ययो भवति तद्वत् अ इति असहायवर्णादपि दाक्षिवत् मुख्यकार्यं प्रवर्तते। तेन अस्यापत्यम् इः इति रूपसिद्धिर्भवति।

परिभाषायाम् एकस्मिन् पदप्रयोजनम्

परिभाषायाम् एकस्मिन् ग्रहणात् असहायस्य एव ग्रहणम्। तेन सभासन्नयन इत्यत्र अकारः असहायो नास्ति किन्तु ससहाय एव अतः वृद्धाच्छः[1] इति सूत्रेण छ-प्रत्ययो न। एवमेव दरिद्रा धातावपि रेफोत्तरस्य इकारस्य वर्णानां मध्ये उच्चारितत्वात् नान्तत्वम्। अतः इकारान्तलक्षणोच् प्रत्ययो न भवति नो चेत् एरच्[2] इति सूत्रेण अच्-प्रत्ययः स्यात्। अत एव हरि+सु-हरिषु इत्यादौ पदत्वं न। यतः ससहायत्वात् तदादितदन्तधर्मः केवलं सु इत्यस्मन्नतिदेष्टुमशक्यत्वात्। तस्मात् सु इत्यस्य पदसंज्ञाभावे सात्पदाद्योः[3] सूत्रेण षत्वनिषेधो न।

परिभाषासिद्धिः

प्रकृतपरिभाषा लोकन्यायसिद्धा। तद्यथा लोकेपि बहुपुत्रसत्वे नैकस्मिन् ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादिव्यवहारोयं मे ज्येष्ठः कनिष्ठो मध्यमः इति किन्त्वेकपुत्रसत्वे एव। अतः न केवलमियं शास्त्रीयकार्यस्यैवातिदेशं करोति, अपित्वशास्त्रीयातिदेशमपि। अशास्त्रीयातिदेशस्य फलम् अशास्त्रीयातिदेशेनैव इयाय रूपसिद्धिः। अत्र इण्- गतौ धातोः लिटिप्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि परस्मैपदानां णलतुस्थलथुसणल्वमाः[4] इति तिपः स्थाने णलादेशः। ण् ल् अनयोः अनुबन्धलोपे इ+अ इत्यवस्थायां लिटि धातोरनभ्यासस्य[5] इति सूत्रेण द्वित्वे इ इ+अ इति जीते पूर्वोभ्यासः[6] सूत्रेण

---

1. अष्टाध्यायी 4-1-114
2. तत्रैव 3-3-56
3. तत्रैव 8-3-14
4. तत्रैव 3-4-82
5. तत्रैव 6-1-8
6. तत्रैव 6-1-4

अभ्याससंज्ञायाम् अचो ञ्णिति[1] इति सूत्रेण वृद्धौ अयादेशे च इ आय इति जाते अभ्यासस्यासवर्णे[2] सूत्रेण अभ्यासस्य इवर्णस्य इयङादेशेनुबन्धलोपे इयाय इति रूपं सिध्यति। अत्र इ+ उ इत्यवस्थायामिकारस्यद्वित्वमिष्टम्, परन्तु एकाचो द्वेप्रथमस्य[3] इति सूत्रे एकोच् यस्मिन् इति व्याख्यानात् इकारः न कस्यापि अल्समुदायस्य अच्, अपि तु एक एव अच् स्वतन्त्ररूपेण। अतः द्वित्वं न स्यात् इत्याशङ्कायां प्रकृतपरिभाषया एकाच्त्वरूप - अशास्त्रीयातिदेशात् इकारोपि एकाच् इति मत्वा तस्य द्वित्वं क्रियते तस्मात् इयाय इति रूपं सिध्यति। एवमेव भवति इत्यादौ भू-धातोः लटि तिपि शपि भू+अ+ति इति जाते भकारोत्तरवर्तिनः ऊकारस्य गुणः कर्तव्यः, परन्तु यस्मात्प्रत्यय-विधस्तादिप्रत्ययेङ्गम्[4] इति सूत्रेण भू+अ इत्यत्राङ्गसंज्ञा। अतः भूमात्रस्याङ्गसंज्ञाभावे गुणो न भवेत्, इष्यते च गुणः। अतः प्रकृतपरिभाषया अशास्त्रीयातिदेशात् व्यपदेशिवद्भावेन भू इत्यस्याङ्गत्वं विधाय गुणस्ततश्चावादेशे भवति इति रूपसिद्धिः। पूर्वोक्तरीत्या इयान् इत्यादावपि अशास्त्रीयातिदेशः। इदम् शब्दात् इदं परिमाणमस्येत्यर्थे किमदम्भ्यां वो घः[5] इति सूत्रेण वतुप्-प्रत्यये, अनेनैव सूत्रेण वकारस्य घादेशे इदम्+घत् इति जातेआयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्[6] इति सूत्रेण घस्य इयादेशे इदम्+इयत् जाते इदङ्किमोरीश्की[7] सूत्रेण इदमः ईशादेशे अनुबन्धलोपे ई+इयत् इत्यत्र यस्येति च[8] सूत्रेण ईलोपे इयत् - इति प्रत्ययमात्रस्य प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्ये इयान् इति रूपम्। प्रकृते इयदितिप्रत्ययमात्रमस्ति, तस्य कार्यकालपक्षे प्रातिपदिकसंज्ञा इष्यते अतः अनया परिभाषयात्र तद्धितान्ततदादित्वाशास्त्रीयधर्म-मतिदिश्य प्रातिपदिकत्वं साध्यते। एवञ्चोपर्युक्तविवरणेन ज्ञायते यदनया परिभाषया अशास्त्रीयधर्मस्याप्यतिदेशो भवतीति।

इयाय इत्यत्र कैयटमतम् -

इयाय इत्यत्र द्वित्वसिद्ध्यर्थं मुख्यव्यवहारस्य सादृश्यं नावश्यकमिति। तत्तु अर्थस्य त्यागोपादानाभ्याम् इयाय इत्यादौ इकारे एकाच्त्वनिर्देशादेव द्वित्वसिद्धिः। इण्-धातौ अर्थविशिष्टः इ-धातुः अस्ति। तस्मिन् यदा एकाच्त्वव्यवहारः आवश्यकः

---

1. अष्टाध्यायी 7-1-115
2. तत्रैव 6-4-78
3. तत्रैव 6-1-1
4. तत्रैव 1-4-13
5. तत्रैव 5-2-40
6. तत्रैव 7-1-2
7. तत्रैव 6-3-90
8. तत्रैव 6-4-148

तदानीं तत्रार्थस्य त्वागः कर्तव्यः। एवमच्त्वव्यवहारकाले अर्थस्य त्यागेन तथा च एकाच्त्वव्यवहारे अर्थस्योपादानेन इकारे एकाच्त्वव्यपदेशो भवति। तेन इयाय इत्यादौ अर्थवान् धातुः इ, तस्य इ – वर्णरूपी एकः अच् अवयवः। एतादृशार्थकरणेन एकाच् – व्यपदेशो भवति, इवर्णश्च व्यपदेशी अतः द्वित्वसिद्धिर्जायते इति कैयटाशयः।

कैयटमतखण्डनम्

अत्र नागेशः– इयाय इत्यत्र द्वित्वसिध्यर्थं मुख्यव्यवहारस्य सादृश्यं नावश्यकमिति कैयटोक्तिः न साध्वी। भाष्यविरोधापत्तिः। भाष्यकारेण एकपदा ऋक् इत्यादिस्थले व्यपदेशिवद्भावमकृत्वा मुख्यव्यवहारः एवोक्तः, तद्वत् इयाय इत्यादिस्थलेपि अर्थाधारेण एकाच्त्वस्य मुख्यव्यवहार एव। वेदे यत् तत् इत्याद्यः ऋचः सन्ति तासां वाचकः एकपदा इति शब्दः। एकपदा इत्यत्र बहुव्रीहिः आश्रीयतेएकं पदं यस्याम् ऋचि। इह शङ्का जायते यत् अत्र तु केवलमात्रपदमस्ति अतः कथंकारम् एकपदा ऋक् इति वक्तुं शक्येतएवमाशङ्कायां भाष्यकारः समाधत्ते–अत्र एकपदं स्वस्मिन्नेव वर्तते अतो व्यपदेशिवद्भावस्यावश्यकता एव नास्ति। मुख्यव्यवहारसत्वात् एकपदा ऋक् इत्यत्र अर्थेन युक्तो व्यपदेशः इति भाष्यकारेणावादि। ऋक्त्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तित्वेन तस्याः शब्दमात्ररूपं पदमेकोवयव इत्यर्थः। एवं प्रकारेण इयाय इत्यादिस्थले शब्दस्य त्यागोपादानाभ्याम् एकाच् शब्दस्य मुख्यव्यवहार एव इति नागेशभट्टः अभिप्रैति।

अनुशीलितग्रन्थसूची

1. अष्टाध्यायी संपादकः प्रो. गोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
2. परिभाषेन्दुशेखरः, विश्वनाथ मिश्रः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
3. परिभाषेन्दुशेखरः, संपादकः श्रीपादसत्यनारायणमूर्तिः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
4. महाभाष्यम्, संपादकः गुरुप्रसादशास्त्री, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

चिरंजीव दाश का अनुवाद लालित्य

–अजय कुमार मिश्रा
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
भोपाल परिसर, भोपाल (म.प्र.)

[अस्मिन् शोधपत्रे लेखकेन अनुवादेन लालित्यं कथमायाति इति चर्चितम्। वर्तमानकाले चिरंजीवदासस्य कृतस्य अनुवादस्य कावश्यकता वर्तते तेन च जनाः कथं लाभान्विताः भविष्यन्ति इत्यादयः विषयाः विचारिताः।]

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. रामकरण शर्मा. प्रो कमलेशदत्त त्रिपाठी तथा प्रो. **अभिराज** राजेन्द्र मिश्र जैसे संस्कृत भाषा तथा साहित्य के दिग्गजों तथा अशोक वाजपेयी जैसी प्रखर हिंदी साहित्यकारों और समीक्षकों द्वारा भारतीय साहित्य की संघीय (फेडरल) संस्कृति के कई उन्मेषकों में एक अति महत्त्वपूर्ण लेकिन हिन्दुस्तानी अदब के संस्कृत क्षितिज से कमोबेश ओझल रचनाकार सुकवि चिरंजीव दाश की नदीष्ण रचनाधर्मिता पर गौर फरमाया जाना शुभ का संकेत है। इससे उत्कल के गुमनाम संस्कृत विद्वान् प्रकाश में आएगें। लेकिन इसमें स्फूर्तिदायक तोष का अनुभव तभी और सही अर्थों में किया जा सकता है जब इनकी समग्र रचनाओं का एक व्यवस्थित स्तबक पाठक समाज को हाथ लग सके। यह पहल इसीलिए भी आवश्यक जान पड़ता है कि आज यहाँ भूमंडलीकरण के इस दौर तथा तकनीकी क्रांति की वजह से **पुरुषार्थ चतुष्ट्य अर्थ** और **काम** में ही मानो समाने को आतुर है जिसमें भारतीय साहित्य के अनिवार्य तत्त्व धर्म और मोक्ष हाशिए पर ही खिसकता नज़र आता है। और वैसे घातक दौर में जब **पोस्टमोर्डनिज़्म** के कुछ ख़तरनाक तत्त्वों के फलसफ़ा के तहत साहित्य के कई सरोकारों तथा मान्यताओं पर खतरे के मनहूस बादल मँडरा रहे हों। ऐसी संगोष्ठी से प्रादेशिक साहित्य की ऊर्जस्विता और भास्वरित होगी जो आज समय की युगीन माँग है क्योंकि किताबें पाठकों के हाथों से फिसलती नज़र आ रही है।

आचार्य दाश ने कालिदास तथा जयदेव आदि की मूल संस्कृत रचनाओं

का अनुवाद मूल के साथ तरोताजा, ललित, सरस और सरल हिंदी अनुवाद किया है। उसे बड़ा ही अभ्यर्हणीय पहल माना जाना चाहिए क्योंकि जयदेव रचित **गीतगोविंद** को तो समान्यत: समूची दुनिया जानती है। लेकिन **लीलाशुक विल्वमंगलाचार्य** रचित कृति **श्रीकृष्णाकर्णमृत** (अन्य नाम **कृष्णकर्णामृत**) जो बंगाल के वैष्णव संप्रदाय में विशेष रूप से लोकप्रिय रही है उसको समग्र वैष्णव वाङ्मय में यथोचित ढ़ग से स्थान नहीं मिल सका है। आचार्य दाश अनूदित प्रस्तुत रचना मूल कृति के पाठकीयता के क्षितिज को उत्तरोत्तर परिवर्धित तथा संवर्धित करेगा। यहाँ यह तथ्य भी साफ़ कर देना बिल्कुल जायज़ होगा कि आचार्य दाश अन्य अधिसंख्य अनुवादकों की तरह ही संस्कृत के क्लासिक्स रूपी मधुमक्खी के छत्ते पर भौरों की तरह ही नहीं मँडराते हैं अपितु साहित्य कानन के उस प्रसून कृति की भी खोज ख़बर लेना नहीं भूलते जो मिट्टी की परतों में अंकुरित होते हुए, पुष्पित तथा पल्लवित होकर अंतत: अपने उस रचना गुच्छ का सौन्दर्यहार बन कर एकाकीपन का ही शिकार हो जाते हैं। रचना के ऐसे गुमनाम लेखक दास ने उम्दा तर्जुमा कर इसे लोकप्रिय बनाने की दिशा में बड़ा ही सार्थक पहल किया है। ओजस्वी एवं बहुचर्चित हिंदी कवि अशोक वाजपेयी ने भी आचार्य चिरंजीव दास अनूदित भर्तहरि कृत वैराग्य-**शतक** के मनभावन हिंदी अनुवाद पर हिंदी साहित्य के छायावादी कवियों के प्रभाव का जिक्र किया है। इनके अनुवाद पर कहीं-कहीं गजाननमाधव मुक्तिबोध के दार्शनिक अंदाज की रहस्यमयता का भी भाव बड़ा ही सहज रूप में अनुभव किया जा सकता है।

प्रस्तुत शोध पत्र में मेरा यह भरसक प्रयास हैं कि आचार्य चिरंजीव दाश जी द्वारा अनूदित संस्कृत **क्लासिक्स** का यथोचित मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा सके क्योंकि दरिदा जैसे पाश्चात्य विचारकों ने भी किसी रचना के अनुवाद धर्मिता को भी मूल पाठ से किसी भी मायने में कम नहीं आँका है। ग़ौरतलब़ है कि भारतीय परंपरा के संस्कृत टीकाकारों ने भी अपनी मूल संस्कृत व्याख्या/ टीका-टिप्पणी से इसकी क्लासिक्स के विविध अर्थों को उत्तरोत्तर अन्वेषित और उन्मीलित करते रहे हैं। इसलिए आचार्य दाश की कालजयी अनुवाद की रचना धर्मिता का तहक़ीक़ात सर्वथा अपेक्षित जान पड़ता है। यह तथ्य अलग हैं कि इनकी रचना संसार को लेकर छत्तीसगढ़ में व्यक्तिगत तौर पर अकादेमी तो ज़रूर बनायी गई है। लेकिन आधुनिक युग के इस महत्त्वपूर्ण लेकिन सर्वथा अनालोचित रचनाकार को भारतीय साहित्य के मुख्यधारा से जोड़ा जाना सर्वथा प्रासांगिक है। सूचनीय है कि पंडित दाश ने अपने सरकारी कामकाज़ के उत्तदायित्वों अनुवाद प्रोद्यौगिकी की दुनिया में एक अहम पहचान दिया है।

ध्वन्यांकन तथा दृश्यांकन के विविध माध्यमों के इस संक्रमण के दौर में साहित्य विशेषकर नाट्य-साहित्य, वह भी दूरदर्शन के नाना चैनल्स के कारण हाशिए पर ही खिसकता नज़र आता है। इसमें व्यवसायिक शिक्षा की होड़ में तो इस जले पर नमक छिड़कने का काम करता मालुम पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुवाद रचना की जो औद्योगिक धर्मिता है उसके माध्यम से न केवल भारतीय साहित्य अपितु दुनिया के अदब को भी एक दूसरे के पास लाया जा सकता है। लेकिन इसमें पोस्ट्रमोर्डनिज़्म तथा ग्लोबलाइजेशन ने मँडराते खतरों से भी बचे रहने की ज़रूरत है। संस्कृत-हिंदी के गंगा-यमुना संस्कृति के एक भूले-बिसरे नदीष्ण विद्वान्-कवि आचार्या चिरंजीव दाश वाकई में कालजयि तथा युगीन रचनाकार माने जा सकते हैं। हो सकता है कि उस कथन से बहुत सारे पाठक/ समीक्षक समाज सहमत न हों क्योंकि उनके अनुवाद रचना के कलेवर का समुचित संचयन ठीक ढंग से प्रकाश में, नहीं आ सका है। इसके लिए जितना समालोचक उत्तरदायी हैं, संभवतः उतना ही साहित्यिक/ सांस्कृतिक अकादेमियाँ भी जिम्मेदार माने जा सकते हैं। संघीय साहित्य की मोल-जोल की संस्कृति को और तभी अधिक बल मिलेगा जब आज का अनुवाद उद्योग अपने रचना संसार के कल-कारखाानों की चिमनियों में कवि दाश जैसे और अन्य रचनाकारों अनुवादकों की लेखनी की लोहे को प्रज्ज्वलित करे। ऐसे सार्थक प्रयास से जहाँ संस्कृत क्लासिक्स का हिंदी भाषा में पाठक को लोक संस्करण की किताब हाथ लगेगी वहीं संस्कृत भाषा तथा साहित्य की जींवतता को लेकर जो मिथक फैलाने का प्रयास किया जा रहा हैं, उसका भी थोड़ा समाधान अन्वेषित किया जा सकता है क्योंकि इससे संस्कृत क्लासिक्स को आम बोलचाल की भाषा का पतवार अपने आप मिल जाएगा और जनमानस के बीच इसकी पाठकीयता भी मुखरित होगी।

ग़ौरतलब़ है कि आचार्य चिरंजीव दाश ने संस्कृत के अनेक क्लासिक्स को अपने अनुवाद का आयाम बनाया है वहीं उन महत्त्वपूर्ण लेकिन आमतौर पर अचर्चित संस्कृत रचनाओं से भी इसके अनुवाद संसार का बड़ा ही अभ्यहरणीय श्रीवृद्धि की है। इनके विषय में न केवल साहित्य के सामान्य पाठक, अपितु संस्कृत समाज के अधिसंख्य पाठक भी कमोबे़श काकस्नान ही किया होगा। संस्कृत-हिंदी भाषा के अन्य दिग्गजों की तरह ही आचार्य दाश भी जहाँ कालिदास के प्रख्यात गीति काव्य 'मेघदूत' पर मँडराने से अपने आप को नहीं रोक सके हैं वहीं छायावादी रूझान वाले कवि-अनुवादक आचार्य दाश ने उनके 'ऋतुसंहार' को भी अपने जीवत हिंदी पद्यानुवाद से और लोकजन्य बनाने का यथासंभव प्रयास किया है। अनुवादक ने 'मेघदूत' के अपने अनुवाद में जो एक

सारगर्भिता भूमिका लिखी है उसमें अवगाहन से भान होता है कि यह एक अभिनव साहित्य रूपी जल क्रीड़ा है क्योंकि ऐसी जानकारी इसके सामान्य संस्करण की किताबों में सामान्यत: पढ़ने को नहीं मिल जाती है। साथ ही साथ इसमें जो मेघ के मार्ग का खाक़ा खींचा गया है, वह साक्षात् मानस पटल पर सद्य: अंकित होता लगता है।

विल्हण का मात्र पचास श्लोक वाला गेय लघुकाव्य 'चौरपंचाशिका' जो कश्मीर तथा दक्षिण भारत में 'विल्हण काव्य' नामक कविता में भी समाविष्ट मिलती है। इसके विषय में कहा जाता है कि कवि को अपने राज्याक्षय राज्य को राजकुमारी को पढ़ाने के क्रम में जो आँखे चार हो गयीं थीं उसी प्रेम प्रसंग की घटनाओं का अंकन किया गया है। इस रचना से जुड़े इनके अनेक पाठों तथा पाण्डुलिपियों का होना इाकी लोकप्रियता तथा क्षेत्रीय महत्त्व को भी उजागृत करती है। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठना उचित लगता है कि शृंगार की कमनीयता तथा करूणा की भाव पेशलता से समन्वित ऐसे नदीष्ण रचना पर सामान्यत: अनुवादों/ समीक्षकों की नज़र क्यों नहीं जाती हैं? आचार्य दाश ने संस्कृत क्लासिक्स की इस रिक्तता की पूर्ति बड़े सार्थक रूप में अपने ओजस्वी अनुवाद के माध्यम से किया है। अनुवादक ने प्रस्तुत पुस्तिका के 'द्वारबंध' में अपने इस पद्यानुवाद को अपने आप में पहले किस्म का माना है। इस प्रकार आचार्य दाश अनुवादकों की उभरती भीड़ से हट कर माने जा सकते हैं जिनके अनुवाद का लक्ष्य साहित्य के उन गुदरी के लालों का भी गले लगाना है जिन पर अनुवादों/ समीक्षकों का समुचित ध्यान नहीं गया है। यद्यपि इसके अनुवाद में 'भी' (पृ. 11), वर्णन, (पृ.20), 'व्यक्त' तथा 'सदृश' (पृ. 23) तथा 'स्वीकृत' (पृ.26) जैसे टंकण की तकनीति चूक, ज़रूर दिखती है। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि इसका सरल, सहज तथा सरस-ललित हिंदी पद्यानुवाद अपने आप में मूल कविता की तरह लगने लगती है। उदाहरण स्वरूप इन पंक्तियों को भी पढ़ा जा सकता है- "हे जनो! यह विरह का जो दहन/ और मुझ से अब न होगा सहन ॥26॥" (हंहो जना मम वियोगहुताशनोऽयं/ सोढुं न शक्यत इति प्रतिचिन्तयामि)। उसी प्रकार- "आन्दोलन श्रमजलस्फुटसान्द्रबिन्दुमुक्ताफलप्रकरविच्छुरितं प्रियायां" जैसी बाणशैली का सरल तर्जुमा- "और तनु-क्षम हेतु जो स्फुट सघन है पर्याप्त/ स्वदेकरण-मुक्ताफलों से वह यथाविधि व्याप्त" भी दाश जी के अनुवाद कला के अन्त:ज्ञान को समुज्ज्वलित करता मालुम पड़ता है। उसी प्रकार बंगाल के वैष्णव संप्रदाय में बहुलोकप्रिय लीला शुक विल्वमंगलाचार्य रचित- "श्रीकृष्णकर्णामृत" (दूसरा नाम कृष्णकर्णामृत) भी जो उस क्षेत्र का "गीत-गोविन्द" (जयदेव) माना जाता है। का भी बड़ा मनभावन अनुवाद कर संस्कृत-हिंदी का सांझी संस्कृति में

गेयकाव्य का एक बहुत ही अच्छा आगाज किया है। इसमें 'पशुपालबालपरिषद्' (श्लोक 71) का "गोप-बाल-परिषद्" के रूप में हिंदी अनुवाद छायावादी शैली के रुझान को इंगिन करता है।

अनुवादक ने भर्तृहरि के तीनों शतक (नीति, शृंगार तथा वैराग्य शतक) का जो हिंदी पद्यानुवाद किया है। उनमें भी अन्य अनुवादों की अपेक्षा कई अन्य ख़ासियत झलकती हैं। सधे अनुवादक ने नीति-राग-विराग जैसे त्रिकोणात्मक भावों को बड़े ओजस्वी, सटीक तथा स्फ़टिक शब्दार्थ संधानके माध्यम से इसकी तर्जुमा में जान फूँक दिया है। ऐसे प्रखर तथा उम्दा अनुवाद के माध्यम से भी आज संस्कृत हिंदी भाषाओं के बीच बिखरते रिश्तों को थोड़ा सँवारा जा सकता है। और इस दिशा में सार्थक प्रयास अनुवाद विधा का एक अतिमहत्त्वपूर्ण युगीन धर्म माना जाना चाहिए। यद्यपि इनके अनुवाद पर तत्सम शब्दों के दबदबा के सबब से हिंदी साहित्य के इतिहास खंड "छायावाद" का पिपुल प्रभाव दिखता है। साथ ही साथ इक्के-दूक्के जगहों पर कुछ क्षेत्रीय शब्दों के प्रभाव (यथा-जावें-पृ.114) का भी रूझान पढ़ा जा सकता है। और यत्र-तत्र मूल से अनूदित शब्द अधिक अप्रचलित (यथा 'पुत्र' का 'सूत्र'- पृ. 137) शब्द का प्रयोग प्रस्तुत अनुवाद को और तत्सम बना देता है। वहीं 'नव' (पृ. 9) शब्द जगह 'अभिनव' शब्द भी बहुत अच्छा अनुवाद नहीं माना जा सकता है। उसी प्रकार 'प्राणों (पृ. 103, 104)' बहुवचनान्त प्रयोग भी हिंदी भाषा के मिजाज के अनुकूल नहीं माना जा सकता है और अनेक स्थलों पर "शृंगार" शब्द की प्रूफरीडिंग की भी ज़रूरत है। लेकिन अनुवादक द्वारा "अप्रतिबंधित अंगों" (पृ. 65) जैसे शब्दों का क्वायन किया जाना भी भाषा के प्रवाह को दर्शाता है। भारतीय संस्कृति की जीवन पद्धति-आश्रम व्यवस्था के जुड़े इस अनुपम काव्यत्रय का मनोरम हिंदी पद्यानुवाद में कहीं-कहीं चौपाई की शैली की भी झलक आँख-मिचौनी करती दिख सकती है।

आज ई-टेक्स्ट ने पुस्तक के महत्त्व को थोड़ा ओझल ज़रूर किया है। शास्त्रों का मात्र पाण्डुलिपि की दशा में ही होना भी इस दौर में शास्त्र के लिए कोई कम खतरा नहीं दिखता है। संपादक/ अनुवादक/ समीक्षक की लापरवाही इस खतरे की घंटी की आवाज़ को और तेज कर देती है। ऐसा लगता है कि नारी मनोंविज्ञान/ नृत्य विद्या से जुड़ी एक उम्दा तथा बहुधान्यूनतर समीक्षित भानुदत्त कृत-रसमंजरी का दाश जी ने ललित तथा पुख्ता अनुवाद प्रस्तुत किया है। इससे उनके भारतीय सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन को भी उजागृत करता है क्योंकि गद्य की अपेक्षा का वह भी पद्यानुवाद बड़ी टेढ़ी खीर होता है क्योंकि इसमें एक

समय और एक ही साथ विविध अर्थो की शृंखलित झड़ियाँ निकलती है। दाश जी ने इनके भाव के मूल अर्थ के तह में जाकर बड़ा ही जीवंत अनुवाद प्रस्तुत किया है। फलतः संस्कृतेतर पाठक/ नट/ नटी/ नर्तक या नर्त्तिका को बड़ी ही प्रमाणिक सामग्री हाथ लगा गयी है। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि रंगकर्म से जुड़े तकनीकी शब्दावली को समझना भी कलात्मज्ञान को संपुष्ट करता है। अन्यथा, शब्दों पर शब्दों की मक्खियों को बैठाना अनुवादक के लिए लाचारी हो जाती है। उनके अनुवाद चार्तुय कला को संस्कृत शब्द "सहचरी नीति" (पृ. 27) का हिंदी अनुवाद–"नीति सखी" भी पढ़ा जा सकता है। (जिसमें आचार्य मम्मट का कान्ता सम्मित उपदेश का भाव भी झलकता है)। उसी प्रकार मूल में हस्ताहस्ति (पृ. 11) शब्दावली के लिए हाथापाई की जगह 'छीनाझपटी' का प्रयोग अधिक लोकजन्म माना जा सकता है। लेकिन 'फ्रोड़े' (पृ. 04) के लिए 'अंक' शब्दानुवाद भाषा विद्वान की दृष्टि से अर्थ संकोच का ही द्योतक लगता है। इसके बावजूद इनके अनवुाद में जो शब्दों की सहजता तथा काव्यात्मक भाव सिक्तता का लालित्य है उसके कारण अनूदित पंक्तियाँ अपने आप में हिंदी कविता लगने लगती हैं। प्रिया द्वारा परिहास करते हुए जो कहा गया है उसे भी इसका नजीर माना जा सकता है। यथा– "दिव्य भला कैसे है यह जल? गंगा रहती शिर पर अविकल/ दिव्य भला कैसे यह पावक? यह लोचन में रहता सम्यक्,/ दिव्य भला कैसे यह विषधर? यह तो रहता है शरीर पर,/ अतः द्यूत में तुमने छलकर/ हरा हार जो दे दो अब हर!" शैलसुता कह रहीं जिन्हें हैं ऐसा हँस हँस/ वे शिव शिव दें तुमको निरलस। (पृ. 07)

इस आशा के साथ इस अदना सा आलेख को विराम देना चाहता हूँ कि आने वाला साहित्य समाज/ सहृदय/ समीक्षक आचार्य। चिरंजीव दाश जी जैसे ओजस्वी कवियों/ रचनाकारों को और सम्यक् रूप से प्रकाश में ला सके।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

भारतीय मनोविज्ञान; एक समीक्षात्मक विश्लेषण

-डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार
सहायकाचार्य, शिक्षा विभाग,
दिल्ली विश्विद्यालय

[मनःस्वरूपं भारतीयदार्शनिकैः सूक्ष्मैक्षिकया विचारितमस्ति। अस्मिन् लेखे भारतीयदर्शनानुसारेण मनःस्वरूपं कीदृशं, पाश्चात्यभारतीय-मनोविज्ञाने साम्यता वैषम्यं च, भारतीयमनोविज्ञानस्य प्रासङ्गिकता च निरूपिताः सन्ति।]

सार- आधुनिक मनोविज्ञान, मानवीय व्यवहार का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करता है इसके लिए अनेक शोधविधियों का उपयोग भी किया जाता है साथ ही आधुनिक मनोविज्ञान पर सोलहवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक इस पर काफी शोध कार्य भी किये जा रहे है, किन्तु यदि हम बात करें, भारतीय ज्ञान-विज्ञान-परम्परा की, तो क्या इसमें मनोविज्ञान के विषय में चर्चा की गई है? यदि इसका उत्तर हाँ है तो भारतीय मनोविज्ञान को किस रूप में स्वीकार किया जा रहा है? साथ ही क्या कारण है कि बीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारम्भ से इस पर काफी अनुसंधान कार्य किये जा रहे हैं? प्रस्तुत शोधपत्र में इन सभी प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया जायेगा।

मुख्य बिंदु-भारतीय मनोविज्ञान, बुद्धि, मन, संज्ञान।

'बुभुक्षितं किम् न करोति पापम्', 'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः' इस प्रकार अनेक उक्तियाँ अनायास ही हमें यह बताने का प्रयास करती हैं कि आहार, आवरण और आवास, ये किसी भी व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताएं होती हैं और यह बिल्कुल सत्य भी है क्योंकि इसके बगैर व्यक्ति जीवित ही नही रह सकता साथ ही इन सभी पूर्ति धन से ही संभव है इसलिए ये कहना कि धन भी, जीवन यापन के लिए अति महत्वपूर्ण है तो यह गलत भी नही होगा किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है क्या सिर्फ धन से ही मानव समाज में सुखमय तरीके से अपना जीवन यापन कर सकता है? ये इस प्रश्न उत्तर निश्चित रूप से ही

ना होगा, तो ऐसा क्या है जो उसे सुखमय या शांतिपूर्वक जीवन यापन के लिए आवश्यक है? तो निश्चित इसका उत्तर होगा कि व्यक्ति को समाज से मिलने वाला स्नेह और आदर सम्मान, जिसको प्रसिद्ध मनोविद् **'अब्राहम मैस्लो'** की 'आवश्यकता सोपानिक सिद्धांत' के द्वारा समझा जा सकता है। इस मनोविद् ने मूलभूत आवश्यकताओं को सबसे पहले सोपान में गिना है और बताया कि यह आवश्यकता व्यक्ति के जीवन के लिए जरूरी है किन्तु साथ ही मैस्लोनेचार अन्य आवश्यकताओं की गणना की हैजो व्यक्ति के शांतिपूर्ण तरीके से जीवनयापन के लिए आवश्यक हैं। यदि इन सभी आवश्यकताओं को ध्यान पूर्वक देखें तो पाएंगे कि एक सुखद जीवनयापन के लिए व्यक्ति के पास स्वयं के विषय में सम्यक् समझ होनी चाहिए अर्थात् वह अपनी कमियों, अच्छाईयों, आवश्यकताओं और विशेषताओं को ठीक प्रकार से जानता हो, ताकि उसे यह पता हो उसे अपने जीवनयापन के लिए क्या-क्या चाहिए? यह बिल्कुल सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवनयापन के लिए कुछ मूलभूत आवश्यताएँ होती हैं, जिनके बगैर किसी भी व्यक्ति का जीवन संभव ही नही है किन्तु इसके अतिरिक्त उसकी मानसिक, सामजिक और बौद्धिक आवश्यकताएं भी होती हैं जो कि प्रत्येक व्यक्ति की पृथक्-पृथक् होती हैं। इसको हम इस रूप में समझ सकते हैं कि एक व्यक्ति को अधिक से अधिक धनार्जन करने से मानसिक सुख मिलता है किन्तु किसी अन्य को यह धनार्जन, मानसिक सुख न देकर मानसिक त्रास देता है। इस उदहारण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता अलग-अलग होती है किन्तु आप पाएंगे कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतायें प्राय: सामान ही दिखाई देती हैं इसको उक्त धनार्जन के सन्दर्भ में बहुत अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपनी विशेषताओं और आवश्यकताओं को सम्यक् प्रकार से नही जानता और प्राय: उन विचारों का अनुसरण करता है जो समाज में प्रचलित होती हैं।इस परिस्थति में व्यक्ति अपने विषय में जानने के लिए क्या करसकता है? तो इसका उत्तर है व्यक्ति द्वारा 'आत्म संप्रत्यय' का उचित प्रकार से निर्माण और उस संप्रत्यय का सतत् विकास करते रहना। इस कार्य में व्यक्ति की सहायता करता मनोविज्ञान, विशेष रूप से भारतीय मनोविज्ञान ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है? तो इस विषय पर आगे चर्चा करेंगे। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भारतीय मनोविज्ञान क्या है? कैसे ये पाश्चात्य मनोविज्ञान से अलग है? कैसे ये मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है? साथ ही ये कैसे वर्तमान समय औरज्यादा प्रासंगिक हो गया है? इन सभी प्रश्नों के विषय पर इस शोध पत्र में विस्तार पूर्वक चर्चा की जाएगी।

भारतीय मनोविज्ञान के स्वरूप को जानने से पूर्व हम पाश्चात्य मनोविज्ञान के स्वरूप को जानते हैं पाश्चात्य मनोविज्ञान का सर्वप्रथम वर्णन 'प्लूटो' और 'सुकरात' के ग्रंथों में मिलता है जहाँ मनोविज्ञान को 'आत्मा के अध्ययन का विज्ञान' स्वीकार किया गया है, कालांतर में मनोविज्ञान को 'चेतना के अध्ययन का विज्ञान' तत्पश्चात् 'मन का अध्ययन' उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध में मनोविज्ञान 'व्यवहार के अध्ययन' की एक शाखा के रूप में दिखाई देता है किन्तु भारतीय मनोविज्ञान का प्रारंभ वेदों से होता है जहाँ मनोविज्ञान को 'आत्मा के अध्ययन का विज्ञान' के रूप में स्वीकार किया गया है भारतीय मनोविज्ञान के विषय में इस परिभाषा को वर्तमान समय में भी स्वीकार किया जा रहा है किन्तु यह भी सत्य है कि भारतीय संस्कृत साहित्य में 'मनोविज्ञान' इस प्रकार का पृथक् विषय नही दिखाई देता है। इसका एक बड़ा कारण है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान-परम्परा में मानव के व्यवहार के सञ्चालन में आत्मा को ही प्रमुख माना गया है इसीलिए भारतीय मनोविज्ञान 'आत्मा के अध्ययन' पर ही बल देता है इसका विश्वास है है कि समस्त मानवीय क्रियाकलापों का सञ्चालन आत्मा के द्वारा होता है इसका प्रणाम कठोपनिषद् में प्राप्त होता है जहाँ मानव शरीर को एक 'रथ' की तरह माना है, इस शरीर रूपी रथ में आत्मा 'रथी', मन को 'लगाम' तथा बुद्धि को इस शरीर रूपी रथ को चलाने वाला माना है।

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।। -कठोपनिषद् 3/3

इस श्लोक में भारतीय मनोविज्ञान के मूलभूत अवधारणा के विषय में प्रमाण प्राप्त होता। इस प्रकार प्रथमदृष्टया देखने मात्र से ही सुस्पष्ट हो जाता है कि भारतीय मनोविज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जो किसी व्यक्ति के मन, चेतना, संवेग, व्यवहार, व्यक्तित्व इत्यादि के अध्ययन के लिए आत्मा के अध्ययन पर बल देती है और आत्मा कैसी है इसका वर्णन हमें कठोपनिषद् में प्राप्त होता है कठोपनिषद् में आत्मा को 'अंगुष्ठमात्र' बतलाया गया है प्यहाँ आत्मा से आशय यह है कि उस शक्ति का अनुभव है जिसे व्यक्ति अपने हृदय कमल में अनुभव कर सकता है जो अंगुष्ठ के समान परिमाण वाला है-**"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोमध्य-आत्मनितिष्ठति।"** (2.1.12)

भारतीय मनोविज्ञान, इस आत्मतत्व के अध्ययन का विज्ञान है। भारतीय मनोविज्ञान के उद्भव का यदि अन्वेषण करें तो पाएंगे कि इसका वर्णन वेदों के समय से ही अलग-अलग रूपों में प्राप्त होता है यहाँ यजुर्वेद के एक मन्त्र का उल्लेख करना परमवश्यक है, जिसमें मन के स्वरूप का वर्णन बहुत ही स्पष्ट

तरीके से किया गया है-

यज्जाग्रतो दूर मुदैतिदैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु॥1॥

(यजु. अध्या. 34, मं.सं. 1)

अर्थात् जो मन जागृत अवस्था में तो दूर-दूर तक संचरण करता ही है साथ ही सुप्तावस्था में भी दूर- दूर तक विचरण करता रहता है, वही मन इन्द्रियों रूपी ज्योतियों की एक मात्र ज्योति है अर्थात् इन्द्रियों को प्रकाश देने वाली, एक ज्योति सदृश है अथवा जो मन इन्द्रियों का प्रकाशक है, ऐसा हमारा मन शुभ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो। इसी प्रकार शिवसंकल्प सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी मन के स्वरूप का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है। भारतीय मनोविज्ञान में वर्णित मन का स्वरूप, पाश्चात्य मनोविज्ञान में वर्णित मन के स्वरूप से पृथक् है यदि हम मनोविज्ञान के पृथक् विकास के क्रम पर दृष्टिपात् करें तो पाएंगे कि पाश्चात्य मनोविज्ञान का जन्म दर्शनशास्त्र की एक शाखा के रूप में हुआ था जिसमे मनोविज्ञान को 'आत्मा के अध्ययन विज्ञान' के रूप में स्वीकार किया गया था, जैसा की ज्ञान की सभी शाखाओं के साथ होता है कि वे अपने स्वरूप में निरंतर परिवर्तन करती रहती है यह परिवर्तनशीलता पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी दिखाई देती है प्रमाण स्वरूप इसको पहले मन, फिर चेतना, और व्यवहार के अध्ययन करने वाली शाखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। वहीं दूसरी ओर, भारतीय मनोविज्ञान का उद्भव भी दर्शनशास्त्र से ही हुआ है किन्तु भारतीय मनोविज्ञान में पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह परिवर्तनशीलता नही दिखाई पड़ती इसका एक बड़ा कारण है यह की इसे संस्कृत इतिहास के लम्बे कालखंड तक एक पृथक् ज्ञान शाखा के रूप में स्वीकार नही किया जाता रहा है किन्तु बीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध से ही भारतीय मनोविज्ञान में काफी अनुसन्धान कार्य हो रहा है किन्तु अभी भी भारतीय मनोविज्ञान को 'आत्मतत्व के अध्ययन' की एक शाखा के रूप में स्वीकारकर शोधकार्य किये जा रहे है। यह आत्मतत्व, मानव विकास के आभ्यन्तर पक्ष से जुड़ा है। यह तो सर्वविदित है कि मानव विकास के दो पक्ष हैं एक आभ्यंतर पक्ष जो कि मानव के आभ्यंतर अवस्था से जुड़ा हुआ है इसके अंतर्गत चेतना, संज्ञान, संवेग, मानसिक अवस्थाएँ, चित्त इत्यादि समाहित हैं। दूसरा पक्ष है बाह्य पक्ष, इसमें मानव विकास के सभी बाह्य पक्ष समाहित हैं जैसे व्यवहार, व्यक्तित्व, वृद्धि-विकास इत्यादि। भारतीय मनोविज्ञान मानव विकास के इसी आभ्यन्तर या अन्तः पक्ष का अध्ययन करता हैं। भारतीय मनोविज्ञान का यह दृढ़ विकास है कि यदि मानव जीवन के विकास के अन्तः पक्ष का समुचित

अध्ययन करें, तो उसके बाह्य पक्ष को उचित प्रकार से विकसित किया जा सकता है। इसलिए भारत के प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में मन को काफी महत्त्व दिया गया है। भारतीय मनोविज्ञान स्वीकार करता है कि व्यक्ति के अंतःपक्ष इसमें भी मुख्य रूप से मन का अध्ययन करके हम मानव के बाह्य पक्ष को सही प्रकार से विकसित किया जा सकता है इसलिए मन को भारतीय मनोविज्ञान में 'छठी इन्द्रिय' स्वीकार किया गया है यथा-

इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनः
षष्ठानि मे हृदि ब्राह्मणा संशितानि। -अथर्व 19.09.05

अतः इस विचार को ध्यान में रखते हुए मन को शुद्ध रखने के प्रयास किए जाने पर, भारतीय मनोविज्ञान का विशेष बल है। इसके अतिरिक्त भारतीय मनोविज्ञान अपने विज्ञान के वर्णित संप्रत्ययों को लेकर भी बहुत सुस्पष्ट है उदहारण स्वरूप 'बुद्धि' के संप्रत्यय को ही ले, पाश्चात्य मनोविज्ञान में 'बुद्धि' क्या है? इसको लेकर काफी मत विभेद है इसका ज्ञान हमें बेलार्ड (Bellard) के कथन से प्राप्त होता है जहाँ वे कहते है कि "शिक्षक बुद्धि के विकास का प्रयत्न करता है और मनोवैज्ञानिक बुद्धि को मापने का प्रयत्न करता है किन्तु लगता है कि उनको अनुमान ही नही है कि बुद्धि क्या है" (डॉ. जे.एस. वालिया शिक्षण और अधिगम का मनोविज्ञान पृष्ट सं 289) किन्तु अध्ययन या शोध की दृष्टि से पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के विचारों को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है। एक वर्ग वह है जो यह स्वीकार करता है कि 'बुद्धि व्यक्ति की वातावरण के साथ समायोजित होने की योग्यता है' इस वर्ग मुख्य रूप में अनेक मनोवैज्ञानिक आते हैं जैसे रास (Ross) बर्ट (Burt) स्टर्न (Stern) वुडवर्थ (Woodworth) बिने (Binet) मैकडूगल (Mc Dougall) इत्यादि। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिकों का एक दूसरा वर्ग है जो 'बुद्धि को व्यक्ति अधिगम की योग्यता स्वीकार करता है' इसमें मुख्य रूप से डीयरबार्न (Dearborn) बकिंघम (Buckingham) थार्नडाईक (Thorndike) कालविन (Calvin) इत्यादि आते हैं। इसके अलावा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का एक तीसरा वर्ग भी है 'जो बुद्धि को व्यक्ति के अमूर्त चिन्तन की योग्यता' स्वीकार करता है इस वर्ग में टर्मन (Terman) स्पीयरमैन (Spearman) बर्ट (Burt) इत्यादि की गणना की जा सकती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक वैश्लर (Wechsler) ने है 'बुद्धि को व्यक्ति को अनेकों योग्यताओं के समुच्चय' के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक 'बुद्धि' के विषय में ही पाश्चात्य मनोविज्ञान में कितना मत विभेद दिखता है इसके विपरीत भारतीय मनोविज्ञान में यह मत विभेद नहीं

दिखाई देगा जैसे 'बुद्धि' के विषय में कथन है **"बुद्धिः नामनिश्चयात्मिकान्तः-करणवृत्तिः"** (वेदान्तसार) अर्थात् बुद्धि वह है जो संकल्प और विकल्प की स्थिति में व्यक्ति के द्वारा किसी एक पर निर्णय लेने की योग्यता है, इस प्रकार 'बुद्धि' उहापोह की स्थिति में निर्णय लेने की योग्यता है उदहारण स्वरूप यदि किसी विद्यार्थी की नए-नए स्वादिष्ट व्यंजन खाने में रुचि है किन्तु उसका पाचन तंत्र उस विद्यार्थी को इस प्रकार के व्यंजन खाने की आज्ञा नही देता, तो इस परिस्थिति में वह विद्यार्थी एक ओर तो यह सोचता है कि नए-नए स्वादिष्ट व्यंजन खा लेता हूँ (यह संकल्प की स्थिति है) और दूसरी ओर वह सोचता है कि मैं इस भोजन को खा नही सकता क्योंकि मेरा पाचन तंत्र के लिए यह भोजन सुपाच्य नही है (यह विकल्प की स्थिति है) अब इस स्थिति में जो योग्यता (बुद्धि) उस विद्यार्थी को निर्णय लेने में सहायता करती है उसे 'बुद्धि' कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बुद्धि' के विषय में भारतीय मनोविज्ञान को लेकर कोई संदेह नही दिखाई देता है। यहाँ मन के विषय में भी उल्लेख किया जा सकता है की भारतीय मनोविज्ञान का मन के विषय में भी बहुत ही स्पष्ट मंतव्य है यथा **"संकल्पविकल्पात्मक मनः"** अर्थात् मनव्यक्ति के विचार करने की वह स्थिति है जब व्यक्ति संकल्प और विकल्प दोनों के मध्य दोलायमान होता है इस स्थिति को मन कहा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण भारतीय मनोविज्ञान में प्राप्त होते है जो मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय को बड़ी सहजता से स्पष्ट करते हैं। संक्षेप में यदि हम भारतीय मनोविज्ञान की प्रकृति के विषय में विचार करें तो यह हमें अधोलिखित रूप में दिखाई देता है-

- भारतीय मनोविज्ञान आत्मतत्व के अध्ययन पर बल देता है, इस आत्म तत्व में ही व्यक्ति के अन्तः पक्ष (संज्ञान, संवेग, मन बुद्धि चेतना स्वभाव व्यक्तित्व का केवलआंतरिक पक्ष, चिंतन इत्यादि) और बाह्य पक्ष (व्यवहार, शारीरिक विकास, व्यक्तित्व का केवल बाह्य पक्ष इत्यादि) समाहित है।
- भारतीय मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार समझने के लिए, बाह्य पक्ष की अपेक्षा अन्तः पक्ष के अध्ययन पर बल देता है।
- भारतीय मनोविज्ञान मानव व्यवहार के अध्ययन के लिए बहिराध्ययन विधि की अपेक्षा, अंतर्दर्शन विधि पर बल देता है इसका कारण यह है कि भारतीय मनोविज्ञान का दृढ विश्वास है कि 'व्यक्ति स्वयं का निर्माता स्वयं है'।
- भारतीय मनोविज्ञान मन की शुद्धि पर ज्यादा बल देता है, तन की शुद्धि की अपेक्षा क्योंकि इसका विशवास है कि यदि मन शुद्ध होगा, तो किसी

भी प्रकार तनाव या मानसिक परेशानी नही होगी और जब व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ होता है, तो वह शारीरिक परेशानी से भी स्वतः ही मुक्त हो जायेगा।

- भारतीय मनोविज्ञान मानव को समष्टि रूप से देखता है ना कि व्यष्टि के रूप में, इसका विश्वास है कि व्यक्ति के व्यवहारगत समस्याओं के समाधान के लिए व्यक्ति के मन का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि मन ही समस्त शारीरक क्रियाकलापों का संचालक है इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान की प्रकृति समाधान के मार्ग खोजने की अपेक्षा, समस्या के कारणों को खोजने की प्रवृत्ति पर बल देता है इसका मानना है कि यदि हम समस्या के कारणों को खोज लेगें, तो समाधान के उपाय स्वतः ही मिल जाएगा साथ ही आवश्यकता के अनुरूप इस प्रकार समस्याओं वाले अन्य व्यक्तियों पर भी इन उपायों का अनुप्रयोग किया जा सकता है।

पाश्चात्य और भारतीय मनोविज्ञान में समानताएं और विषमताएं-

प्रत्येक विषय की अपनी विशेषताएं होती है जो उसकी पहचान सदृश बन जाती है। यह बात भारतीय मनोविज्ञान और पाश्चात्य मनोविज्ञान भी लगती है। भारतीय मनोविज्ञान की भी अपनी विशेषताएँ, शोधविधियाँ तथा सिद्धांत हैं जिनके आधार पर हम भारतीय मनोविज्ञान के स्वरूप या अवधारणा को समझ सकते हैं साथ ही पाश्चात्य मनोविज्ञान की भी अपनी शोध विधियाँ तथा सिद्धांत हैं जिनके आधार पर इसके स्वरूप को समझा और जाना जा सकता है किन्तु इसके बावजूद भी भारतीय और पाश्चात्य मनोविज्ञान में कुछ समानताएं हैं जैसे दोनों के लक्ष्य में सामनता है दोनों का लक्ष्य है व्यक्ति को मानसिक स्वस्थ बनाने हेतु उपाय बताना ताकि वे मानसिक रूप से पूर्णतः स्वस्थ हो सकें साथ ही व्यक्ति को परामर्श सम्बन्धी सेवाएं उपलब्ध कराना। दूसरा यह है कि दोनों ही मानव के व्यवहार के समस्याओं के समाधान के लिए सर्वप्रथम उसके कारणों को जानकार, उन समस्याओं का निवारण के लिए संभावित उपायों पर सविस्तार चर्चा करते हैं। तीसरा ये दोनों ही प्रकार के मनोविज्ञान मानव जीवन को सुखमय बनाना चाहते है। इसी प्रकार यदि भारतीय और पाश्चात्य मनोविज्ञान में विद्यमान विषमताओं पर विचार करें तो पाश्चात्य मनोविज्ञान के विषय में पाएंगे कि यह व्यक्ति को व्यष्टि के रूप के में देखता है उदाहरण स्वरूपव्यक्ति के मन, बुद्धि और व्यक्तित्व के पृथक्-पृथक् अध्ययन पर विचार करता है किन्तु भारतीय मनोविज्ञान मानव को समष्टि रूप में देखता है इसीलिए यह व्यक्ति के अलग-अलग देखने पर विश्वास नही करता है अर्थात् यह व्यक्ति के 'आत्मतत्व'

के अध्ययन पर बल देता है ना कि मन या बुद्धि को पृथक पृथक रूप में अध्ययन करने मे। हम बात करें व्यक्ति के बौद्धिक विकास के उपायों की तो पायेगें कि भारतीय मनोविज्ञान जहाँ एक ओर एकादश इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ) के नियंत्रण को व्यक्ति के बौद्धिक विकास हेतु आवश्यक मनाता है किन्तु वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य मनोविज्ञान का यह विश्वास है किकेवल मानव व्यवहार नियंत्रण करने मात्र से ही उसका बौद्धिक विकास का किया जा सकता है।

भारतीय मनोविज्ञान की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता-

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भारतीय मनोविज्ञान अपेक्षाकृत नवीन शोध का विषय है यद्यपि भारतीय मनोविज्ञान का उल्लेख संस्कृत साहित्य काफी समय पूर्व ही किया गया या किन्तु इसका स्वरूप आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह व्यवहारवादी नहीं है। यह आत्मा के अध्ययन में ही मन, चेतना, संज्ञान तथा व्यवहार का अध्ययन स्वीकार करता है। परिणामस्वरूप इसके अध्ययन की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आवश्यकता है इसका अध्ययन वर्तमान पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक उपागम के धरातल करना ना तो न्यायसंगत होगा और ना ही व्यवहारिक क्योंकि इसका अध्ययन हम प्रयोगाधारित दृष्टिकोण से नहीं कर सकते। भारतीय मनोविज्ञान मानव व्यवहार, संज्ञान या मन के अध्ययन के लिए अन्तदर्शन विधि का प्रयोग करता है। भारतीय मनोविज्ञान संस्कृत साहित्य या अन्य भारतीय साहित्य में अप्रत्यक्ष रूप से वर्णित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों और संकल्पनाओं का संकलन और संशोधन करता है। भारतीय मनोविज्ञान केवल बुद्धि की अवधारणा मात्र को स्पष्ट नही करता है प्रत्युत बौद्धिक विकास के लिए उपाय भी बताता है बौद्धिक विकास के उपायों में सर्वप्रथम आत्मसंयम को स्वीकार किया है यह आत्मसंयम केवल पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियों के नियंत्रण तक ही सीमित नही है अपितु इस आत्मसंयम का विस्तार मनके नियंत्रण तक जाता है गीता में इसे 'स्थितप्रज्ञ' कहाहै।

टिप्पणी- भारतीय मनोविज्ञान का स्वरूप पाश्चात्य मनोविज्ञान से पृथक् है तथापि इसमें कुछ साम्यता भी है किन्तु साथ ही भारतीय मनोविज्ञान की कुछ विशेषताएं हैं, जिनका पृथक् रूप से अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। एक शोधकर्ता को इसका अध्ययन करते समय इस बात का भी विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि भारतीय मनोविज्ञान की अनावश्यक रूप से साम्यता स्थापित करने कोशिश ना करे, अन्यथा हम भारतीय मनोविज्ञान के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ ही रहेंगे साथ ही हम विषय के साथ न्याय नही कर पाएंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

- डॉ. शुक्ला लक्ष्मी, संस्करण 2009, भारतीय मनोविज्ञान संस्करण, इस्टर्न बुक डिपो नई दिल्ली.
- डॉ. जायसवाल सीताराम, संस्करण 2004 भारतीय मनोविज्ञान आर्य बुक डिपो दिल्ली.
- डॉ पाठक आर.पी, संस्करण 2009, राधा पब्लिकेशन दिल्ली.
- शुक्ल बद्रीनाथ (व्याख्याकार) वेदान्तसार: मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली.
- सिन्हा जदुनाथ भारतीय दर्शन, संस्करण 2018 मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट दिल्ली.
- वेदालंकार रघुवीर (व्याख्याकार) पातंजलयोगदर्शन संस्करण 2003 इस्टर्न बुक डिपो नई दिल्ली.
- डॉ धर्मवीर वेद और विज्ञान परोपकारिणी सभा अजमेर राजस्थान.
- Dr. Mangal S.K. and Dr. Mangal Shubhra Psychological Perspective of Education Edition 2018, Arya Book Depot New Delhi.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

शब्दशास्त्रप्रतिपादितकर्मभेदेषु निर्वर्त्यविकार्यकर्मणोर्वैलक्षण्यम्

-श्याम-सुन्दर-शर्मा

अतिथि-प्राध्यपकः, संस्कृतविभागः
जा.मि.इ. (केन्द्रीय-विश्वविद्यालयः), नवदेहली

[व्याकरणशास्त्रे प्रामुख्येन त्रिभिः सूत्रैः कर्मकारकसंज्ञा विधीयते तत्र प्रथमं 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यनेन विधीयमाना कर्मकारकसंज्ञा ईप्सितं भवति। तथा च 'तथायुक्तं चानिप्सितम्' इत्यनेन सूत्रेण विधीयमाना कर्मकारकसंज्ञा ईप्सितभिन्नं वा अनीप्सितं वा भवति। एवञ्च 'अकथितञ्च' इत्यनेन विधीयमाना कर्मकारकसंज्ञा अविवक्षितं भवति। एवं रीत्या कर्मकारकस्य के के भेदाः वाक्यपदीयकारेण उल्लिखिताः किञ्च तेषां लक्षणमित्यस्मिन् शोधपत्रे विवेचितमस्ति।]

मूलशब्दाः

व्याकरणशास्त्रम्, कारकम्, पाणिनिः, कर्मकारकम्, ईप्सिततमंकर्म, कर्मणि-द्वितीया, कर्तुरीप्सिततमं कर्म, प्रकृतिकर्म, निर्वर्त्यकर्म, विकार्यकर्म।

1. प्रस्तावना -

शब्दशास्त्रे 'कर्म' इति काचिद्विशेषसंज्ञा। तस्य च कर्मणः 'ईप्सितकर्म', 'ईप्सितभिन्नकर्म' इति प्रामुख्येन द्वैविध्यम्। अपि च तत्र ईप्सितकर्मणोऽपि 'निर्वर्त्य'-'विकार्य'- 'प्राप्य' भेदेनत्रैविध्यम्। अनीप्सितकर्मणोऽपि 'औदासीन्य'-'द्वेष्य'-'संज्ञान्तरैरनाख्यात'-'अन्यपूर्वक'-भेदेन चातुर्विध्यम्। सर्व-माहत्य कर्मणः सप्तभेदाः स्वीकृताः। तथैव भर्तृहरिणोक्तम्-

निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।
तत्रेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्॥[1]

---

1. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.45

औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम्।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम्॥[1]

2. ईप्सिततमकर्मणः भेदाः

'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इतिसूत्रम्। 'कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्' इति तद्वृत्तिः। 'कर्ता स्वक्रियया यमर्थं सम्बद्धुमिच्छति, सोऽर्थः कारकसंज्ञः सन्कर्मसंज्ञको भवति' इति तत्सूत्रार्थः। यथा- 'देवदत्त ओदनं खादति' इत्युदाहरणे देवदत्तकर्ता खादनक्रियया (गलबिलाधः संयोगानुकूलव्यापारेण) ओदनम् स्वक्रियाजन्यफलस्य (स्वम्=देवदत्तः, क्रिया=खादनक्रिया, तत्क्रियाजन्यफलम्= गलबिलाधस्संयोगः, तस्य=गलबिलाधः संयोगरूपफलस्य) आश्रयत्वेन प्राप्तुमिच्छति। 'ओदनं मम गलबिलाधः संयोगवद्भवतु' इतीच्छति देवदत्तः। अत एव ओदनस्य कर्मसंज्ञा भवति। एतच्चकर्म 'ईप्सिततमकर्म' भवति। तस्मात्तादृशेच्छायां देवदत्तः यदा भुङ्क्ते, तदा तदभिलापकं वाक्यं 'देवदत्त ओदनं खादति' इति भवति।

स्पष्टार्थमुच्यते - कर्ता स्वक्रियया यं फलाश्रयत्वेन संबद्धुमिच्छति तदीप्सितकर्म भवति। यथा- 'रामः ग्रामं गच्छति' इति वाक्ये कर्ता = रामः, स्वक्रियया = गमनक्रियया (संयोगावच्छिन्नव्यापारेण), यम् = ग्रामम्, फलाश्रयत्वेन = गमनक्रियायाः फलं संयोगः, तदाश्रयत्वेन संबद्धुमिच्छति = रामः ग्रामं गत्वा ग्रामेण सह स्वसंयोगं स्थापयितुमिच्छति। अतः 'ग्रामः' ईप्सिततमकर्म भवति। ईप्सिततमकर्मणः भेदत्रयम्- निर्वर्त्यकर्म, विकार्यकर्म, प्राप्यकर्म चेति।

3. निर्वर्त्यकर्म

'तण्डुलान् ओदनं पचति', 'काष्ठं भस्म करोति', 'दुग्धं दधि करोति', 'कुसुमान् माल्यं करोति', 'काशान् कटं करोति' 'सुवर्णं कुण्डलं करोति', 'मृत्तिकां घटं करोति' इत्याद्युदाहरणेषु तण्डुल-काष्ठ-दुग्ध-कुसुम-काश-सुवर्ण-मृत्तिकाः प्रकृतिकर्माणि = कारणकर्माणि। अपि च ओदन-भस्म-दधि-माल्य-कट-कुण्डल-घटाः विकृतिकर्माणि = कार्यकर्माणि सन्ति।

यदि कुत्रचित्स्थले 'तण्डुलान् ओदनं पचति' इत्यस्य स्थाने 'ओदनं पचति' अथवा 'तण्डुलैः ओदनं पचति', 'काष्ठं भस्म करोति' इत्यस्य स्थाने 'भस्म करोति', अथवा 'काष्ठेन भस्म करोति', 'दुग्धं दधि करोति' इत्यादिस्थाने 'दधिकरोति' अथवा 'दुग्धेन दधि करोति', 'कुसुमान् माल्यं करोति' इत्यस्यस्थाने 'माल्यं करोति' अथवा 'कुसुमान् माल्यं करोति', 'काशान् कटं करोति' इत्यस्यस्थाने 'कटं

---

1. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.46

करोति' अथवा 'काशैः कटं करोति', 'कनकं कुण्डलं करोति' इत्यस्य स्थाने 'कुण्डलं करोति' अथवा 'कनकेन कुण्डलं करोति', 'मृत्तिकां घटं करोति' इत्यस्य च स्थाने 'घटं करोति' अथवा 'मृत्तिकया घटं करोति' इत्येवं प्रकृतिवाचकपदं विहाय विकृतिवाचककर्मपदमेव प्रयुज्यन्ते, अथवा भेदेन विवक्षा क्रियते। तदा तेषां विकृतिवाचककर्मणाम् ओदन-भस्म-दधि-माल्य-कट-कुण्डल-घटादिपदानां निर्वर्त्य-कर्मसंज्ञा भवति। प्रकृतिविकृत्योरभेदविवक्षायां परिवर्तितरूपस्य नाम विकृतिः, भेदविवक्षायान्तु निर्वर्त्यमित्युच्यते।

अयमाशयः- 'तण्डुलम् ओदनं करोति' इत्यादिषु प्रकृतिविकृत्योः तण्डुलौदन-योर्यदा अभेदविवक्षा। तदा ओदनस्य विकार्यकर्मत्वम्, पूर्वत ओदनस्य प्रकृतिरूपेण सिद्धत्वात्। यदातु 'तण्डुलैः ओदनं करोति' अथवा 'ओदनं करोति' इत्यादिषु प्रकृतिविकृत्योः = तण्डुलौदनयोः भेदविवक्षा, तदा ओदनं निर्वत्यकर्म भवति। तथैव वाक्यपदीयव्याख्याकारहेलाराजाः - "मृदं घटं करोति इत्याद्येवं रूपतया न विवक्ष्यते, किं तर्हि, 'मृदा घटं करोति' इत्यादिभेदेनैव यदा प्रकृत्या सह विवक्षा, तदा तन्निर्वर्त्यं कर्म प्रचक्षते कर्मविदः"।[1] तथैव वाक्यपदीयस्य अम्बाकर्त्रीतिव्याख्याकाराः रघुनाथशर्माणः- "मृदं घटं करोति इत्यादिरूपतया अभेदविवक्षा, तदा न तन्निर्वर्त्यं कर्म, प्रकृतिरूपेण पूर्वसिद्धत्वात्। यदा तु भेदविवक्षा तयोः, 'मृदा घटं करोती'ति, तदा तन्निर्वर्त्यं कर्म, प्रकृतेः पूर्वसिद्धत्वेऽपि तदानीं विकृतेर्निर्वर्त्यमानत्वात्"[2]

'तण्डुलान् ओदनं पचति' इत्यादिषु तण्डुलं ना म निविडा वयवाः = तण्डुलावयवाः परस्परम् अत्यधिकसंलग्ना इत्यर्थः। तत्र पाकेन = जलसेचनेन अग्निसंयोगेन च, तण्डुलावयवाः शिथिलाः भवन्ति। तदोदनपदेनोच्यते। एवञ्च निविडावयवाः तण्डुलपदेन, शिथिलावयवाश्च ओदनपदेन व्यवह्रियन्ते।

	भेदविवक्षायां निर्वर्त्यकर्म		अभेदविवक्षायां विकार्यकर्म
1	'तण्डुलैः ओदनं पचति'	'ओदनं पचति'	'तण्डुलान् ओदनं पचति'
2	'काष्ठेन भस्म करोति'	'भस्म करोति'	काष्ठं भस्म करोति'
3	'दुग्धेन दधि करोति'	'दधि करोति'	'दुग्धं दधि करोति'
4	'कुसुमान् माल्यं करोति'	'माल्यं करोति'	'कुसुमान् माल्यं करोति'
5	'काशैः कटं करोति'	'कटं करोति'	'काशान् कटं करोति'

1. अम्बाकर्त्री एवं प्रकीर्णप्रकाशसहितवाक्यपदीयम्, साधनसमुद्देशः, कारिका-47 व्याख्याने, पृष्ठसंख्या- 164.
2. अम्बाकर्त्री एवं प्रकीर्णप्रकाशसहितवाक्यपदीयम्, साधनसमुद्देशः, कारिका-47 व्याख्याने, पृष्ठसंख्या- 164.

6 'कनकेन कुण्डलं करोति' 'कुण्डलं करोति' 'कनकं कुण्डलं करोति'

7 'मृत्तिकया घटं करोति' 'घटं करोति' 'मृत्तिकां घटं करोति'

4. निर्वर्त्यशब्दस्यपारिभाषिकत्वम् -

'यत् निर्वर्त्यते = निष्पाद्यते तत् निर्वर्त्यकर्म' इति व्युत्पत्त्यनुरोधेन यौगिकं निर्वर्त्यकर्म न गृह्यतेऽत्र, अपि तु निष्पाद्यत्वादन्यदेव निर्वर्त्यत्वं पारिभाषिकम् = साङ्केतिकम् = रूढमेव गृह्यते। नो-चेत् 'तण्डुलम् ओदनं पचति' इति प्रकृति-वाचककर्मपदसमभिव्याहारावस्थायामपि 'ओदनस्य' निष्पादनत्वात् निर्वर्त्यकर्म स्यात्। तथैव भूषणसारस्य दर्पणव्याख्याकारः- "यद्यपि 'निर्वर्त्यते = निष्पाद्यते' इति व्युत्पत्त्या निर्वर्त्यत्वं 'तण्डुलान् ओदनं पचति' इत्यादौ ओदनादौ विकार्यकर्मण्यप्यस्ति। तथापि प्रकृति वाचकपदासमभिव्याहृतपदोपस्थाप्यत्वे सति निष्पाद्यत्वरूपपारिभाषिक-निर्वर्त्यत्वस्य विवक्षणान्न दोषः।"[1] तथैव भर्तृहरिणा परिभाषितम्। तद्यथा-

सती वाविद्यमाना, वाप्रकृतिः परिणामिनी।
यस्य नाश्रीयते, तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते॥[2]

अयमाशयः- विकृतिवाचककर्मपदार्थकाले प्रकृतिवाचककर्मपदार्थस्य विद्यमानत्वं स्यान्न वा। यदि वाक्ये प्रकृतिवाचकपदं न प्रयुज्यते। तदा तस्य विकृतिवाचकपदस्य निर्वर्त्यकर्मसंज्ञा भवति। यथा- 'तण्डुलान् ओदनं करोति', 'काष्ठं भस्म करोति', दुग्धं दधि करोति' इत्यादिषु ओदन-भस्म-दधि-काले तेषां प्रकृतीनाम् (समवायि-कारणानाम् / उपादानकारणानाम्) = तण्डुल-काष्ठ-दुग्धादीनाम् अविद्यमानत्वं भवति। तथा च 'काशान् कटं करोति', कनकं कुण्डलं करोति', मृत्तिकां घटं करोति', कुसुमान् माल्यं करोति' इत्यादिषु विकृतिवाचकपदार्थकट-कुण्डल-घट-माल्यकाले एतेषां प्रकृतीनां काश-कनक-मृत्तिका-कुसुमानां विद्यमानत्वं भवति।

कार्यकाले कारणस्य विद्यमानत्वं स्यान्न वा उभयस्थितावपि यदि वाक्ये प्रकृतिवाचकपदं न प्रयुज्यते। तदा विकृतिवाचकपदस्यैव निर्वर्त्यकर्मसंज्ञा क्रियते। यथा- 'तण्डुलान् ओदनं करोति', 'काष्ठं भस्म करोति', 'दुग्धं दधि करोति', 'कुसुमानि मालां करोति', 'काशान् कटं करोति', 'कनकं कुण्डलं करोति', 'मृत्तिकां घटं करोति' इत्यादिवाक्यानां स्थाने क्रमशः 'ओदनं करोति', 'भस्म करोति', 'दधिकरोति', 'मालांकरोति', 'कटंकरोति', 'कुण्डलंकरोति', 'घटं करोति' इत्येवं प्रयुज्यन्ते। तदा 'ओदनम्', 'भस्म', 'दधि', 'मालाम्', 'कटम्', 'कुण्डलम्', 'घटम्' इत्यादिपदानां निर्वर्त्यकर्म भवति, न तु विकार्यकर्म इति कारिकार्थः।

---

1. भूषणसारस्य दर्पणव्याख्याकारः पृष्ठसंख्या- 159.
2. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, कारिका - 47. अथवा 3.7.47

5. विकार्यकर्म –

यदि 'तण्डुलान् ओदनं पचति', 'पुष्पाणि माल्यं करोति', 'काशान् कटं करोति' इत्यादीनि प्रकृतिवाचककर्मपदसमभिव्याहृतवाक्यानि प्रयुज्यन्ते। तदा ओदन-माल्य-कटाः विकृतिकर्माणि भवन्ति। 'तण्डुलान् ओदनं पचति' इत्यत्र पाकक्रियया निष्पाद्य ओदनः विकृतिकर्म। 'कुसुमानि माल्यं करोति' इत्यत्र कृतिक्रियया निष्पाद्यं माल्यं विकृतिकर्म। 'काशान् कटं करोति' इत्यत्र कृतिनिष्पाद्यः कटः विकृतिकर्म। विकार्यस्यैव प्रकृतिकर्मासमभिव्याहारे निर्वर्त्यपदेन व्यवहारो भवतीति। तथैवोक्तं भर्तृहरिणा –

'प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यम्'[1]

6. विकार्यपदस्य पारिभाषिकत्वम्

कर्मणः त्रैविध्येषुप्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यकर्मसु विकार्यकर्मान्तर्गतं प्रकृतिकर्म अपि ग्राह्यम्। कारिकाकर्तृभर्तृहरिमते विकारकर्मण्येव प्रकृतिकर्मापि अन्तर्भूतम्। तत्रकारिकायां प्राप्यनिर्वर्त्यविकार्यकर्मणां त्रयाणामेवोक्तत्वात्। प्रकृति कर्मणस्तत्र स्वातन्त्र्येणानभिधानात्। यदि तथान्तर्भावो न गृह्यते चेत्तदा 'काष्ठं भस्म करोति', 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इत्यादौ काष्ठसुवर्णादिकर्मगणनाय प्रकृतिकर्मापि चतुर्थकर्म स्यात्।

विकारपदस्य व्युत्पत्तिर्द्वेधा। तत्रप्रथमः – 'विकार्यते = क्रियते = निष्पाद्यते येन तद्विकार्यम्' इति करणघञन्तव्युत्पत्त्या 'काष्ठं भस्म करोति', 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इत्यादिषु काष्ठसुवर्णादीनां प्रकृतिकर्माणां विकार्यपदेन ग्रहणं भवति। तत्र द्वितीयः- 'विकार्यते यत् तत् विकार्यम्' इति भावघञन्तव्युत्पत्त्या 'काष्ठं भस्म करोति', 'सुवर्णंकुण्डलंकरोति' इत्यादिषु भस्मकुण्डलादीनां विकृतिकर्मणां विकार्यपदेन ग्रहणं जायते। परञ्च एकव्युत्पत्या प्रकृतिविकृत्युभयबोधनमशक्यम्। तथापि भर्तृहरिणा विकार्यपदस्य पारिभाषिकत्वमुक्तम्।[2] तस्माद्विकार्यपदेनप्रकृतिविकृत्युभयसाधारणकर्मणः बोधो जायते इति भर्तृहर्यभिप्रेतम्।

7. प्रकृतिकर्मणः स्वरूपम्

प्रकृतिरूपकर्मणः स्वरूपं तावत्- पाकादिक्रियया प्रकृतितण्डुलादेर्भिन्नौदनादि-वस्त्वन्तरसिद्धये, ओदनात्पूर्वं प्रकृत्यवस्थाकाले विद्यमानं यत्तण्डुलत्वरूपं तद्विशिष्टस्य सत्ताविशिष्टतण्डुलस्य असत्त्वरूपो विकारः (ओदनस्य सत्ता तण्डुलेषु नास्ति,

---

1. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.48
2. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारे कारिका 50 व्याख्याने हेलाराजः।

तण्डुलनाशानन्तरमेव ओदनस्य कार्यरूपेणोत्पत्तिः) 'ओदनो' निष्पाद्यते तत् 'तण्डुलादयः' प्रकृतिकर्म। यथा- 'तण्डुलान् ओदनं पचति' इत्यत्र पाकक्रियया तण्डुलैरोदनः क्रियते। अतः 'तण्डुलान्' इति प्रकृतिकर्म। अपि च 'कुसुमानि मालां करोति' इत्यत्र कृतिक्रियया पुष्पैः माला सृज्यते। अतः 'कुसुमानि' इति प्रकृतिकर्म। तथा च 'काशान् कटं करोति' इत्यत्र कृतिक्रियया काशैः कटः क्रियते, अतः 'काशान्' इति प्रकृतिकर्म।

प्रथमस्थले तण्डुलरूपप्रकृतिकर्मोदाहरणे 'तण्डुलान् ओदनं पचति' इत्यत्र पाकेन तण्डुलरूपधर्मिणः नाशात्पूर्वकाले विद्यमानतण्डुलस्य जायमानम् असत्त्वम्, ओदनादिकर्मान्तरस्य कार्यस्य निष्पादकं भवति। पूर्वम् असदेव 'ओदनम्' इदानीं जायते। अतः तण्डुलस्य प्रकृतिकर्मत्वम्। अन्योदाह-रणस्थले 'पुष्पाणि मालां करोति', 'काशान् कटं करोति' इत्यत्र मालाकटादिकार्यावस्थायां धर्मिणः = प्रकृतेः काशकुसुमादेः नाशो न भवति। अपि तु प्रकृतसत्त्वे एव कटसंदर्भादिविरहरूपो यः पूर्वभावः, तदसत्त्वं कृत्या निर्वाह्यते।

8. अन्यशास्त्रकारानुरोधेन निर्वर्त्यविकार्यकर्मणोर्लक्षणम्

कैश्चिच्छास्त्रकृद्भिः शास्त्रान्तरेषु प्रकारान्तरेण निर्वर्त्यकर्म विकार्यकर्म च प्रदर्शितम्। तत् भर्तृहरिणा अनूद्यते। तद्यथा-

कैश्चिदन्यथा।
निर्वर्त्यं च विकार्यं च कर्म शास्त्रे प्रदर्शितम्॥[1]

तद्यथा -

यदसज्जायते,सद्वाजन्मनायत्प्रकाश्यते।[2]
तन्निर्वर्त्यं,

'यत् असत् जायते', 'यत् सत् जन्मना प्रकाश्यते' इत्यन्वयः। अत्र कारिकायां भागद्वयम्। तत्र प्रथमः 'यत् असत् जायते'। द्वितीयः 'यत् सत् जन्मना प्रकाश्यते' इति। तत्र प्रथमभाग असत्कार्यवादिनां न्यायवैशेषिकमतानुरोधेन भर्तृहरिणा अनूदितः। तथा च द्वितीयभागः सत्कार्यवादिनां सांख्यमतानुरोधेन भर्तृहरिणा अनूदितः।

10. यत् असत् जायते - असत्कार्यवादिनां न्यायवैशेषिकमतानुरोधेन-

दर्शनेषु कार्यकारणवादे प्रामुख्येन मतद्वयम्। तत्र एकः 'असत्कार्यवादः' कार्योत्पादनात्पूर्वं तस्य कार्यस्य सत्ता स्वकारणे न विद्यते। कारणनाशानन्तरमेव

1. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.48
2. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.49

कार्योत्पत्तिर्जायते इति असत्कार्यवादः। अस्मिन्वादे पूर्वतः विद्यमानद्रव्यस्य = प्रकृतेः नाशानन्तरमेवनवीनद्रव्यस्योत्पत्तिर्भवति। **'असदेव हि कार्यमुत्पद्यते'** इति न्यायवैशेषिकानां मतमिदम्। यथा- 'काष्ठं भस्मराशिं करोति' इत्यादौ काष्ठानां नाशः, तदैव भस्मोत्पत्तिर्भवति, न तु प्रकाश्यते। यदुत्पादनक्रियातः पूर्वम् असत् = अविद्यमानम् = प्रत्यक्षस्य अविषयः आसीत्, तत् (सद्रूपे) जायते = प्रत्यक्षविषयो भवति। तत्कर्म निर्वर्त्यकर्मोच्यते। अत्र 'तण्डुलान् ओदनं करोति' इत्यत्र तण्डुल-नाशानन्तरम् ओदनस्योत्पत्तिर्जायते। अतः ओदनपदस्यन्यायवैशेषिकनये निर्वर्त्यकर्मत्वं भवतीत्यर्थः कारिकायाः।[1]

वैशेषिकाः पाकजप्रक्रियायां पीलुपाकवादिनः। पीलवः = परमाणवः / अवयवाः। तेषां नये पाकजप्रक्रियायां काष्ठादिद्रव्यं काष्ठादीनां द्व्यणुकपर्यन्तं नाशः। परमाणव अवशिष्यते। तदा काष्ठपरमाणुभिर्भस्मोत्पत्तिर्भवति। 'काष्ठं भस्मकरोति' इत्यत्र वैशेषिकेषूत्पत्तिक्रम एवं भवति- आदौ काष्ठं भवति, ततः काष्ठद्व्यणुकम्, ततः काष्ठपरमाणवः, ततः भस्मद्व्यणुकम्, ततः भस्म उत्पद्यते। अत्र काष्ठाद्भस्मपर्यन्त-प्रक्रियायां पञ्चक्षणाः, अष्टक्षणाः, नवक्षणाः, दशक्षणाः, एकादशक्षणा इति मतभेदेन वैशेषिकाः स्वीकुर्वन्ति। तथैव "एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्। तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये" इति कारिकाव्याख्याने विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्येण न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यामुक्तम्।[2]

अपि च नैयायिकाः पाकजप्रक्रियायां पिठरपाकवादिनः। पिठरः = अवयवी। 'काष्ठं भस्म करोति' इत्यत्र नैयायिकेषूत्पत्तिक्रम एवं भवति- पाकजप्रक्रियायां आदौ काष्ठगतरूपरसगन्धस्पर्शानां विनाशः। ततः तत्रैव द्रव्ये नूतनरूपरसगन्ध-स्पर्शानामुत्पत्तिः। अवयवाः = काष्ठपरमाणवः। अवयवी = काष्ठद्रव्यम्। **'अवयवेषु-पाकः' इतिवैशेषिकाः। 'अवयवीषुपाकः' इतिनैयायिकाः।**[3]

11. यत्सत्जन्मनाप्रकाश्यते-सत्कार्यवादिनांसांख्यमतानुरोधेन

तत्र अपरः 'सत्कार्यवादः' कार्योत्पादनात्पूर्वं तस्य कार्यस्य सत्ता स्वकारणे विद्यते। कारणमेव कार्यरूपेण परिणमते। अर्थात् 'पूर्वतः विद्यमानद्रव्यमेव कार्यरूपेण परिवर्त्यते' इति सत्कार्यवादः। अस्मिन्वादे प्रकृतिनाशो न भवति, अपि तु तत्रैव

---

1. "वैशेषिकाद्यनुसारेण यत् असत् जायते, सांख्यमतेन सत् एव जायते, तद् उभयमपि जन्मना प्रकाश्यमानत्वात् निर्वर्त्यं कथ्यते", इति हेलाराजः 49 कारिकाव्याख्याने, पृष्ठसंख्या- 165.
2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली 105 कारिकाव्याख्याने मुक्तावल्याम्।
3. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली 105 कारिकाव्याख्याने मुक्तावल्याम्।

गुणान्तराणाम् आधानं भवतीति सांख्ययोगाचार्याणां मतमिदम्। यथा- 'तण्डुलान् ओदनं करोति' इत्यत्र तण्डुलमेव नूतनरूपेण = ओदनरूपेण निर्वर्त्यते = परिवर्त्यते। परिवर्तनादनन्तरमेव तस्य स्वरूपं प्रकाश्यते, न तु उत्पद्यते। तण्डुलनाशं विनैव तत्रैव ओदनस्योत्पत्तिर्जायते। अत ओदनस्य प्रकाश्यत्वात् तदोदनस्य सांख्ययोगनये निर्वर्त्यकर्मत्वं भवतीति।[1]

12. शास्त्रान्तरानुसारंविकार्यकर्मणः भेदाः -

विकार्यंचकर्मद्वेधाव्यवस्थितम्।।[2]

प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चिद् काष्ठादिभस्मवत्।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्।।[3]

विकार्यकर्मणः द्वैविध्यं भवति। तत्र प्रथमः - कुत्रचित् प्रकृत्युच्छेदसंभूतम्= प्रकृतिनाशसंभूतम् यत्कर्म तद्विकार्यम्, यथा- 'काष्ठं भस्मराशिं करोति' इत्यत्र दाहेन काष्ठविनाशो भवति। ततः भस्म उत्पद्यते, तस्मात् 'भस्म' प्रकृत्युच्छेदसंभूतरूप-विकार्यकर्म भवति। यदि 'काष्ठं भस्मराशिं करोति' इति प्रकृतिवाचकपदसमभिव्यहृत-वाक्यप्रयोगो वा, 'भस्मराशिं करोति' इति प्रकृतिवाचकपदासमभिव्यहृतवाक्यप्रयोगो वा उभयत्र 'भस्मनः' प्रकृत्युच्छेदसंभूतरूपविकार्यकर्मत्वं भवति।

तत्र द्वितीयः - कुत्रचित् गुणान्तरोत्पत्त्या = आकृतिविशेषोत्पत्त्या, प्रकृतेः = कारणस्य, नाशं विनैव, तत्र प्रकृतौ गुणान्तरसन्निवेशात् धर्मान्तरोत्पत्त्या जायमानं यत्कर्मतद्विकार्यम्। यथा- 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इत्यत्र सुवर्णस्य नाशं विना तत्रैव सुवर्णावयवे गुणान्तरसन्निधानेन निष्पन्नं 'कुण्डला-दिकम्' गुणान्तरोत्पत्तिरूपविकार्यकर्म भवति। यदि 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इति प्रकृतिवाचकपदसमभिव्यहृतवाक्यप्रयोगो वा, 'कुण्डलं करोति' इति प्रकृतिवाचकपदासमभिव्यहृतवाक्यप्रयोगो वा उभयत्र 'कुण्डलस्य' गुणान्तरोत्पत्तिरूपविकार्यकर्मत्वं भवतीति। पूर्वलक्षणे तु प्रकृतेर्विवक्षायामेव विकार्यं भवति। अत्र तु तदविवक्षायामपि तस्य विकार्यत्व मिति विशेषः।

तत्र प्रथमे कार्यावस्थायां प्रकृतिः नतिष्ठति, द्वितीये तिष्ठतीति भेदः। यद्यपि असत्कार्यवादिनां नैयायिक-वैशेषिक-बौद्धानां नये 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इत्यत्रापि अपूर्वस्य कुण्डलस्य उत्पत्तिर्भवति। तथापि तदेवेदं सुवर्णमिति प्रत्यभिज्ञानाल्लोके

---

1. "वैशेषिकाद्यनुसारेण यत् असत् जायते, सांख्यमतेन सत् एव जायते, तद् उभयमपि जन्मना प्रकाश्यमानत्वात् निर्वर्त्यं कथ्यते", इति हेलाराजः 49 कारिकाव्याख्याने, पृष्ठसंख्या-165.
2. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.49
3. वाक्यपदीयस्य साधनसमुद्देशे कर्माधिकारः, 3.7.50

तयोः सुवर्णकुण्डलयोरभेदो निश्चीयते। वस्तुतस्तु गुणमात्रस्यैव भेदः सुवर्णकुण्डलयोः वर्तते। एवं गुणान्तरस्याधानात् यत्र भेदव्यपदेशो भवति। तत्रापि विकार्यकर्म इति व्यवहारो भवति। एवं निर्वर्त्यविकार्यकर्मणोर्लक्षणे अन्यशास्त्रकाराणां मतानुवादः भर्तृहरिणा कृतः।

13. उभयमतानुसारम्

भर्तृहरिसम्मतप्रथमकल्पे 'तण्डुलान् ओदनं करोति' इत्यादिषु प्रकृतिविवक्षायान्तु 'ओदनस्य' विकार्यकर्मत्वमेवेति। 'ओदनं करोति' इत्यत्र प्रकृतेरविवक्षायाम् ओदनादिकं निर्वर्त्यकर्म। तथा च 'तण्डुलान्' इति प्रकृतिरपि विकार्यकर्म। वैयाकरणैः प्रकृति-कर्मणोन्तर्भावो विकार्यकर्मण्येव क्रियते।[1] प्रकृतिः= काष्ठम् =विकार्यकर्म, काष्ठ-भस्मनोरभेदकारणात् भस्मनोऽपि विकार्यकर्मत्वमित्यवगन्तव्यमितिविशेषः। भर्तृहरिणा अनूदिते शास्त्रान्तरसम्मते द्वितीयकल्पे 'ओदनं करोति' इत्यत्र प्रकृतेरविवक्षायामपि ओदनस्य विकार्यकर्मत्वमेवेति विशेषः।

14. दर्पणव्याख्याकारास्तु -

'प्रकृत्युच्छेदसंभूतमि'ति कारिकायाः व्याख्यानम् एवं विदधाति भूषणसारस्य दर्पणव्याख्याकारः - "यद्यपि विकार्यं द्वेधा-प्रकृतिर्विकृतिश्चेत्येव वक्तुमुचितम्, तथापि विकृतिद्वैविध्येऽवगते प्रकृतावपि विकार्यत्वं ज्ञातप्रायं भवतीत्याशयेन तदनुक्त्वैव विकृतिकर्म एव विभजते- प्रकृत्युच्छेदेति।"[2]

तेषामयमाशयः - विकार्यं कर्म द्विविधं - प्रकृतिर्विकृतिश्चेति। विकृतिरूपं विकार्यंद्विविधम्। प्रकृतेर्नाशेनोत्पन्नमेकम्, यथा- काष्ठविनाशेनोत्पन्नं भस्मादिः। प्रकृतौ रूपान्तरोत्पत्तिरूपं द्वितीयम्, यथा- सुवर्णे कुण्डलादिकम्। एवं प्रकृतिरूपविकार्यमपि द्विविधम्। स्वरूपनाशं प्राप्तमेकम्, यथा- काष्ठं भस्मकरोतीत्यादौ काष्ठादिः। धर्मान्तरोत्पादस्य आधारभूतं द्वितीयम्। यथा- सुवर्णं कुण्डलं करोती-त्यादौ सुवर्णादिः। एवं च काष्ठं भस्म करोति, सुवर्णं कुण्डलं करोतीत्यादौ काष्ठसुवर्णादिकं भस्मकुण्ड-लादिकं चोभयमपि विकार्यकर्मैव। "प्रकृत्युच्छेदसम्भूतम्" इति ग्रन्थो विकाररूप-विकार्यकर्मणो भस्मादेः कुण्डलादेश्च लक्षणप्रदर्शनपरः, न काष्ठसुवर्णादिरूपस्य प्रकृतिविकार्यकर्मणो लक्षणप्रतिपादनपरः। विकारकर्मणोः द्विविधत्वेऽर्थात्प्रकृतावपि द्वैविध्यमवगतमेव स्यादित्याशयेन तदनुक्तिः। प्रकृते-रुच्छेदेन = नाशेन, सम्भूतम् =

---

1. 'पूर्वत्र तु प्रकृतिः साक्षात् विकार्यं कर्म, तदभेदेन विकारोऽपि', इति हेलाराजः साधनसमुद्देशस्य 50 तमां कारिकाव्याख्याने, पृष्ठसंख्या- 167 (वाक्यपदीयम्, तृतीयकाण्डम्, अम्बाकर्त्रीसहितम्)
2. दर्पणव्याख्या, सुबर्थनिर्णये, पृष्ठसंख्या-185.

उत्पन्नम्। भस्मवत् = भस्मसजातीयं विकारजातंविकार्यम्। सुवर्णादिः = सुवर्णादिकमपि विकार्यमिति हरिग्रन्थार्थः। एवं च काष्ठं भस्म करोतीत्यादौ द्वयमपि विकार्यं कर्मैव। तत्र काष्ठं प्रकृतिविकार्यं, भस्म तु विकाररूपविकार्यमिति विशेषः। एवं सुवर्णं कुण्डलं करोतीत्यादावपीति। (आरेखः -108)

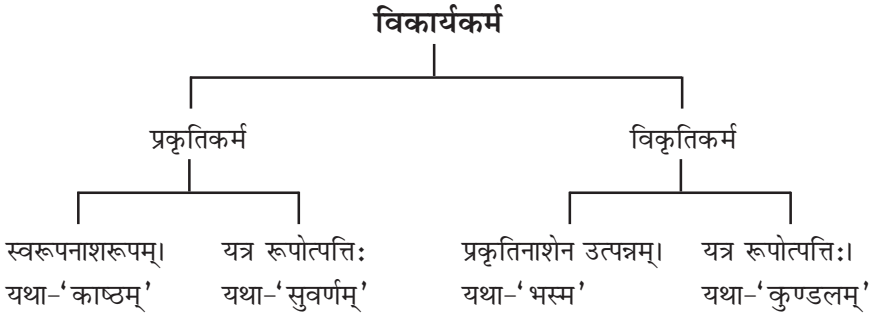

15. दर्पणकारस्यखण्डनम् - 1

भूषणसारस्य तत्त्वदर्शिनीव्याख्याने श्रीपेरिसूर्यनारायणशास्त्रिणः दर्पणव्याख्यानं खण्डयन्ति।[1] तद्यथा- "अत्रेदं चिन्त्यम् - हेलाराजभूषणकृदादिभिरादृतस्य निर्वर्त्य-विकार्यकर्मणोर्मतभेदेन प्रकारभेदस्य दर्पणरीत्याऽलाभेन प्रामाणिकग्रन्थविरोधः "सती वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी। यस्य नाश्रीयते तस्य निवड प्रचक्षते। प्रकृतेस्तु विवक्षायाम्" इति हरिग्रन्थो लोकप्रतीत्यनुसारेण निर्वर्त्यविकार्यकर्मणोर्लक्षण-प्रतिपादनपरः, "कैश्चिदन्यथा निर्वर्त्यं च विकार्य च कर्मशास्त्रे प्रदर्शितम्" इत्यादिको हरिग्रन्थः शास्त्रकृन्मताश्रयेण तयोस्तत्प्रतिपर इतिविभागेन हेलाराजादिभिव्याख्यातः। दर्पणकारैस्तु एतादृशविभागपरित्यागेनैकरूपतयैव हरिग्रन्थो व्याख्यातः। अत्र दर्पण-ग्रन्थस्यौचिती कियतीति दोषज्ञाः सहृदया एवं प्रमाणम्। किञ्च 'प्रचक्षते, कैश्चिदन्यथा मतान्तरत्वस्फोरकशब्दस्वारस्यं भज्येत। किञ्चवाक्यपदीयएतत्सन्दर्भे "निर्वर्त्यं च विकार्यं च कर्म शास्त्रे प्रदर्शितम्" इत्यर्धश्लोको विद्यते। दर्पणकारैराश्रिते पाठे सोऽनन्वित एव स्यात्। निर्वर्त्यविकार्ययोः द्विग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च।

किञ्चोत्पत्तिरूपकृधात्वर्थफलाश्रितत्वरूपकर्मसामान्यलक्षणाक्रान्तस्यविकार्यस्य "विकार्यं तु द्वेधा कर्म व्यवस्थितम्" इति विशेषरूपेण प्रदर्शने का वाऽर्थान्तरतापत्तिः। एवं चैतामनुपपत्तिमुद्भाव्य तत्परिहाराय जन्मना यत्प्रकाशते" इत्यनन्तरं "प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यं कैश्चिदन्यथा। तन्निर्वर्त्यं" इति वाक्यपदीयपाठकल्पनं दर्पणकाराणा-मत्यन्तमसङ्गतमेव।

---

1. भूषणसारस्य तत्त्वदर्शिनीव्याख्या परिसूर्यनारायणशास्त्रिकृता, पृष्ठसंख्या- 332-335.

कथमन्यथा निर्वर्त्यस्यापि सामान्यरूपेण लक्षणमप्रदर्शयित्वा "यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत्प्रकाशते। (अन्यथा) प्रकृतेरविवक्षायां निर्वर्त्यम्" इति विशेषलक्षण-प्रतिपादनं घटेत। "यदसज्जायते" इत्यादिनिर्वर्त्यस्य विशेषलक्षणप्रतिपादकमिति कौस्तुभे स्पष्टम्। किञ्च निपूर्वाद् वृतुधातोश्चुरादिण्यन्तात् "अचो यत्"[1] इति यत्प्रत्यये णिनिमित्तके लघूपधगुणे 'णेरनिटि"[2] इति णिलोपे निर्वर्त्यमिति रूपम्। निर्वर्तनार्हमित्यर्थः। निर्वर्तनं च निष्पादनम्। असतो वस्तुन उत्पत्तिरिति यावत्। विपूर्वात्करोतेः "ऋहलोर्ण्यत्"[3] इति ऋदन्तलक्षणे ण्यति विकार्यमिति रूपम्। निर्वर्त्यमित्यत्र यत्प्रत्ययो विकार्यमित्यत्र ण्यत्प्रत्ययश्च "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः"[4] इति "अर्हे कृत्यतृचश्च"[5] इत्यर्हार्थं बोधयतः। विकार्यमित्यस्य विकारार्हमित्यर्थः। एवं च निर्वर्त्यपदेन घटं करोतीत्यादौ घटादेर्ग्रहणम्। काष्ठं भस्म करोतीत्यादौ निर्वर्त्यं भस्म, विकार्यं काष्ठमिति स्पष्टमवगम्यते। एष च विभागः कौस्तुभे स्पष्टः। भस्म विकारार्हं न भवति, विकार एव हि तत्। तदर्हं च प्रकृतिभूतं काष्ठादिकमेव। भूषणादावपि काष्ठं विकार्यकर्म, भस्म निर्वर्त्यकर्म" इति स्पष्टमेव प्रतिपादितम्। एवं च 'काष्ठं भस्म करोती'त्यादौ काष्ठभस्मनोरुभयोरपि विकार्यकर्मत्वप्रतिपादनं दर्पणकाराणामनुचितमेव, प्रामाणिक-ग्रन्थविरुद्धं च। गदाधरभट्टाचार्या अपि भस्मादेर्निर्वर्त्यत्वमेवाभिप्रयन्ति। खण्डदेवादयोऽपि भस्मादेर्निर्वर्त्यत्वं प्रतिपादयामासुः। किञ्च दर्पणोक्तरीत्या विकार्यकर्मणश्चतुर्विधत्वलाभेन 'विकार्यं तु द्वेधा" इति वाक्यपदीयविरोधः।

नच"प्रकृत्युच्छेदसम्भूतम्" इति ग्रन्थो विकाररूपविकार्यस्य लक्षणं प्रतिपादयति। विकृतिद्वैविध्येऽवगते प्रकृतावपि विकार्यत्वं ज्ञातप्रायं भवतीति तदुक्तरीत्या न तद्विरोध इति वाच्यम्। तस्य विकृतिरूपविकार्यमात्रस्य लक्षणप्रतिपादकत्वे मध्ये "काष्ठादि, सुवर्णादि" इत्येतयोरनन्वयापत्तेः। अपि च प्रकृतेः = आत्मनः, उच्छेदम् = नाशम्, सम्भूतम् = प्राप्तमिति व्युत्पत्त्याश्रयणेन काष्ठस्य, प्रकृतेरुच्छेदेन = नाशेन, सम्भूतम् = उत्पन्नमित्यर्थाश्रयणेन भस्मनश्च विकार्यत्वलाभेन "प्रकृत्युच्छेदसम्भूतम् इति वाक्यपदीयग्रन्थो विकृतिरूपविकार्यकर्मलक्षणमात्रप्रतिपादनपर इति कथनमपि दर्पण-काराणामसङ्गतमेव।

न च सिद्धान्तेऽपि निरुक्तव्युत्पत्तिद्वयाश्रयणेन काष्ठभस्मनोरुभयोरपि विकार्यत्वमेव स्वीक्रियतामिति वाच्यम्। विकार्यं तु द्वेधा" इत्यस्यासङ्गत्यापत्तेः।

---

1. पाणिनिसूत्रम् 3-1-91
2. पाणिनिसूत्रम् 6-4-52
3. पाणिनिसूत्रम् 3-1-124
4. पाणिनिसूत्रम् 3-4-70
5. पाणिनिसूत्रम् 3-3-69

भस्मनो निर्वर्त्यत्वप्रतिपादकभूषण-कौस्तुभ-पदमञ्जरी-व्युत्पत्तिवाद-भाट्टरहस्यादि-प्रामाणिकग्रन्थविरोधापत्तेश्च।

किञ्च तदादृतवाक्यपदीयपाठपर्यालोचनायां काष्ठं भस्म करोतीत्यादावसतो जातस्य भस्मनः प्रकृतेः काष्ठस्य विवक्षायां विकार्यत्वसिद्धावपि एतद्दशायां काष्ठस्य सिद्धवस्तुतया तस्य जन्माभावेन प्रकृतेरभावेन च तन्मते विकार्यत्वसिद्धिः।

किञ्चैवं काष्ठादेरविकार्यतया, एतद्दशायामनिष्पाद्यत्वेनानिर्वर्त्यतया, तत्र क्रिया-कृतविशेषस्य प्रत्यक्षेणोपलब्ध्याऽप्राप्यतया च तुरीयतापत्तिः।

किञ्च तण्डुलानोदनं पचतीत्यादावोदनादौ निर्वर्त्यते = निष्पाद्यत इति व्युत्पत्त्या निर्वर्त्यत्वमतिप्रसक्तमित्यपि न युक्तम्। पदमञ्जर्यादिप्रामाणिकग्रन्थेभ्य ओदनार्थत्वस्यैव लाभात्। एवञ्च एतदतिप्रसक्तिवारणाय निर्वर्त्ये प्रकृतिवाचकपदासमभिव्याहृत-पदोपस्थाप्यत्वे सतीति विशेषणं देयमित्यर्थप्रतिपादनपरः "सती वाऽविद्यमाना वा" इति हरिग्रन्थ इति तदुक्तिरपि चिन्त्यैव। अतो हेलाराजादिभिरादृतपाठविरुद्धवाक्य-पदीयपाठकल्पनं, काष्ठं भस्म करोतीत्यादौ काष्ठभस्मनोरुभयोरपि विकार्यत्वप्रतिपादनं च दर्पणकाराणामत्यन्तमसङ्गतं, प्रामाणिकमूलग्रन्थानवलोकनमूलकं च। "न तत्त्वम-ग्रहीषुस्ते मूलग्रन्थानवेक्षणात्" इत्यलंपल्लवितेन।।

16. दर्पणकारस्यखण्डनम् - 2

भूषणसारस्य सारदीपिकाव्याख्याने दीनबन्धुशास्त्रिणः दर्पणव्याख्यानं खण्डयन्ति। तत्रादौ भूषणसारमूलम् - 'घटं करोति' इत्याद्यम्। 'काष्ठं भस्म करोति', इति 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इति च द्वितीयम्। 'घटं पश्यति' इति तृतीयम्। 'तृणं स्पृशति' इत्युदासीनम्। 'विषं भुङ्क्ते' इति द्वेष्यम्। 'गांदोग्धि' इति संज्ञान्तरैरनाख्यातम्। 'क्रूरमभिक्रुध्यति' इतिअन्यपूर्वकम्।"[1]

दीपिकाव्याख्या[2] - आद्यमिति। निर्वर्त्यमित्यर्थः। अत्र प्रकृतिवाचकप्रयोगे तु 'मृदं घटं करोति' इति विकार्यमेवेति बोध्यम्। द्वितीयमिति। विकार्यमित्यर्थः। काष्ठसुवर्णयोः प्रकृत्योरनुपादाने तु निर्वर्त्यमेव। एवं 'सोमं सुनोति', 'काष्ठं भिनत्ति', 'गेहं दहति' इत्यादिकमपि विकार्योदाहरणम्। अत एव 'सोमं सुनोतीति विकार्ये च' इत्युक्तं मूले। एतेन - "यद्यपि विकार्यं द्वेधा प्रकृतिविकृतिश्च इत्येव वक्तुमुचितम्। तथापि विकृतिद्वैविध्ये अवगते प्रकृतावपि विकार्यत्वं ज्ञातप्रायं भवतीत्याशयेन तदनुक्त्वैव विकृतिकर्म विभजतेप्रकृत्युच्छेदेति।"[3] इतिदर्पणोक्तमपास्तम्, विकार्यकर्मणो

---

1. भूषणसारः, पृष्ठसंख्या- 161.
2. भूषणसारस्य सारदीपिकाव्याख्याने दीनबन्धुशास्त्रिणः, पृष्ठसंख्या-167.
3. दर्पणव्याख्या पृष्ठसंख्या-160.

बहुविधत्वेन प्रकृतिविकृतिश्चेति विभागानौचित्यात्, विभाजकतावच्छेदककूटस्यविभज्य-मानतावच्छेदकव्यापकत्वनियमात्। अन्यथा द्रव्यं द्विविधम्, पृथ्वी जलं चेति विभागापत्तेः।

17. प्रकाशव्याख्याकारः -

अत्र व्युत्पत्तिवादस्य प्रकाशव्याख्याकारः - "वस्तुतस्तु 'प्रकृत्युच्छेदसंभूतम्' इति कारिकायाः न पूर्वोक्त आशयः। किन्तु यदुच्छेदेन निर्वर्त्यं कर्म उत्पन्नं सा प्रकृतिः विकार्यं कर्मेत्युच्यते। तत्र दृष्टान्तः 'काष्ठादिः भस्मवत्' इति। एवञ्च 'काष्ठं भस्मराशिं करोति' इत्यादौ काष्ठोच्छेदसंभूतं भस्म निर्वर्त्यकर्म, काष्ठं विकार्यं कर्मेति। किञ्चित् गुणान्तरेत्यादेश्च 'यस्यां प्रकृतौ विद्यमानायामेव गुणोत्पत्तिः प्रत्याय्यते तदपि द्वितीयं विकार्यकर्म'। तत्र दृष्टान्तः सुवर्णादिविकारवदिति। यथा - 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' इत्यादौ विद्यमानमेव शलाकास्वरूपं सुवर्णम् अवयवानाम् अनारम्भकसंयोगविरोधिकर्मणा भग्नत्वगुणोत्पत्त्या विकार्यम्। एवञ्च एतत्पक्षे भस्मकुण्डलादिकमेव निर्वर्त्यकर्म प्रकृतिरेव च विकार्यं कर्मेति न तुरीयत्वशङ्का-वकाशः।"[1]

18. उपसंहारः

भर्तृहरिणा प्राप्यं निर्वर्त्यं विकार्यञ्चेति त्रिविधं कर्मोक्त्वा प्राप्यकर्मलक्षणं क्रियाकृतविशेषाणामिति कारिक या प्रदर्शितम्। निर्वर्त्यविकार्ययोर्मध्ये तु पक्षद्वयं प्रदर्शितम्। तत्रैकः स्वपक्षः "सती वा विद्यमाना वा' इत्येककारिकासहितेन 'प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यं' इति कारिकाभ्यामेव स्फुटीकृतः। तथा च यस्य कर्मणः प्रकृतिरुपादानतया न विवक्षिता तत्कर्म निर्वर्त्यम्। यथा 'कटं करोति' इत्यादौ कटादिः। यस्य तु प्रकृतिरपि विवक्षिता तत्कर्म विकार्यम्। यथा 'काशान् कटं करोति' इत्यादौ कटादिरिति। एवञ्चैतत्पक्षे प्राप्यनिर्वर्त्यभिन्नकर्मत्वमेव विकार्यकर्मत्व-मित्यवगम्यते। प्रकृतकर्मणोऽपि विकारेऽन्तर्भावः। 'तण्डुलम् ओदनं करोति' इत्यादिषु प्रकृतिविकृत्योः तण्डुलौदनयोरभेदविवक्षात्वात् ओदनस्य विकार्यकर्मत्वम्, पूर्वतः ओदनस्यप्रकृतिरूपेण सिद्धत्वात्। यदा तु 'तण्डुलैः ओदनं करोति' इत्यादिषु प्रकृतिविकृत्योर्भेदविवक्षा तदा ओदनं निर्वर्त्यकर्म भवतीति स्वमते भर्तृहरिणा प्रतिपादितम्। अन्येषां पक्षः 'यदसज्जायते....' इत्यादिना 'प्रकृत्युच्छेद....' इति कारिकाभ्यां प्रदर्शितः। अतो न विरुद्धार्थप्रतिपादकतत्तत्कारिकोल्लेखेन प्रकृतग्रन्थोऽसङ्गत इति।

✦✦✦

1. प्रकाशव्याख्यानम् पृष्ठसंख्या-182.

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

प्रमाणमञ्जरी में वर्णित गुणपदार्थ एक अन्वेषण

-डॉ. भूपेन्द्र कुमार राठौर
हाडौती संस्कृत अकादमी, कोटा (राज०)

[अस्मिन् लेखे प्रमाणमञ्जरीग्रन्थे उपवर्णितः गुणपदार्थः विवेचितः विद्यते, कति गुणाः, तदर्थाः, तल्लक्षणं सम्यग् न्यरूपि]

वैशेषिकदर्शन की सनातन प्रवाहमानधारा में 10वीं शताब्दी के अन्तर्गत आचार्यों में तार्किकचक्रचूड़ामणि सर्वदेवसूरि का नाम प्रमुखतः उल्लेखनीय है। ये काश्मिर के निवासी तथा शैव ब्राह्मण थे। बौद्धमतों के खण्डनपूर्वक वैशेषिक सिद्धान्तों का प्राचीन न्याय की भाषा में सहज सरल रूप से प्रतिपादन करने वाले प्रमाणमञ्जरीकार सर्वदेव सूरि का नाम आज भी अमर है। आचार्य प्रणीत प्रमाणमञ्जरी ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन का एक अमूल्य नवीनतम प्रकरण ग्रन्थ हैं जिसमें वैशेषिक पदार्थों का तार्किक विवेचन प्राप्त होता है। प्रमाणमञ्जरी का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ बताते हुए इसके टीकाकार बलभद्र मिश्र ने लिखा है कि- **प्रमाणं प्रकृतं शास्त्रम्। तत् पादपस्थानीयम्, तस्येयं मञ्जरी वल्लरी अभिनव-पल्लवस्थानीयेति।**[1] अर्थात् प्रमाण का अर्थ है वैशेषिक शास्त्र, उसका मञ्जरीभूत यह ग्रन्थ है। वैशेषिक शास्त्र की उपमा वृक्ष से दी गई है। उसकी मञ्जरी अर्थात् वैशेषिकदर्शन के विवेच्यविषयक पदार्थ आदि ही इस ग्रन्थ में वर्णित है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अन्वर्थ संज्ञा युक्त है। किरणावली ग्रन्थ की प्रस्तावना में डॉ. गौरीनाथशास्त्री लिखते है कि- प्रमाणमञ्जरी अतिप्राचीन तथा प्रामाणिक वैशेषिक ग्रन्थ है।[2] प्राध्यापक धमेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपनी भारतीयदर्शनशास्त्र नामक पुस्तक में लिखा है कि- वैशेषिक प्रकरण ग्रन्थों में सर्वदेवसूरि की प्रमाणमञ्जरी रचना अत्यधिक प्राचीन प्रतीत होती है।[3] यह प्रमाणमञ्जरी लघुकायविशिष्ट ग्रन्थ होते हुए भी सार्थक संज्ञायुक्त प्राचीनतम ग्रन्थ रत्न है। वैशेषिकसूत्र जो महर्षि कणाद विरचित है, इनके ऊपर प्रशस्तपादभाष्य तथा उदयनादि के द्वारा विरचित ग्रन्थों

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-16।
2. प्रमाणमञ्जरी पृ.-03 बलभद्रटीका।
3. किरणावली (भूमिका) पृ.-81 सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय-1980।

की क्लिष्टता के कारण ही तार्किकचक्रचूड़ामणि श्री सर्वदेवसूरि ने इस दुर्गम कणाद के कण्टकों में सामान्यजनों का सुखपूर्वक प्रवेश कराने के लिए अति सरस शैली में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। सामान्य दर्शन के ज्ञाता भी इस ग्रन्थ को पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्रमाणमञ्जरी वैशेषिकदर्शन का प्रमाणभूत प्राचीनतम प्रकरण ग्रन्थ है। पाराशर उपपुराण के अन्तर्गत प्रकरण का लक्षण मिलता है- **शास्त्रैकदेशसम्बद्धशास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।**[1] यह लक्षण प्रमाणमञ्जरी में सर्वथा अक्षरशः प्रतिफलित होता है। प्रमाणमञ्जरी के टीकाकार अद्वयारण्य ने लिखा है कि- **प्रमीयतेखनेनेतिप्रमाणम्। प्रमाणतर्कशास्त्रम्। तच्चबुद्धिस्थंकाणादम्। तस्यमञ्जरी-वल्लरीकल्पपादपस्थानीयशास्त्रस्याभिनवपल्लवस्थानीयेयं प्रक्रियेत्यर्थः**[2] अर्थात् वैशेषिकशास्त्र की पदार्थ व प्रमाणमीमांसा का विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि जिसके द्वारा प्रमेयों का ज्ञान किया जाता है, वह तर्क है। प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होती है अतः प्रमाण को तर्क कहा जा सकता है। इसीलिए टीकाकार ने पुनः लिखा है- **प्रमाणादिभावाभावपदार्थवर्णनं दृश्यते यतः। सत्यम्, तथापिषडेवभावाः, द्वे एव प्रमाणे इत्यादिमहत्तरावान्तरभेदेनापुनरर्थता**[3] अर्थात् वैशेषिक ग्रन्थ में प्रचलित भाव-अभाव पदार्थ का इसमें वर्णन दृष्ट्रिगोचर है। वास्तव में सत्य है फिर भी छः भाव पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय) अभावपदार्थ तथा प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण का भेदोपभेद वर्णन इसमें प्राप्त होता है। वामन टीकाकार का भी यही मत है कि महर्षिकणाद प्रणीत वैशेषिकदर्शन कल्पवृक्ष है, इसकी नूतन शाखा प्रमाणमञ्जरी रचना है। इसका प्रतिपाद्यविषय प्रमाण अर्थात् भाव-अभाव पदार्थ और दो प्रमाण है। प्रमाणमंजरी ग्रन्थ पर तीन टीकायें क्रमशः श्री बलभद्र टीका, श्रीमदद्वयारण्य टीका (टीप्पण टीका), वामनभट्ट टीका (भावदीपिका टीका) मिलती हैं। ये टीकायें सम्पूर्ण ग्रन्थ पर प्रसंगानुकूल लिखी गई है। जिससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ प्रौढ़ता से परिपूर्ण हैं तथा ग्रन्थ में सभी पदों पर समुचित चिन्तन मनन हुआ है।

वैशेषिकदर्शन प्रतिपादित सप्तपदार्थों में से द्वितीय पदार्थ गुण है। महर्षि कणाद ने गुण के लक्षण में इस प्रकार लिखा है- द्रव्य में आश्रय लेने का जिसका स्वभाव हो, जो स्वयं गुण का आश्रय न हो, संयोग और विभागों में कारण न हो, जो अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता हो, वह गुण पदार्थ है।[4] प्रमाणमञ्जरीकार

1. भारतीयदर्शनशास्त्र-प्राध्यापक धर्मेन्द्रशास्त्री, पृ.-132।
2. तर्कसंग्रह, डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा (भूमिका) पृ.-19।
3. प्रमाणमञ्जरी अ.टी., पृ.-3।
4. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपक्षेति गुणलक्षणम्। वैशेषिकदर्शन पृ.-34।

ने गुण के विषय में लिखा है कि- कर्मान्यत्वेसति सामान्यकाश्रयो गुणः। स रूपादिभेदेन चतुर्विंशतिधा[1] अर्थात् जो कर्म से भिन्न हो तथा सामान्य का एकमात्र आश्रय हो, वही गुण है। गुण के रूप, रस आदि 24 भेद है। कर्मान्यत्वे सति सामान्यैकाश्रयो गुणः अभिप्राय यह है कि सामान्य के आश्रय गुण से भिन्न द्रव्य तथा कर्म भी है। इसलिये गुण को सामान्य का एक आश्रय या केवल सामान्य का ही आश्रय कहा गया है। भाव पदार्थों का आश्रय द्रव्य है। अतः द्रव्य एक मात्र सामान्य का ही आश्रय नहीं है। केवल गुण तथा कर्म ही एक मात्र सामान्य के आश्रय है। कर्म की तो गुण लक्षण में 'कर्मान्यत्वे सति' कहकर पहले ही व्यावृत्ति कर दी गई है। कर्म से भिन्न तथा सामान्य के साथ 'एक अधिकरण=द्रव्य में रहने वाला पदार्थ गुण है- ऐसा भी 'सामान्यैकाश्रयः' पद का अर्थ किया जा सकता है। इस प्रकार सामान्य तथा गुण में समानाधिकरण्य है। द्रव्य इन दोनों का समान अधिकरण है।[2]

गुणों की संख्या- महर्षि कणाद ने गुणों की संख्या स्पष्ट रूप से सत्रह मानी है।[3] प्रशस्तपादाचार्य ने सूत्रकार के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि 'च'[4] शब्द से गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द ये सात गुण ग्राह्य है। प्रमाणमञ्जरीकार सर्वदेव ने गुणों की संख्या 24 बतायी है। वे निम्न है- (i) रूप (vii) पृथक्त्व (xiii) द्रवत्व (xix) इच्छा (ii) रस (viii) संयोग (xiv) स्नेह (xx) द्वेष (iii) गन्ध (ix) विभाग (xv) शब्द (xxi) प्रयत्न (iv) स्पर्श (x) परत्व (xvi) बुद्धि (xxii) धर्म (v) संख्या (xi) अपरत्व (xvii) सुख (xxiii) अधर्म (vi) परिमाण (xii) गुरुत्व (xvii) दुःख (xiv) संस्कार। प्रकारान्तर से गुण के दो भेद होते है- (i) विशेष गुण तथा (ii) सामान्य गुण।

विशेष गुण- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना ये विशेष गुण है।

सामान्य गुण- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक द्रवत्व, गुरूत्व तथा वेग-ये सामान्य गुण है।

(i) रूप गुण- प्रमाणमञ्जरीकार ने रूप का लक्षण इस प्रकार दिया है-

---

1. प्रमाणञ्जरी, पृ.-40।
2. प्रमाणमञ्जरी (हिन्दी व्याख्या) पृ.-114।
3. रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणा निपृथक्त्वं संयोगति भागौपरत्वापरत्वेबुद्धयः सुखदुःखेच्छो-द्वेषोप्रयत्नाश्चगुणाः। वैशेषिकसूत्र,पृ.-1/1/6।
4. चशब्दसमुञ्चिताश्चगुरूत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवंचतुर्विंशंतिगुणाः। प्रशस्तपादभाष्य, पृ.-3।

नयनैकग्राह्यजातिमद्रूपम्।[1] केवल नयन से ही ग्राह्यजाति से युक्त रूप है। यहाँ सामान्य, स्पर्श तथा घटादि में अतिव्याप्ति के वारण हेतु क्रमशः जाति, नयन तथा एक शब्द का प्रयोग किया है।[2]

रूप के भेद- अद्वयारण्य टीका में लिखा है- तेषां लोहितरूपादीनाम्।[3] रूप के शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, तथा चित्र भेद से सात प्रकार है।

(ii) रस गुण- प्रमाणमञ्जरीकार ने रस गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है- रसनैकग्राह्यजातिमान् रसः।[4] अर्थात् रसना से ही ग्रहण के योग्य जाति रस है।

रस के भेद- वैशेषिकदर्शन में रस गुण के छः भेद बताये है- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।[5] प्रमाणमञ्जरी में इसके भेदों का उल्लेख नहीं है।

(iii) गन्ध गुण - प्रमाणमञ्जरीकार ने गन्ध गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है- घ्राणैकग्राह्यजातिमान् गन्धः[6] अर्थात् घ्राण इन्द्रिय मात्र से ग्राह्य जाति से युक्त गन्ध गुण है। गन्ध गुण केवल पृथिवी द्रव्य में पाया जाता है। साथ ही गन्ध गुण पृथिवी को अन्य द्रव्यों से व्यवच्छिन्न करने का कारण भी है, अतः इसका विशेष गुणत्व सिद्ध है। जलादि में जो गन्ध की प्रतीति है, वह औपचारिक है, स्वाभाविक नहीं। अतः गन्ध केवल पृथिवी का ही विशेष गुण है।[7]

गन्ध के भेद - सुरभि (सुगन्ध) तथा असुरभि (असुगन्ध) के भेद से गन्ध गुण के दो भेद है।[8]

(iv) स्पर्श गुण - प्रमाणमञ्जरीकार ने स्पर्श गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है- **स्पर्शनैकग्राह्यजातिमान् स्पर्शः।**[9] जिस गुण का ग्रहण मात्र त्वक् इन्द्रिय से होता है, उस जाति से युक्त स्पर्श गुण है। स्पर्श के भेद- यह स्पर्श तीन प्रकार का होता है- शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत। इनमें शीत जल का असाधारण धर्म

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-41।
2. वही, बलभद्र टीका, पृ.-41।
3. वही, पृ.-41-44।
4. वही, पृ.-41।
5. प्रशस्तपादभाष्य, पृ.-70।
6. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-41।
7. वैशेषिकदर्शन में पदार्थनिरूपणम्, पृ.-285।
8. तर्कसंग्रह (तन्वी व्याख्या), पृ.-65।
9. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-41।

है, उष्ण तेज का जबकि अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी तथा वायु दोनों का असाधारण धर्म है।[1] रूपादीनामवान्तरविभागः तेषां यावद्द्रव्यभावित्वञ्च प्रमाणमञ्जरीकार ने रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के अवान्तर विभाग करके यावद्द्रव्यभावी तथा अयावद्द्रव्यभावी के भेद से दो भागों में विभक्त किया है। पार्थिव परमाणुओं के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श यावद्द्रव्यभावी है। यह प्रत्यक्ष योग द्रव्यों में प्रत्यक्षतः ही सिद्ध है। जैसे घट के रूप की घट विनाशक्षण तक विद्यमानता है। पार्थिवद्वयणुकादि में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श यावद्द्रव्यभावी है, कार्यद्रव्यों के रूपादि होने से घट के रूपादि के समान। जलादि-परमाणुओं के रूपादि यावद्द्रव्यभावी है, जलादि के रूप होने से बाह्यप्रत्यक्षयोग्य जलादि के रूपादि के समान।

यावद्द्रव्यभावित्व पद का अर्थ- रूपादि गुणों का अपने आश्रय द्रव्यों में उनके विनाश काल तक रहना। इसी को शास्त्रीय भाषा में 'स्वाश्रयनाशजन्यनाश-प्रतियोगित्वम्' कहा गया है। स्व अर्थात् घटादि के रूप, उसका आश्रय घट, उसका नाश, तादृश नाश से जन्य ही घट रूप का नाश है। उस घट-रूप के नाश का प्रतियोगित्व घट रूप में हैं अर्थात् नाश होने पर ही घटगत रूप का नाश होता है। अतः द्रव्य जब तक विद्यमान रहे तब तक घट का रूपादि का रहना ही यावद्द्रव्यभावित्व है। शब्द तथा ज्ञानादि गुणों में इस प्रकार का यावद्द्रव्य भावित्व नहीं है।[2] वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार पार्थिव परमाणुओं में ही पाक होता है, अतः केवल पार्थिव परमाणु के रूपादि पाकज होने से अयावद्द्रव्यभावी है। परन्तु द्वयणुक से लेकर समस्त महत्परिमाण विशिष्ट कार्यद्रव्यों के रूपादि अपाकज होने से यावद्द्रव्यभावी ही होगें।[3]

रूपादि का यावद्द्रव्यभावित्व- यह ध्यातव्य है कि पीलुपाकवादी वैशेषिकों के अनुसार घट के रूपादि अपाकज है। वैशेषिक पार्थिव परमाणुओं में ही पाक मानते है। अतः घट के रूपादि यावद्द्रव्यभावी है। पाकजोत्पत्ति प्रक्रिया का संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जा रहा है-

पाकजोत्पत्ति- पृथिवी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चार ही गुण 'पाकज' अर्थात् अग्नि संयोग से उत्पन्न माने जाते है। कच्चा फल हरा होता है वह पककर पीला या लाल आदि रंग का हो जाता है। कच्चे फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से पके फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सब ही भिन्न

---

1. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, पृ.-289।
2. प्रमाणमञ्जरी, (हिन्दी व्याख्या) पृ.-120।
3. वही, पृ.-120।

होते है। फलों के पकने का कारण गर्मी अथवा तेज संयोग ही है। यह सर्वविदित है। तेजः संयोग से फल आदि में तेजः संयोग से पूर्व में विद्यमान रूप, रस आदि नष्ट होकर पाक से उनमें नए रूप, रस आदि उत्पन्न होते है, इसलिए वे सब पाकज कहलाते है। ये 'पाकज' गुण केवल पृथिवी में ही रहते है अन्यत्र अर्थात् जल आदि द्रव्यों में नहीं।[1] इस पाक प्रक्रिया के प्रसंग में न्याय एवं वैशेषिकदर्शन एकमत नहीं है। वैशेषिकदर्शन में इसे 'पीलुपाकवाद' तथा न्याय दर्शन में इसे 'पिठरपाकवाद' कहा जाता है।

पीलुपाकवाद- वैशेषिकदर्शनाचार्यों ने अपना मत दिया है कि पाक परमाणुओं में होता है, अवयवी में नहीं क्योंकि अवयवी में पाक होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। पीलू का शब्दिक अर्थ 'परमाणु' है, अतः 'पीलुपाक' का अर्थ परमाणुओं का 'पाक' होता है।[2] पीलूपाकवादो वैशेषिककाणाम्। पाकः परमाणुष्वेव जायते, नावयविनिमानाभावात्।

पिठरपाकवाद- नैयायिकों का मत 'पिठरपाकवाद' है, यहाँ पिठर का तात्पर्य पिण्ड से है। इनकी दृष्टि में सम्पूर्ण घट पिण्ड में ही पाक प्रक्रियाँ होती है। अभिप्राय यह है कि घट आदि के आरम्भक परमाणु परस्पर बिल्कुल मिलें नहीं होते हैं, वे छिद्र युक्त होते है, उनके मध्य अन्तर होता है। इसलिए अग्नि के सूक्ष्म अंश उनके मध्य प्रविष्ट हो जाते है तथा परमाणुओं में विभक्त हुए बिना ही घटादि में रक्तिमा की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार पीलुपाक अर्थात् परमाणुओं को पाक मानने वाले और पिठरपाक अर्थात् घट के विघटित हुए बिना ही उसका पाक मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों में जो विवाद चलता है, उसकी सूक्ष्मता को लेकर यह कारिका बन गई है-

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ, विभागे च विभागजे। यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।।[3] प्रमाणमञ्जरी के टीकाकार बलभद्र मिश्र का कथन है कि पीलुपाकवादी वैशेषिकों के अनुसार घट के रूपादि अपाकज है एवम् यावद्द्रव्यभावी है। कारण पाक घट आदि में नहीं परमाणुओं में होता है। अब प्रश्न हो सकता है कि तो फिर अयावद्द्रव्यभावी गुण कौन से है? इसके उत्तर में- प्रमाणमञ्जरी चूँकि वैशेषिकदर्शन का प्रकरण ग्रन्थ है, अतः ग्रन्थकार वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार पार्थिव परमाणुओं के पाकजरूपादिको अयावद्द्रव्यभावी गुणों को पृथक् करते हुए कहते है कि- पार्थिवपरमाणोस्यत्र यावद्द्रव्यभाविनः प्रत्यक्षद्रव्ये

1. तर्कसंग्रह, पृ.-60।
2. पदार्थदिव्यचक्षु, पृ.-35।
3. सर्वदर्शन संग्रह, पृ.-220।

प्रत्यक्षस्तथासिद्धिः।[1] वैशेषिक 'पीलुपाक' मानते है। अतः ग्रन्थकार के अनुसार पार्थिव परमाणुओं के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श यावद्द्रव्यभावी है। यह प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में प्रत्यक्षतः ही सिद्ध है। जैसे घट के रूप की घट विनाश क्षण तक विद्यमानता है।[2] टीकाकार बलभद्रमिश्र का कथन है कि घट रूप के यावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ-साथ तर्क का भी समावेश करना चाहिए। कारण प्रत्यक्षतः यहीं प्रतीत होता है कि श्याम घट रक्त रूप में परिणत हुआ। अतः आपाततः घट के रूप में ही परिवर्तन प्रतीत होता है किन्तु विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि अवयवभूत परमाणुओं में पाक होने से अवयवी घट के रूप में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इसके लिए घट तक पाक को खींचना व्यर्थ है। अतः पाक घट में नहीं, अपितु परमाणुओं में ही होता है। अतएव घट रूप यावद्द्रव्यभावी है। बाह्येन्द्रियों से न प्रत्यक्ष होने वाले द्रव्यों में वर्तमान रूपादि के यावद्द्रव्यभावित्व की अनुमान से सिद्धि-जिन पार्थिव द्रव्यों का बहिरिन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है उन द्रव्यों के रूपादि के यावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि के लिये प्रमाणमञ्जरीकार ने अनुमान की उपस्थापना की है- द्वयणुकादिषुरूपादयोयावद्द्रव्यभाविनःकार्यरूपादित्वात् घटरूपादिवत् अर्थात् पार्थिव द्वयणुकादि में रूप, रस, गन्ध, स्पर्शयावद्द्रव्यभाविनः कार्यरूपादित्वात् घटरूपादिवत् अर्थात् पार्थिव द्वयणुकादि में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श यावद्द्रव्यभावी है, कार्य द्रव्यों के रूपादि होने से, घट के रूपादि के समान।[3] टीकाकार बलभद्र मिश्र के अनुसार उपर्युक्त अनुमान के पक्ष में 'द्वयणुकादिषु' पद में प्रविष्ट 'आदि' पद से घ्राणेन्द्रियाँदि भी ग्राह्य है। यतः ये भी पार्थिव द्वयणुकादि से आरब्ध है तथा इनके रूपादि भी अपाकज होने से यावद्द्रव्यभावी हैं।[4] वैशेषिकसिद्धान्त के अनुसार पार्थिव परमाणुओं में ही पाक होता है, अतः केवल पार्थिव परमाणु के रूपादि पाकज होने से अयावद्द्रव्य भावी है। परन्तु द्वयणुक से लेकर समस्त महत्परिणाम विशिष्ट कार्य द्रव्यों के रूपादि अपाकज होने यावद्द्रव्यभावी ही होंगे-यही उपर्युक्त अनुमान का आशय है।

जलीय परमाणु के रूपादि का यावद्द्रव्यभावित्व- द्वयणुक से लेकर समस्त महत्परिमाण विशिष्ट जलीय, तैजस, वायवीय कार्य द्रव्यों के रूप-रस-स्पर्श का यावद्द्रव्य भावित्व तो पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा ही सिद्ध है, परन्तु पार्थिव

---

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-42।
2. वही, पृ.-42।
3. प्रमाणमञ्जरी, (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता) पृ.-122।
4. द्वयणुकादिष्वित्यादिपदेन घ्राणादिपरिग्रहः। प्रमाणमञ्जरी (बलभद्र टीका) पृ.-42।

परमाणु के रूपादि के अयावद्द्रव्यभावी होने से भ्रमवशात् जलादि के परमाणुओं के रूपादि को भी अयावद्द्रव्यभावी माना जा सकता है। इस भ्रम में निराकरणार्थ ग्रन्थकार ने जलादि परमाणुओं के रूपादि में यावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि के लिए पृथक् रूप से अनुमान का उपनिबन्ध किया है- सलिलादिपरमाणुरूपादयो यावद्द्रव्यभाविनः सलिलादिरूपादित्वात्[1] सम्प्रतिपन्नवत् अर्थात् जिस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष योग्य जलादि के रूपादि को हम यावद्द्रव्यभावी देखते है, उसी प्रकार जलादि परमाणुओं के रूपादि भी यावद्द्रव्यभावी है, जलादि के रूप होने से पार्थिव परमाणुओं के संयोग से जल के रूपादि का परिवर्त्तन हो सकता है परन्तु पार्थिव परमाणुओं को जल से छान लेने पर पुनः जल का पूर्ववत् रूप हो जाता है। इसलिये जलादि के रूपों को यावद्द्रव्यभावी कहा गया है। दृष्टान्त के रूप में समाविष्ट 'सम्प्रतिपन्न'[2] पद का प्रकृत में अर्थ है- जल का रूप। कारण जल के रूपादि का यावद्द्रव्यभावित्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

अयावद्द्रव्यभाविनो गुणाः- वैशेषिक आचार्यो के अनुसार पार्थिव परमाणुओं में ही पाक होने से पार्थिव परमाणु के रूप-रस-स्पर्श में पाकजत्व सिद्ध है। एवञ्च ये गुण पाकज होने के कारण ही अयावद्द्रव्यभावी है। अयावद्द्रव्यभावी का अर्थ अपने समवायिकारण पार्थिव परमाणुओं के रहते उनके रूपादि गुणों का विनाश होना या परिवर्तित होना है। प्रमाणमञ्जरीकार यावद्द्रव्यभावी रूपादि के निरूपण के बाद पुनः अयावद्द्रव्यभावी रूपादि का वर्णन करते हुए कहते है - पार्थिवपरमाणुष्वयावद्द्रव्यभाविनः। तत्र प्रमाणम्- पार्थिवपरमाणौ सति रूपादयो निवर्तन्ते, अनित्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत् इति। पार्थिव द्वयणुकण्म् अनित्यविशेषगुण-वत्समवेतं, पार्थिवकार्यत्वात, घटवदिति, नासिद्धं साधनम्। हुतवहनिवहावलीढे महीखण्डे पूर्वरूपविलक्षणरूपादिदर्शनात्तत्रैवं तथा कल्पने सति नातिप्रसंग इति तर्कः। तत्र पार्थिवपरमाणुरग्निसंयोगासमवायिकारणविशेषगुणवान्, अनित्यविशेषगुणवत्त्वे सति नित्यभूतत्वात्, आकाशव -दिति पाकजत्वं तेषां सिद्धम्।[3]

पार्थिव परमाणुओं के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श (पाकज होने से) अयावद्द्रव्यभावी है। ग्रन्थकार ने पुनः लिखा है कि पार्थिव परमाणुओं रूपादि के अयावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि के लिए अनुमान का उपनिबन्ध किया है।

पार्थिव परमाणुओं के रूपादि में अयावद्द्रव्यभावित्वसाधक अनुमान- पार्थिवपरमाणौ सति रूपादयो निवर्तन्ते, अनित्यत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्' अर्थात् पार्थिव

---

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ. 42।
2. सम्प्रतिपन्नं जलरूपम्। प्रमाणमञ्जरी, (बलभद्र टीका) पृ.-42।
3. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-43।

परमाणुओं के रहते उनके रूपादि परिवर्तित होते है, अनित्य होने से अनुभूत द्रव्यों के गुणादि के समान। जैसे आत्मा नित्य है, किन्तु आत्मा में समवेत बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि अनित्य तथा यावद्द्रव्यभावी गुण है, एवञ्च नित्यद्रव्यस्वरूप मन के गुण तथा नित्यभूत आकाश का शब्द गुण भी अनित्य तथा अयावद्द्रव्यभावी है, उसी प्रकार पृथिवी परमाणु के रूपादि गुण भी अनित्य होने यावद्द्रव्यभावी है।[1] शंका हो सकती है कि पार्थिव परमाणु के रूपादि परमाणु के गुण होने से नित्य हो सकते है। अतः पूर्वपक्षी भी अनुमान उपस्थापित करते है - पार्थिवा गुणा रूपादयो नित्याःपरमाणुरूपादित्वाज्जलपरमाणुरूपा -दिवत् अर्थात् पार्थिव परमाणु के रूपादि गुण जल-परमाणु के रूपादि के समान परमाणु के गुण होने से नित्य है। इस प्रकार पार्थिव परमाणुओं के रूपादि में नित्यत्व की सिद्धि हो जाने से सिद्धान्ति के उपर्युक्त अनुमान के हेतु में प्रयुक्त अनित्यत्व पद की सिद्धि होती है। इस प्रकार पक्ष में हेतु असिद्ध होने से स्वरूपासिद्धि हेत्वाभास स्पष्ट है।[2] इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि उपयुक्त पूर्वपक्षी के अनुमान में 'अपाकजत्व' उपाधि है। अतः जहाँ-जहाँ नित्यत्व है, वहाँ-वहाँ अपाकजत्व है, परन्तु जहाँ-जहाँ परमाणुरूपत्व है, वहाँ-वहाँ अपाकजत्व है, परन्तु जहाँ-जहाँ परमाणु रूपत्व है, वहाँ-वहाँ अपाकजत्व नहीं है, कारण पार्थिव परमाणु के रूपादि में अपाकजत्व नहीं, अपितु पाकजत्व ही है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त अनुमान 'अपाकजत्व' उपाधि से युक्त होने से दुष्ट है। अतः पार्थिव परमाणु के गुण, परमाणु गुण होने पर भी अनित्य ही है। ग्रन्थकार भी पार्थिव परमाणु निष्ट रूपादि के अयावद्द्रव्यभावित्व-साधक उक्त अनुमान में हेतु के रूप में दिये गये। अनित्य की सिद्धि के लिए पुनः अनुमान की उपस्थापना करते है जिससे पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शंका निरस्त हो जाती है, एवञ्च पार्थिव परमाणु के रूपादि में अनित्यता की सिद्धि होती है।[3]

पार्थिव परमाणु के रूपादि की अनित्यता- प्रमाणमञ्जरीकार पार्थिव परमाणु के रूपादि की अनित्यता की सिद्धि में अनुमानप्रमाण उपस्थापित करते है। पार्थिव द्वयणुक अनित्यगुण विशिष्ट पार्थिव परमाणु में समवेत है, पार्थिव कार्य होने से घट के समान अर्थात् जिस प्रकार घट पार्थिव कार्य होने से अनित्य विशेष गुण से युक्त कपाल में समवेत है, उसी प्रकार पार्थिव द्वयणुक भी पार्थिव कार्य होने से अनित्य विशेषगुणविशिष्ट परमाणु में समवेत रहता है।[4] इसी प्रकार पार्थिव

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-43।
2. प्रमाणमञ्जरी, (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता) पृ.-126।
3. वही, पृ.-126।
4. वही, पृ.-126।

परमाणु के रूपादि में अनित्यता की सिद्धि होने से ग्रन्थकार का कहना है कि पूर्वपक्षी के द्वारा इसके पूर्ववर्ती अनुमान के हेतु अनित्यत्व में जो असिद्धि दोष दिखा गया था, वह भ्रान्त है, कारण द्वितीय अनुमान के द्वारा पार्थिव परमाणु के रूपादि में अनित्यता की सिद्धि होने से प्रथम अनुमान का साधन असिद्ध नहीं रहा। अग्नि के प्रज्वलित होकर फैल जाने पर भूमि का रूप पूर्व रूप से विलक्षण अर्थात् श्यामता आदि से रक्तता को प्राप्त करता है। देखा गया है कि जलती हुई भट्टी में दिये गये मृत्तिकाखण्ड के रूपादि में परिवर्तन हो जाता है। अतः उसके परमाणुओं में भी परिवर्तन अवश्यभावी है। इस प्रकार की कल्पना से अतिव्याप्ति आदि दोष भी निरस्त हो जाते है, यही तर्क हैं। उसमें अनुमान प्रमाण है- जिस प्रकार आकाश नित्यभूत होने से अग्निसंयोग स्वरूप असमवायिकारण से उत्पन्न अनित्य विशेषगुण शब्द से युक्त है, उसी प्रकार पार्थिव परमाणु भी नित्यभूत होने से अनित्य विशेष गुण से युक्त है। पार्थिव परमाणु के विशेषगुण रूपादि का समवायिकारण तो पार्थिव परमाणु ही है, परन्तु असमवायिकारण संयोग ही होगा। परन्तु वह कौनसा संयोग होगा? यही प्रकृत में विचारणीय हैं। आकाश और परमाणु के संयोग को मानने से, सर्वदा संयोग होता रहेगा। अतः हमेशा रूपादि भी परिवर्तित होते रहेगें।

इस प्रकार अन्य सभी संयोगों का निषेध होने से परिशेषात् पार्थिव परमाणु के अनित्य विशेषगुणों का असमवायिकारण अग्निसंयोग ही सिद्ध होता है। इस प्रकार नित्यभूतस्वरूप पार्थिव परमाणु अग्निसंयोग स्वरूप असमवायिकारण से जन्य अनित्य विशेष गुणों से युक्त है तथा पार्थिव परमाणु के रूपादि का पाकजत्व भी उक्त अनुमान के द्वारा सिद्ध है। प्रमाणमञ्जरीकार ने पार्थिव परमाणुओं के रूपादि में अयाद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि के लिए अनुमान की उपस्थापना की है-पार्थिवपरमाणौसतिरूपादयोनिवर्तन्ते, अनित्यत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्।[1]

इस अनुमान के पक्ष में पार्थिवपरमाणौ सति यह सत्यन्त पद उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त है। वस्तुतः कथन यह है कि सभी द्रव्यों के रूपादि गुण अयावद्द्रव्यभावी नहीं है, केवल पार्थिव परमाणुओं के ही रूपादि गुण अयावद्द्रव्यभावी है- यह सिद्ध करने के लिए सत्यन्त पद का समावेश किया गया है। इसका आशय यही है कि पार्थिव परमाणुओं के वर्तमान रहने पर भी उसके रूपादि परिवर्तित होते है। उपर्युक्त 'अनित्यत्व' हेतु का अर्थ 'ध्वंसप्रतियोगित्व' अर्थात् ध्वंस का प्रतियोगी होना = विनाश को प्राप्त होना ही है। परन्तु 'अनित्यत्व' का ऐसा अर्थ करने पर घटादि के रूपादि गुण जो कि अनित्य है, उनमें अयावद्द्रव्यभावित्व

---

1. वही, पृ.-127।

की सिद्धि होने लगेगी।

इस प्रसंग में टीकाकार बलभद्र मिश्र का कथन है कि- घटादि के रूपादि में अयावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि नहीं होती, कारण उक्त अनुमान के पक्ष में पार्थिव परमाणु के रूपादि को ही रखा गया है। अतः पक्ष में ही अयावद्द्रव्यभावित्व रूप की सिद्धि होगी, अन्यत्र नहीं। प्रकृत में पक्षधर्मताबलात् पार्थिव परमाणु के रूपादि में ही स्वाश्रयसमानकालीनध्वंसप्रतियोगित्व या अयावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि होती है।

इस प्रकार स्व अर्थात् पार्थिव परमाणु के रूपादि, उनका आश्रय पार्थिव परमाणु उसके रहते परमाणुनिष्ठ रूपादि का नाश होना ही अयावद्द्रव्यभावित्व है। पक्षधर्मताबलात् इस अयावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि पार्थिव परमाणुओं के रूपादि में ही होती है।[1] शंका हो सकती है कि पार्थिव परमाणु के रूपादि परमाणु के गुण होने से नित्य हो सकते है। इस शंका का निरास ग्रन्थकार निम्नलिखित अनुमान से पार्थिव परमाणु के रूपादि की अनित्यता को सिद्ध करते हुए कहते है। वह अनुमान इस प्रकार है- पार्थिवं द्वयणुकम् अनित्यविशेषगुणवत्समवेतं, पार्थिवकार्यत्वात् घटवत्।[2] घटादि का अनित्य विशेषगुण से युक्त कपालादि में समवेतत्व तो सिद्ध है ही। अतः उपर्युक्त अनुमान के पक्ष में केवल 'पार्थिव' पद रखने पर घटादि के भी आ जाने से सिद्धसाधन दोष होता तथा मात्र 'पार्थिव' पद के कहने पर 'पार्थिवपरमाणु' भी आ जाते, जो कि किसी में भी समवेत नहीं है। अतः पार्थिव परमाणु का अनित्य विशेषगुण युक्त द्रव्य में समवेतत्व तो दूर रहा। इस प्रकार पक्ष में साध्याभाव होने से बाध होता। अतः पक्ष में 'पार्थिव' पद के साथ-साथ द्वयणुक पद भी समाविष्ट है।

पार्थिव परमाणु के पाकज रूपादि गुण- प्रमाणमञ्जरीकार पार्थिव परमाणु के रूपादि में अनुमान के द्वारा पाकजत्व की सिद्धि करते है- पार्थिव परमाणुरग्निसंयोगासमवायिकारणविशेषगुणवान् अनित्य विशेषगुणवत्वे सति नित्यभूतत्वात् आकाशवत् इति पाकजत्वं तेषां सिद्धम्।[3] पार्थिव परमाणु के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श- ये चार गुण पाकज होने से अनित्य एवं अयावद्द्रव्यभावी है।

- पार्थिव कार्य द्रव्य के रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श अनित्य तथा यावद्द्रव्यभावी है।

- जल परमाणुओं के रूप, रस तथा स्पर्श नित्य तथा यावद्द्रव्यभावी है।

---

1. वही, पृ.-127।
2. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-43।
3. वही, पृ.-43।

– तेजस् परमाणुओं के रूप तथा स्पर्श नित्य तथा यावद्द्रव्यभावी है।

– वायु परमाणु का स्पर्श नित्य तथा यावद्द्रव्यभावी है।

– कार्य जल, तेज, वायु के रूपादि विशेष गुण अनित्य तथा यावद्द्रव्यभावी है।

अत: वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार केवल पार्थिव परमाणुओं के ही रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श पाकज तथा अयावद्द्रव्यभावी है।

(v) संख्या गुण - संख्यालक्षणं तद्विभागश्च -

प्रमाणमञ्जरीकार ने संख्या गुण का लक्षण करते हुए लिखा है कि–

गुणत्वावान्तरजात्याद्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणसजातीया संख्या। अर्थात् गुणत्व की अवान्तर जाति की दृष्टि से द्वयणुक परिमाण के असमवायिकारण में वृत्ति जाति से विशिष्ट संख्या गुण है। यह संख्या अयावद्द्रव्यभावी तथा यावद्द्रव्यभावी के भेद से दो प्रकार की है।

द्वित्वसंख्यासिद्धि और उसका अयावद्द्रव्यभावित्व– तार्किकचूडामणि– सर्वदेवसूरि ने भी अपने ग्रन्थ 'प्रमाणमञ्जरी' में द्वित्वसंख्या की सिद्धि करते हुए कहा है– प्रथम जो अयावद्द्रव्यभावी संख्या है, ऐसी द्वित्वसंख्यादि की सिद्धि में प्रमाण है– परिमाणत्वजाति संयोग से अतिरिक्त अनेक द्रव्यासमवायिकारणक पदार्थ में रहने वाली जाति है, परिमाणनिष्ठ जाति होने से, सत्ता के समान।[1] इस अनुमान का तात्पर्यार्थ वही है कि परिमाणत्व उस पदार्थ में रहने वाली जाति है, जिसका असमवायिकारण अनेक द्रव्यों में आश्रित एवं संयोग से भिन्न है। अर्थात् परिमाणत्व द्वयणुकपरिमाण में रहता है। द्वयणुक परिमाण का असमवायिकारण दो परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या ही है। यह द्वित्व संख्या संयोग से भिन्न है तथा अनेक द्रव्यों में आश्रित है। सत्ता– द्रव्य, गुण, कर्म–तीनों में विद्यमान है। अत: संयोगातिरिक्त अनेक द्रव्यों में समवेत द्वित्व संख्या जिसका असमवायिकारण है ऐसे द्वयणुकपरिमाण में तथा संयोग से अतिरिक्त अनेक द्रव्यों में समवेत विभाग जिसका असमवायिकारण है– ऐसे विभागज विभाग में भी सत्ता विद्यमान है, परिमाणनिष्ठ जाति होने से। इसी प्रकार परिमाणत्व भी संयोग से अतिरिक्त एवम् अनेक द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से आश्रित द्वित्वसंख्या जिसका असमवायिकारण है ऐसे द्वयणुकपरिमाण में विद्यमान है, परिमाण की जाति होने से सत्ता के समान। इस प्रकार द्वित्व संख्या की सिद्धि होती है। द्वयणुकपरिमाण के असमवायिकारण

---

1. वही, पृ.–45।

के रूप में द्वित्वसंख्या की सिद्धि हुई है।[1] परमाणु का रूप द्वयणुक का असमवायिकारण होने से परमाणुद्वय का परिमाण ही द्वयणुक परिमाण का असमवायिकारण क्यों नहीं हो? इस शंका के समाधान में ग्रन्थकार प्रमाण देते है- परमाणुपरिमाणद्वयणुक परिमाण का असमवायिकारण नहीं होता नित्य परिमाण होने से, आकाश के परिमाण के समान। जिस प्रकार आकाश का परिमाण नित्य परिमाण होने से, अन्य किसी परिमाण का असमवायिकारण नहीं होता है, उसी प्रकार परमाणु परिमाण भी नित्य परिमाण होने से द्वयणुक के परिमाण का असमवायिकारण नहीं होता है। इस प्रकार पर पक्ष का खण्डन तथा उपर्युक्त शंका का निरास हो जाता है।[2]

द्वित्व का अयावद्द्रव्यभावित्व- ग्रन्थकार द्वित्वसिद्धि के उपरान्त द्वित्व में अयावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि में दूसरा अनुमान उपस्थित करते है। द्वित्वादि संख्या अयावद्द्रव्यभावी है, अनेक द्रव्यों में आश्रित गुण होने से संयोग के समान। जिस प्रकार दो पुस्तकों में विद्यमान द्वित्वादि संख्या भी अपेक्षाबुद्धि के नाश होने पर द्रव्यों के रहते ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार द्वित्वादि में अयावद्द्रव्यभावित्वसिद्ध है।[3]

द्वित्व संख्या की अपेक्षाबुद्धि से उत्पत्ति- द्वित्वसंख्या में अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व की सिद्धि के लिये अर्थात् द्वित्वादि संख्या अपेक्षा बुद्धि से जन्य है यह सिद्ध करने के लिए प्रमाणमञ्जरीकार ने निम्नलिखित अनुमान-प्रमाण का उपनिबन्ध किया है- द्वित्वसामान्यं बुद्धिजवृत्ति, द्वित्वजातित्वात्सत्तावदिति।[4] द्वित्वसामान्य अर्थात् द्वित्व में रहने वाली जाति = द्वित्वत्व, बुद्धि से उत्पन्न पदार्थ में वर्तमान है। वह बुद्धि से उत्पन्न पदार्थ ही द्वित्व है। अतः द्वित्वत्व जाति बुद्धि से उत्पन्न द्वित्व संख्या में वर्तमान है- यही आशय है। इस प्रकार द्वित्व में अपेक्षाबुद्धि से जन्य है।

द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति- द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया में उदयनाचार्य ने लिखा है कि-

आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी,
रेकत्वोभयोगोचरामतिरतोद्वित्वंततोजायते।

---

1. वही, पृ.-45।
2. प्रमाणमञ्जरी, (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता) पृ.-137।
3. वही, पृ.-137।
4. वही, पृ.-137।

द्वित्वत्वप्रमितिस्ततोखपिपरमोद्वित्वप्रमानन्तरं,
द्वेद्रव्येइतिधीरियंनिगदिताद्वित्वोदयप्रक्रिया।।[1]

अर्थात् सर्वप्रथम दो वस्तुओं का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने पर 'एकत्व' सामान्य की बुद्धि तदनन्तर दोनों द्रव्यों में विद्यमान 'एकत्व' का प्रत्यक्ष, द्वित्व की उत्पत्ति, द्वित्व, बोध तथा अन्त में ये दो द्रव्य है ऐसी प्रतीति होती है, यही द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया है।

संख्याया यावद्द्रव्यभावित्ये प्रमाणम् - प्रमाणमञ्जरीकार ने यावद्द्रव्यभावी संख्या का निरूपण करते हुए लिखा है कि- संख्या का जो प्रभेद दूसरा यावद्द्रव्यभावी है, उसमें अनुमान प्रमाण है। संख्यात्वयावद्द्रव्यभावी पदार्थ में विद्यमान है द्वित्व, त्रित्वनिष्ठ जाति होने से, सत्ता के समान।[2] सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म-तीनों में रहती है। अतएव गुणभूत द्वित्व, त्रित्व संख्याओं में भी रहेगी। अतः जिस प्रकार सत्ता द्वित्व, त्रित्वनिष्ठ जाति होने से यावद्द्रव्यभावी परमाणु परिमाणादि में रहती है। उसी प्रकार संख्यात्व भी द्वित्व त्रित्वनिष्ठ जाति होने से किसी यावद्द्रव्यभावी गुण में विद्यमान रहेगा, वही गुण एकत्व संख्या है। यद्यपि द्वित्वादि संख्या भी कदाचित् यावद्द्रव्यभावी होती है तथापि एकत्व संख्या में यावद्द्रव्यभावित्व अनुभव सिद्ध होने के कारण उक्त अनुमान से एकत्वादि संख्या में यावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि होती है। एकत्व संख्या नित्य द्रव्य में नित्य तथा अनित्य द्रव्य में अनित्य है।[3]

संख्या का गुणत्व साधक अनुमान- प्रमाणमञ्जरीकार ने संख्या में पदार्थान्तरत्व का निषेध तथा गुणत्व की सिद्धि के लिये निम्नलिखित अनुमान का उपनिबन्धन किया है- संख्या गुण है, रूप के समान क्योंकि वह कर्म से भिन्न एवं एकमात्र सामान्य का आश्रय है। सामान्य के आश्रय तीन पदार्थ है- द्रव्य, गुण, कर्म। इनमें से द्रव्य-द्रव्य, गुण तथा कर्म आदि का भी आश्रय है। एकमात्र सामान्य का आश्रय गुण तथा कर्म है।[4] अतः संख्या में गुणत्व की सिद्धि के हेतु में 'सामान्यैकाश्रयत्वे सति अकर्मत्वात्' कहा गया है। 'अकर्मत्वात्' कहकर कर्म का निषेध किया गया है, क्योंकि कर्म भी एकमात्र सामान्य का आश्रय है, अतः कर्म का निषेध हुआ है। इस प्रकार उक्त अनुमान के द्वारा संख्या में गुणत्व की सिद्धि होती है। संख्यागुणः एवंभूतायास्संख्यायाः पदार्थान्तरत्वेस्वीकृतेरूपमपिपदार्थान्तरं-

---

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-49।
2. वही, पृ.-49।
3. वही, पृ.-49।
4. प्रमाणमञ्जरी, (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता) पृ.-151।

भवेत्।[1] यहाँ विपक्षी जो संख्या को पदार्थान्तर मानते है। इस सिद्धान्त के विषय में यह बाधा उपस्थित होती है कि यदि कर्म से भिन्न तथा एकमात्र सामान्य के आश्रय संख्या को पदार्थान्तर माना जाये तो रूप, जिसमें कि गुणत्व सर्ववादिसिद्ध है, उस गुण स्वरूप रूप के कर्म से भिन्न तथा एकमात्र सामान्य का आश्रय होने से रूप में भी पदार्थान्तरत्व को मानना अनिवार्य हो जायेगा। अतः उक्त बाधा के कारण संख्या को पदार्थान्तर नहीं अपितु गुण माना गया है।

(vii) परिमाण गुण - परिमाण लक्षणं तद्विभागश्च

गुणत्वावान्तरजात्यापृथक्त्वान्याप्रत्यक्षात्मगतयावद्द्रव्यभाविसजातीयंपरिमाणम् अर्थात् गुणत्व की अवान्तर जाति की दृष्टि से पृथक्त्व से भिन्न, अप्रत्यक्ष तथा आत्मसमवेत यावद्द्रव्यभावी गुण के सजातीय ही परिमाण है।[2] प्रमाणमञ्जरीकार ने आत्मा में परिमाण का अस्तित्व साधक अनुमान इस प्रकार है- आत्मा पृथक्त्व से अन्य अप्रत्यक्ष यावद्द्रव्यभावी गुण से युक्त है, सर्वव्यापी होने से, दिक् के समान। सभी द्रव्य परिमाण के अधिकरण है, द्रव्य होने से, आत्मा के समान। आत्मा द्रव्य है तथा परममहत् परिमाण का अधिकरण है, अतः द्रव्य होने से आत्मा के समान सभी द्रव्य परिमाण के अधिकरण है। परिमाण विभाग-परिमाण के चार प्रकार है- अणु, महत्, दीर्घ, ह्रस्व।[3] ह्रस्वत्वसाधकानुमान-सर्वदेवाचार्य ने ह्रस्वपरिमाण को अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हुए लिखा है कि- द्वयणुकेखणुत्व मंगीत्यह्रस्वत्वं निराकुर्वाणं प्रति इदमनुमानम् द्वयणुकेखणुत्वमंगीत्य ह्रस्वत्वं निराकुर्वाणं प्रतिइदमनुमानं द्वयणुकम्, अणुपरिमाणातिरिक्त परिमाणाधिकरणं कार्यद्रव्यत्वात् पटवदिति।[4] दीर्घत्वसाधकानुमान-जो लोग दीर्घत्व को अतिरिक्त परिमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते है। उनके मत के खण्डन हेतु प्रमाणमञ्जरीकार ने निम्नलिखित अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है - पटो महत्वव्यतिरिक्तपरिमाणाधिकरणं, कार्यद्रव्यत्वात्, द्वयणुकवदिति।[5] पट महत्व से अतिरिक्त अन्य परिमाण का अधिकरण है, कार्यद्रव्य होने से द्वयणुक के समान। प्रमाणमञ्जरी में नित्य तथा अनित्य परिमाण के भेदों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रमाणमञ्जरी में परिमाण की सिद्धि हुई है।[6]

---

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-49।
2. वही, पृ.-50।
3. वही, पृ.-50।
4. वही, पृ.-50।
5. वही, पृ.-50।
6. वही, पृ.-50-52।

(vii) पृथक्त्व गुण - पृथक्त्वलक्षणं तद्विभागश्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने पृथक्त्व गुण का लक्षण- संख्या से भिन्न दिशा तथा कालनिष्ठ अत्यन्त सजातीय पृथक्त्व है, किया है। आचार्य ने इसके दो भेद किये है-

(क) अयावद्द्रव्यभावी (ख) यावद्द्रव्यभावी।[1] अयावद्द्रव्यभावीद्विपृथक्त्व की सिद्धि में ग्रन्थकार का अनुमान इस प्रकार है- कालः संख्यातिरिक्तदिग्गतगुणवान्, द्रव्यत्वात्, पटवत्। अर्थात् काल संख्या से अतिरिक्त दिक् में रहने वाले गुण से युक्त है, द्रव्य होने से पट के समान।[2] द्वित्वसंख्या के समान द्विपृथक्त्व भी अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होता है। इसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से इस प्रकार है- पृथक्त्वसामान्यम्, अस्मदादिबुद्धिजवृत्ति, पृथक्त्वजातित्वात् सत्तावत् अर्थात् जिस प्रकार सत्ता पृथक्त्व गुण में रहने वाली जाति होने से हमारी बुद्धि से उत्पन्न द्वित्व-त्रित्व आदि संख्याओं में वर्तमान है, उसी प्रकार पृथक्त्वत्व भी पृथक्त्व गुण में रहने वाली जाति होने से हमारी बुद्धि से उत्पन्न किसी गुण में अवश्य समवेत रहेगा। पृथक्त्वत्व हमारी अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न जिन गुणों में समवेत है, वे ही गुण द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्वादि है। इस प्रकार द्विपृथक्त्वादि में अपेक्षा बुद्धिजत्व की सिद्धि हुई है।[3] एकपृथक्त्व की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरीकार का अनुमान इस प्रकार है- तत्सामान्यं कारणगुणपूर्ववृत्ति, पृथक्त्वजातित्वात्, सत्तावदिति।[4] एकपृथक्त्व यावद्द्रव्यभावी है। ईश्वरबुद्धिनिष्ठ तथा नित्यद्रव्यगत एकपृथक्त्व में यावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धि के लिए निम्नलिखित अनुमान प्रस्तुत करते है- तत्सामान्यं यावद्द्रव्यभाविवृत्ति द्विपृथक्त्वत्रिपृथक्त्वजातित्वात्, सत्तावदित्येकपृथक्त्व-सिद्धिः।[5]

(viii) संयोग गुण - संयोगलक्षणं, तत्र प्रमाणम्, तद्विभागश्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने संयोग गुण का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है- गुणत्वावान्तरजात्याद्रव्यासमवायिकारण-

सजातीयः संयोगः अर्थात् गुणत्व से व्याप्य जाति संयोगत्व की दृष्टि से द्रव्य के असमवायिकारण के सजातीय ही संयोग है।[6] सर्वदेवाचार्य ने संयोग के

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-52।
2. वही, पृ.-52।
3. प्रमाणमञ्जरी (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता), पृ.-166।
4. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-52।
5. वही, पृ.-52।
6. वही, पृ.-53।

लक्षण को उपस्थापित करने के बाद पुनः अनुमान प्रमाण के द्वारा संयोग की सिद्धि करते है- संयोग पद किसी अस्तित्ववान् पदार्थ का वाचक है, वाचक होने से घटादि पदों के समान।[1] संयोग के भेद-प्रमाणमञ्जरीकार ने प्रामाणिक लक्षण के द्वारा संयोग की सिद्धि के पश्चात् संयोग के भेद-प्रभेदों का वर्णन करते हुए कहा है कि संयोग के तीन भेद होते है- क. अन्यतरकर्मज ख. उभकर्मज ग. संयोगज।

संयोगजन्य संयोग की सिद्धि में प्रमाण - प्रमाणमञ्जरीकार ने इसकी सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण को प्रस्तुत किया है- संयोगत्वं संयोगासमवायि-कारणवृत्ति, संयोगवृत्तिजातित्वात् सत्तावदिति। अर्थात् संयोगत्व क्योंकि, सत्ता की तरह संयोगवृत्ति की जाति होने के कारण संयोग असमवायिकारण की वृत्ति है।

अजसंयोग का निराकरण- सर्वदेवाचार्य ने नित्यसंयोग का निषेध करते हुए लिखा है कि- विप्रतिपन्नाः आत्मादयः, आकाशेन न संयुज्यन्ते, सर्वगतत्वात्, आकाशवत्।[2] आकाश की तरह सर्वगत होने के कारण आत्मा आकाश से संयुक्त नहीं होती है।[3] वैशेषिक दर्शन की निश्चित मान्यता है कि प्रत्येक संयोग काल की एक घटना है अर्थात् सिद्धान्त मतानुसार नित्य या अजसंयोग असम्भव है।[4] इस प्रकार प्रमाण मञ्जरी में संयाग गुण की सिद्धि होती है।

(ix) विभाग गुण -विभागलक्षणं, तत्र प्रमाणम्, तद्विभागश्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने विभाग गुण की परिभाषा देते हुए लिखा है कि- विभाग गुण संयोग गुण का विरोधी है। संयोग विरोधी गुणों विभागः।[5] सर्वदेवाचार्य ने विभाग की सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण दिया है- आकाश संयोग से भिन्न कर्मज गुण का आधार है क्योंकि वह शरीर के समान द्रव्य है।[6]

सभी द्रव्यों में विभाग की सिद्धि - प्रमाणमञ्जरीकार ने आकाश में विभाग की सिद्धि के पश्चात् अन्य सभी द्रव्यों में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण के द्वारा विभाग की सिद्धि करते है- विप्रतिपन्नं सर्वं द्रव्यं विभागवत्, द्रव्यत्वात्, आकाशवत्।[7] अर्थात् विप्रतिपन्न सभी द्रव्य विभाग से युक्त है, द्रव्य होने से

1. प्रमाणमञ्जरी (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता), पृ.-174।
2. प्रमाणमञ्जरी (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता), पृ.-175।
3. प्रमाणमञ्जरी (लघुशोधग्रन्थ - ICPR), पृ.-104।
4. प्रशस्तपादभाष्य, पृ.-104।
5. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-54।
6. वही, पृ.-54।
7. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-55।

आकाश के समान। प्रमाणमञ्जरी में विभाग गुण के भेद इस प्रकार बताये है- सर्वप्रथमविभाग के दो भेद मिलते है- (क) कर्मजन्य तथा (ख) विभागजन्य।[1] कर्मज विभाग के भी दो भेद किये है- क (1) अन्यतरकर्मज तथा (2) उभयकर्मज।[2]

कर्मजन्यविभाग की सिद्धि -

प्रमाणमञ्जरीकार ने एक ही अनुमान प्रमाण से अन्यतरकर्मज तथा उभयकर्मज विभाग की सिद्धि की है- विभागत्व सत्ता की तरह विभाग जाति वाला होने के कारण एक या अनेक कर्म की असमवायिकारण वृत्ति है। इस प्रकार कर्मजविभाग की सिद्धि होती है।[3]

अन्यतरकर्मजविभाग- परमाणु की क्रिया से जन्य परमाणु का आकाश से विभाग।[4]

उभयकर्मजविभाग- दोनों परमाणुओं की क्रिया से जन्य एक परमाणु का अन्य परमाणु से परस्पर विभाग।[5]

विभागज विभाग की सिद्धि- इसकी सिद्धि में आचार्य ने दो अनुमान प्रस्तुत किये है- विभागजविभागसाधक प्रथम अनुमान-विभागत्व, कर्म जिसका असमवायि कारण न हो ऐसे पदार्थ में भी विद्यमान है, विभाग निष्ठ जाति होने से, सत्ता के समान।[6] जिस प्रकार सत्ता विभागनिष्ठ जाति होने से अकर्मज संयोगसंयोगज में विद्यमान है। उसी प्रकार विभागत्व भी विभागानिष्ठ जाति होने से किसी अकर्मज पदार्थ में अवश्य विद्यमान रहेगा। परिशेषात् विभागज विभाग की सिद्धि होती है। विभागजविभागसाधक द्वितीय अनुमान- दूसरा अनुमान देते हुए सर्वदेवाचार्य का कथन है कि- विभागत्व विभाग जिसका असमवायिकारण हो ऐसे विभागज विभाग में विद्यमान है, सत्ता के समान।[7] इस प्रकार विभागजविभाग सहित विभागगुण की भेद प्रभेद सिद्धि होती है।

---

1. वही, पृ.-55।
2. वही, पृ.- 55।
3. प्रमाणमञ्जरी (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता), पृ.-184।
4. वही, पृ.-184।
5. वही, पृ.-184।
6. वही, पृ.-184।
7. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-55।

(x,xi) परत्व, अपरत्व - परत्वापरत्वयोर्लक्षणं प्रमाणञ्च

प्रमाणमञ्जरी में आचार्य ने परत्वगुण का लक्षण इस प्रकार दिया है- परव्यवहारेयद्विशेषणताया निमित्तं तत्परत्वम् अर्थात् यह द्रव्य इससे पर (दूर अथवा ज्येष्ठ) है। इन शब्दों के प्रयोगों के प्रति तथा इस प्रकार के ज्ञान के प्रति जो द्रव्य के विशेषण रूप से निमित्तकारण होता है, वही 'परत्व' नामक गुण है।[1] अपरत्वगुण का लक्षण इस प्रकार देते हुए लिखा है कि- यह इससे अपर समीप या कनिष्ठ है, इस शब्द प्रयोग एवं ज्ञान के प्रति विशेषणतया जो निमित्त कारण है, वह अपरत्व नामक गुण है।[2] सर्वदेवाचार्य ने इसकी सिद्धि में प्रमाण दिया है कि- घट आत्मा की तरह अनेक विशेष गुण के असमवायि होने के कारण अस्मद् आदि बुद्धि से उत्पन्न एक जातिवान् हो। परत्व आदि के संयोग का असमवायिकारण विप्रतिपन्न है, सुख की तरह अस्मदादि बुद्धि से उत्पन्न एक द्रव्य होने के कारण। इस प्रकार परिशेष (अनुमान) से इन दोनों कालपिण्ड के संयोग का असमवायिकारण होना सिद्ध है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने कालिक तथा दैशिक परत्वापरत्व के प्रति क्रमशः कालपिण्ड संयोग तथा दिक् पिण्ड संयोग की असमवायिकारणता की सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण को उपस्थापित किया है- विप्रतिपन्नं परत्वादि, संयोगसमवायिकारणम्, अस्मदादिबुद्धिजैकद्रव्यत्वात् सुखादिवत्। द्रव्यान्तर के संयोग का परत्वादि के साथ अन्वय व्यतिरेक के असम्भव होने से तथा कालपिण्डसंयोग तथा दिक् पिण्ड संयोग के साथ परत्वापरत्व का अन्वयव्यतिरेक सिद्ध होने से परिशेषात् कालपिण्ड-संयोग तथा दिक् पिण्ड संयोग ही परत्वापरत्व के प्रति असमवायिकारण होते है।

(xii) बुद्धिगुण - बुद्धेर्लक्षणं तद्विभागश्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने बुद्धि को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- अर्थ अर्थात् पदार्थ का ग्रहण बुद्धि गुण है।[3] बुद्धि के भेद- प्रमाणमञ्जरी में आचार्य ने सर्वप्रथम बुद्धि के दो भेद किये है- (क) नित्य बुद्धि (ख) अनित्य बुद्धि।[4]

(क) नित्य बुद्धि - यह भगवान महेश्वर की है। ईश्वर की नित्य बुद्धि अन्नतकार्यों के प्रति हेतु तथासर्वाश्रयव्यापिनी। नित्यबुद्धि की सिद्धि आत्म प्रकरण

---

1. वही, पृ.-57।
2. वही, पृ.-57।
3. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-59।
4. वही, पृ.-59।

में हो चुकी है।[1]

(ख) अनित्य बुद्धि - अनित्य बुद्धि हम जीवों की है। यह जीवों की अनित्य बुद्धि मानस प्रत्यक्ष सिद्ध है। 'अहं जानामि' इस प्रकार मनोजन्य अपरोक्ष ज्ञान से ही जीवगत अनित्य बुद्धि की सिद्धि होती है।[2]

अविद्यात्मिका बुद्धि -

सर्वदेवाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार पुनः अनित्य बुद्धि के विद्या तथा अविद्या दो भेद किये है। ग्रन्थकार ने सूचीकटाह न्याय से प्रथम अविद्या की ही व्याख्या की है-

अविद्या- प्रमाणमञ्जरीकार ने अविद्या का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि-बाधिता अविद्या अर्थात् जो बाद में यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न होने पर बाधित हो जाती है, वही बुद्धि अविद्या है।[3] पुनः प्रमाणमञ्जरीकार ने अविद्या का भेद किया है- (क) निश्चयात्मक तथा (ख) अनिश्चयात्मक। (क) इनमें निश्चयात्मक अविद्या को विपर्यय कहते है।[4]

विपर्ययसाधक अनुमान प्रमाण- विपर्ययज्ञान की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरी का निम्नलिखित अनुमान प्रमाण उपलब्ध है- विवादास्पदं रजतधीविषयः रजतेच्छुप्रवृत्ति विषयत्वात् हृदगतरजतवत् अर्थात् शुक्ति आदि द्रव्य रजत्व विषयक ज्ञान के विषय होते है, रजत की बुद्धि का विषय रजत चाहने वाले की प्रवृत्ति का विषय है।[5]

(ख) अनिश्चयात्मक अविद्या- उत्तरः संशयः अर्थात् बाद वाला अनिश्चय ज्ञान संशय है।[6]

संशय साधक अनुमान प्रमाण -

प्रमाणमञ्जरीकार ने संशय की सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण का उपन्यास किया है-

इदम् आहोस्विन्नौवमितिव्यवहारोंव्यवहार्यज्ञानपूर्वकः, व्यवहारत्वात्सम्प्रतिपन्नवत्[7]

1. वही, पृ.-59।
2. वही, पृ.-59।
3. वही, पृ.-59।
4. वही, पृ.-59।
5. वही, पृ.-59।
6. वही, पृ.-59।
7. वही, पृ.-59।

अर्थात् यह (स्थाणु) है अथवा यह (स्थाणु) नहीं है, पुरूष है। इस स्थाणुत्व धर्म से विशिष्ट स्थाणु तथा पुरूषत्व धर्म से विशिष्ट पुरूष सम्बन्धी संशयात्मक ज्ञान के द्वारा ही वह किसी दूसरे के समक्ष 'यह स्थाणु है अथवा पुरूष है' यह अभिव्यक्ति करता है। अतः संशयात्मक शब्द-प्रयोग के कारण के रूप में संशयात्मक ज्ञान की सिद्धि होती है।

(ग) अनध्यवसाय- आचार्य ने इसका अन्तर्भाव संशय में किया है।

(घ) स्वप्न- स्वप्न का विपर्यय में अन्तर्भाव होता है।[1]

प्रमाणमञ्जरीकार ने बुद्धि के भेद प्रभेदों को निम्नलिखित रूप से आरेख द्वारा समझाया है-

विद्यात्मिका बुद्धि- प्रमाणमञ्जरीकार ने विद्या बुद्धि अबाधित बताया है। जिस बुद्धि के विषय अवरोध रहित होते है, वही विद्यात्मिका बुद्धि है।[2]

विद्या के भेद- आचार्य ने विद्या के सर्वप्रथम भेद किये है- (1) प्रमा तथा (2) अप्रमा।[3] प्रमा का लक्षण करते हुए आचार्य ने लिखा है- सम्यगनुभूतिः प्रमितिः।[4] अर्थात् यथार्थ अनुभूति (अनुभव) ही प्रमा है। अप्रमा के विषय में आचार्य ने लिखा है- अप्रमा का अर्थ प्रकृत में स्मृति है। 'अनुभूति' पद से ही स्मृति की व्यावृत्ति हो जाती है। स्मृति के विषय में आगे चर्चा आचार्य ने की है। प्रमा के भेद- (1) प्रत्यक्ष तथा (2) अनुमिति।[5]

(1) प्रत्यक्ष ज्ञान- अपरोक्षा साप्रत्यक्षा अर्थात् अपरोक्षा ज्ञान प्रत्यक्ष है।[6]

(2) अनुमिति- परोक्षात्मक ज्ञान लिंगज्ञानपूर्वक उत्पन्न होता है, उसे अनुमिति कहा जाता है।[7]

प्रत्यक्ष के भेद- (1) प्रकृष्टधर्मजप्रत्यक्ष (2) साधारणधर्मजप्रत्यक्ष- प्रकृष्ट धर्म से जन्य प्रत्यक्ष योगियों को होता है। इसे आर्ष प्रत्यक्ष कहते है। इसके प्रमाण में आचार्य का मत है- धर्मः कस्यचित्प्रत्यक्षः, प्रमेयत्वात् वासोवत्। यस्य स प्रत्यक्ष स योगी। अर्थात् धर्म किसी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, प्रमेय होने से वस्त्र

---

1. वही, पृ.-59।
2. वही, पृ.-61।
3. वही, पृ.-61।
4. वही, पृ.-61।
5. वही, पृ.-61।
6. वही, पृ.-61।
7. वही, पृ.-61।

के समान। अतीन्द्रिय गुणस्वरूप धर्म का जिसे प्रत्यक्ष होता है, वही योगी है।[1] हम जीवों का प्रत्यक्ष साधारण धर्मज है।[2]

सविकल्पक बुद्धि- वह सविकल्पक तथा निर्विकल्पक के भेद से दो प्रकार का है। जिस ज्ञान का विषय विशेषण युक्त हो उस ज्ञान को ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। सविकल्पक ज्ञान की सिद्धि में आचार्य ने प्रमाण दिया है- सविकल्पिका बुद्धिः प्रमा, स्मृतिव्यतिरिक्तत्वे सति अबाधितबुद्धित्वात्, निर्विकल्पकवत् इति अर्थात् सविकल्पक बुद्धि प्रमा है, स्मृति से भिन्न तथा अबाधित बुद्धि होने से निर्विकल्पक ज्ञान के समान। जिस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान स्मृति से भिन्न तथा अबाधित बुद्धि होने से प्रमा है, उसी प्रकार सविकल्पक बुद्धि भी स्मृति से भिन्न तथा अबाधित बुद्धिस्वरूप होने से प्रमा है।[3] इस प्रकार आचार्य ने सविकल्पक ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध किया है।

निर्विकल्पक बुद्धि- प्रमाणमञ्जरीकार ने निर्विकल्पक बुद्धि की परिभाषा देते हुए लिखा है कि- वस्तुस्वरूपमात्रवभासो निर्विकल्पकम् अर्थात् वस्तु के स्वरूप मात्र के ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है।[4] पूर्वपक्षी शंका करते है कि ज्ञान सविकल्पक होने के कारण दृष्टान्त की सिद्धि होती है। इस उत्पन्नशंका के समाधान में प्रमाणमञ्जरीकार ने लिखा है कि- उक्तसविकल्पक साधक अनुमान में दृष्टान्त असिद्धि नहीं है, कारण निर्विकल्पक साधक प्रमाण की उपपत्ति हो जाती है।[5] सर्वदेवाचार्य ने निम्नलिखित अनुमान प्रमाण के द्वारा निर्विकल्पक ज्ञान की सिद्धि की है- सर्वे विकल्पा ज्ञानव्यावृत्त जातिमन्तः, जातिमत्वात् पटवत्। अर्थात् सारे विकल्प पट की तरह जाति युक्त होने के कारण ज्ञान से व्यावृत्त जाति युक्त है।[6]

लैंगिकी बुद्धिः, अन्वयव्यतिरेक निरूपणञ्च- उत्तरालैंगिकी अर्थात् लैंगिकी बुद्धि अनुमिति है।[7] सर्वदेवाचार्य ने लिंग का लक्षण इस प्रकार दिया है- लिंगपुनःसाध्याव्यभिचारित्वेसति पक्षधर्मतावत् अर्थात् जो साध्य का अव्यभिचारी हो तथा पक्षधर्मता से युक्त हो, वही लिंग है। इसे 'हेतु' भी कहा गया हैं।[8]

1. वही, पृ.-61।
2. वही, पृ.-61।
3. प्रमाणमञ्जरी,पृ.-61।
4. वही,पृ.-62।
5. वही,पृ.-62।
6. वही,पृ.-62।
7. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-63।
8. वही, पृ.-63।

प्रमाणमञ्जरीकार ने लिंग के सर्वप्रथम दो भेद किये है- (क) अन्वयी तथा (ख) व्यतिरेकी।[1] जिस हेतु का साध्य के साथ साहचर्य नियम होता है, वह अन्वयी हेतु (लिंग) है। पुनश्च विपक्ष के सत्व-असत्व की दृष्टि से अन्वयी के दो भेद है- अन्वयव्यतिरेकी तथा केवलान्वयी। प्रमाणमञ्जरीकार ने केवल व्यतिरेकी हेतु को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- जिसकी साध्य के साथ अन्वयव्याप्ति नहीं बन पाती अतः सपक्ष में साध्य के साथ जिस हेतु का वृत्तित्व ही प्रसिद्ध न हो अपितु साध्याभाव के साथ हेत्वभाव की नियमेन व्याप्ति हो, वह हेतु केवल व्यतिरेकी है।[2]

हेत्वाभासलक्षणम्, तद्विभागश्च- प्रमाणमञ्जरीकार के अनुसार हेत्वाभास का लक्षण इस प्रकार है- लिंगलक्षणरहिता लिंगाभिमानविषया लिंगाभासाः। जो हेतु लिंग लक्षण से रहित हो तथा लिंगाभिमान के विषय हो अर्थात् लिंग के समान बोधित होते हो, वे हेत्वाभास है।[3]

हेत्वाभास के भेद- प्रमाणमञ्जरीकार ने हेत्वाभास के भेद-उपभेदों का वर्णन इस प्रकार किया है- (1) असिद्ध (2) विरूद्ध (3) अनैकान्तिक (4) असाधारण (5) बाधितविषय तथा (6) सत्प्रतिपक्ष।[4]

(1) असिद्धहेत्वाभास- पक्षधर्मतयाज्ञातोखसिद्धः अर्थात् पक्षधर्मता से अज्ञात असिद्धहेत्वाभास है। तथा- शब्दों नित्यः, चाक्षुषत्वात्।[5]- स्वरूपासिद्ध- पक्षधर्मता से रहित हेतु ही स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है। यथा शब्दों नित्यः चाक्षुषत्वात्।[6]

(2) विरूद्धहेत्वाभास- पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो विरूद्धः अर्थात् पक्ष तथा विपक्ष में ही रहने वाला विरूद्ध हेत्वाभास है। जैसे- शब्दोखनित्यः श्रोत्रग्राह्यत्वात्।[7]

(3) अनैकान्तिकहेत्वाभास- पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः अर्थात् जो हेतु तीनों (पक्ष, सपक्ष तथा विपक्षद्ध में वर्तमान रहे वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जैसे-शब्दोखनित्यः प्रमेयत्वात्।[8]

---

1. वही, पृ.-63।
2. वही, पृ.-63।
3. वही, पृ.-64।
4. वही, पृ.-64।
5. वही, पृ.-64।
6. वही, पृ.-64।
7. वही, पृ.-64।
8. वही, पृ.-64।

(4) असाधारणहेत्वाभास- सपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षे वर्तमानोखसाधारणः अर्थात् जो हेतु केवल पक्षमात्र में वर्तमान रहे, वही असाधारण हेत्वाभास है। यथा-पृथिवीनित्या, गन्धवत्वात्।[1]

(5) बाधितहेत्वाभास- प्रमाणविरोधीबाधितविषयः कालात्ययापदिष्टः अर्थात् प्रमाणविरोधी हेत्वाभास बाधितविषयहेत्वाभास है। इसे कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते है। जैसे- अनुष्णोखग्निः, प्रमेयत्वात।[2]

(6) सम्प्रतिपक्षहेत्वाभास- समबलविरूद्धहेतुद्वयसमावेशः सत्प्रतिपक्षः। जिस हेतु का तुल्यबलशाली अन्य हेतु प्रतिपक्ष के रूप में सम्मुख उपस्थित रहता हो वही हेतु सम्प्रतिपक्षहेत्वाभास कहलाता है। इसे प्रकरणसम कहा जाता है। यथा- शब्दो नित्यश्रोत्रग्राह्यत्वादित्युक्ते, न नित्यः, सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रिय-ग्राह्यात्वात् इति।[3]

इस प्रकार उक्त षड्विध हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है। प्रमाणमञ्जरीकार ने लिखा है कि हेत्वाभास के विषय में प्रशस्तपादभाष्य अधिक उपादेय ग्रन्थ है।

शब्दार्थापत्त्यनुपलब्धिनामन्तर्भाव- प्रमाणमञ्जरीकार ने अनुमान प्रमाण में उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि का अन्तर्भाव किया है।[4]

स्मृति निरूपणम्- उत्तरा स्मृतिः अर्थात् विद्या का जो द्वितीय अप्रमा रूप भेद है, वही स्मृति है। अपने विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न होने के कारण वह अप्रमा है।[5]

(xiii, xiv) सुख-दुःख गुण-सुखदुःखयोर्निरूपणम्

सुख- यस्मिन्ननुभूयमाने तत्साधनेष्वभिष्वंगः तत्सुखम् अर्थात् जिसमें अनुभव किये जाते हुए उसके साधनों में अनुराग हो, वह सुख है।

दुःख- यस्मिन्ननुभूयमाने तत्साधनेषु द्वेषः तद्दुःखम् अर्थात् अनुभव किये जाते हुए जिस साधनों के प्रति द्वेष हो, वह दुःख है।[6]

सुख तथा दुःख में बुद्धिजन्यत्व की सिद्धि- प्रमाणमञ्जरीकार ने अनुमान प्रमाण के द्वारा इसकी सिद्धि करते हुए लिखा है कि-ते बुद्धिजे,

1. वही, पृ.-64।
2. वही, पृ.-64।
3. वही, पृ.-64।
4. वही, पृ.-67।
5. वही, पृ.-69।
6. वही, पृ.-69।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यदेवं तदेवं यथा घटः, तथा च प्रकृतम् तस्मात्तथा अर्थात् ये सुख तथा दुःख बुद्धि से उत्पन्न है क्योंकि इनका बुद्धिजन्यत्व अन्वयव्यतिरेक से समझा जाता है। जिसमें अन्वयव्यतिरेक से बुद्धिजन्यत्व सिद्ध होता है, वह बुद्धिजन्य है। सुख तथा दुःख में भी अन्वयव्यतिरेक से बुद्धिजन्यत्व सिद्ध है।[1]

(xv, xvi) इच्छा-द्वेष गुण-इच्छातद्विभागोद्वेषश्च

इच्छा- प्रार्थना इच्छा अर्थात् किसी वस्तु की अभिलाषा ही इच्छा है।[2] वह नित्य तथा अनित्य के भेद से दो प्रकार की है। नित्य इच्छा- महेश्वर की इच्छा नित्य है। इच्छा ईश्वर का एक विशेष गुण है अतः ईश्वर की बुद्धि के समान इच्छा भी नित्य है। प्रमाणमञ्जरीकार ने लिखा है कि- महेश्वरस्य नित्या, ईशविशेषगुणत्वात् तब्दुद्धिवत्[3] अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर का विशेषगुण होने से उनकी बुद्धि नित्य है। उसी तरह विशेष गुण होने से उनकी इच्छा भी नित्य है। अनित्य इच्छा-अनित्य इच्छा की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरी में आचार्य ने लिखा है कि- अनित्या अनीशानाम्, अनीशविशेषगुणत्वात् तद् बुद्धिवत् अर्थात् जीवों की इच्छा विशेष गुण होने के कारण जीव की बुद्धि के समान अनित्य है।[4] द्वेष - इसकी परिभाषा प्रमाणमञ्जरी में रोषो द्वेषः[5] अर्थात् कोध्र द्वेष है। द्वेष अनित्य है, कारण द्वेष जीवों का विशेष गुण है, जीवों की बुद्धि के समान। प्रमाणमञ्जरीकार ने इच्छा तथा द्वेष में अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा बुद्धिजन्यत्व की सिद्धि की है।[6]

(xvii) प्रयत्न गुण-प्रयत्नः तद्विभागश्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने प्रयत्न गुण का लक्षण इस प्रकार किया है कि- गुणत्वावान्तरजात्या बुद्धीच्छान्येश्वरविशेषगु

- णगततत्सामान्याधारः प्रयत्नः अर्थात् गुणत्व की अवान्तर जाति की दृष्टि से बुद्धि तथा इच्छा से भिन्न ईश्वर में वर्तमान विशेष गुण में वृत्ति जाति का आधार ही प्रयत्न है।[7]

---

1. वही, पृ.-70।
2. वही, पृ.-70।
3. वही, पृ.-70।
4. वही, पृ.-70।
5. वही, पृ.-70।
6. वही, पृ.-70।
7. वही, पृ.-71।

प्रयत्न के भेद- प्रमाणमञ्जरीकार ने सर्वप्रथम नित्यानित्य भेद से प्रयत्न के दो प्रकार माने है-

(क) नित्यप्रयत्न- नित्यस्सर्वज्ञस्य तद्विशेषगुणत्वाद्बुद्धिवत् अर्थात् नित्य प्रयत्न सर्वज्ञ (ईश्वर) का है। जिस प्रकार ईश की बुद्धि नित्य है उसी प्रकार प्रयत्न भी नित्य है।[1]

(ख) अनित्यप्रत्यत्न- अनित्य प्रयत्न हम जीवों का है। वह मानस प्रत्यक्ष सिद्ध है। अनित्य प्रयत्न दो प्रकार के है- (1) इच्छापूर्वक या द्वेषपूर्वक तथा (2) जीवनयोनिपूर्वक।[2] इनमें से पूर्व प्रत्यक्ष सिद्ध है तथा बाद वाला अनुमान सिद्ध है। अनुमान के द्वारा जीवनयोनि प्रयत्न की सिद्धि-

सुषुप्तप्राणक्रिया अस्मदादिप्रयत्नजा प्राणक्रियात्वात जाग्रतः प्राणक्रियावदिति अर्थात् सुषुप्तिकालीन प्राण-क्रिया हमारे प्रयत्न से जन्य है, प्राणक्रिया होने से जाग्रत् अवस्था की प्राण-क्रिया के समान।

(xviii) गुरुत्व गुण - गुरुत्वलक्षणं तत्र प्रमाणञ्च

गुरूत्व का लक्षण करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार ने लिखा है - आद्यपतना-समवायिकारणात्यन्तसजातीयं गुरुत्वम् अर्थात् आद्यपतन के असमवायिकारण का अत्यन्त सजातीय गुरूत्व गुण है। गुरूत्व गुण की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरी में आचार्य ने प्रमाण दिया है।[3]

(xix) द्रवत्व गुण- द्रवत्वलक्षणं तद्विभागश्च

द्रवत्व गुण का लक्षण करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार ने लिखा है कि- आद्यस्यन्दनासमवायिकारणात्यन्तसजातीयं द्रवत्वम् अर्थात् प्रथमस्पन्दन के असम-वायिकारण का अत्यन्त सजातीय गुण द्रवत्व है।[4]

द्रवत्व के भेद- द्रवत्व गुण के दो भेद है नित्य तथा अनित्य।[5] जल के परमाणुओं में द्रवत्व नित्य है। प्रमाणमञ्जरी में जलीय परमाणुओं में नित्य द्रवत्व की सिद्धि की है- सलिलद्वयणुकं यावत् द्रव्यभाविद्रवत्ववत्समवायिकार्य, कार्यत्वे सति सलिलत्वात्, सम्प्रति पन्नसलिलवत्। अर्थात् जलीय द्वयणुक होता है, वह

---

1. वही, पृ.-71।
2. वही, पृ.-71।
3. वही, पृ.-72।
4. वही, पृ.-74।
5. वही, पृ.-74।

यावद्द्रव्यभावी द्रव्यत्व की तरह समवायिकार्य है, सम्प्रतिपन्न जल की तरह कार्य होने पर सलिलत्व की तरह।[1] अनित्यद्रवत्व की सिद्धि करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार ने अनुमान दिया है कि-

पार्थिवतैजसपरमाणुषुद्रवत्वमनित्यमसलिलद्रवत्वात् सम्प्रतिपन्नवदितीतरसिद्धिः अर्थात् पार्थिव तथा तैजस् परमाणुओं का द्रवत्व अनित्य है जल से अतिरिक्त द्रव्यों के द्रवत्व होने से धृतनिष्ठ द्रवत्व के समान।[2] पृथिवी तथा तेज का द्रवत्व तैजस संयोग से तथा अग्निसंयोग से उत्पन्न होने के कारण नैमित्तिक द्रवत्व है। जलपरमाणु में द्रवत्वनित्य है और अन्यत्र अनित्य है। इस प्रकार द्रवत्व गुण की सिद्धि होती है।

(xx) स्नेह गुण - स्नेहलक्षणम् तस्य यावद्द्रव्यभावित्वञ्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने स्नेह गुण का लक्षण देते हुए लिखा है कि- घनोपलगतद्वीन्द्रियग्राह्यविशेषगुणात्यन्तसजातीयः स्नेहः अर्थात् मेघ के ओलो में प्राप्त द्वीन्द्रिय से ग्रहण के योग्य विशेष गुण का अत्यन्त सजातीय स्नेह गुण है।[3] स्नेह जल का विशेष गुण है। धृत, तैलादि में प्राप्त स्नेह जलीय ही है किन्तु वह अपकृष्ट नहीं है, अपितु उत्कृष्ट है अतः दाह का प्रयोजक होता है। यह स्नेह जलपरमाणु में नित्य तथा स्थूल जल में अनित्य होता है।[4]

स्नेह गुण का यावद्द्रव्यभावित्व- स च यावद्द्रव्यभावी, अम्भोविशेषगुणत्वात्, रूपवत्। जल का विशेष गुण यावद्द्रव्यभावी है, अतः जल का विशेष गुण स्नेह भी अवश्य ही यावद्द्रव्यभावी होगा। इस प्रकार स्नेह में यावद्द्रव्यभावित्व की सिद्धिहोती है।[5] प्रमाणमञ्जरी में सर्वदेव ने विशेषगुण की परिभाषा देते हुए यहाँ लिखा है- परगतविशेषानपेक्षयापृथिव्यादीनामन्योन्यव्यवच्छेदको गुणों विशेष गुणः।[6] विशेष गुण वह होता है जो दूसरे में रहने वाली विशेषताओं की अपेक्षा न करते हुए पृथिवी आदि द्रव्यों को परस्पर अलग करने का सामर्थ्य रखता हो। इनकी संख्या सोलह है- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना।[7]

---

1. वही, पृ.-74।
2. वही, पृ.-74।
3. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-77।
4. तर्कसंग्रह (चन्द्रशेखर द्विवेदी), पृ.-27।
5. प्रमाणमञ्जरी प्रमाणमञ्जरी, (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता) पृ.-275।
6. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-77।
7. प्रमाणमञ्जरी (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता), पृ.-278।

(xxi) संस्कार गुण - संस्कारलक्षणम्, तद्विभागः तत्रवेगश्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने संस्कार गुण का लक्षण देते हुए लिखा है कि- गुणत्वावान्तरजात्यावेगसजातीयः संस्कारः अर्थात् गुणत्व की अवान्तर जाति की दृष्टि से वेग का सजातीय संस्कार है।[1]

संस्कार गुण के भेद- आचार्य ने संस्कार गुण वेग, स्थितिस्थापक तथा भावना ये तीन भेद बतलाये है।

वेग संस्कार- क्रियाखसमवायिकारणैकद्रव्यात्यन्तसजातीयोवेगः[2] अर्थात् क्रिया के समवायिकारण वाले एक द्रव्य का अत्यन्त सजातीय वेग है।

वेग की सिद्धि- वेगत्वंक्रियासमवायिकारणैकद्रव्यसमानाधिकरणं, स्पर्श-वज्जातित्वात् सत्तावदितिवेग सिद्धिः[3] अर्थात् वेगत्व क्रिया के समवायिकारण वाले एक द्रव्य का समानाधिकरण है। स्पर्श के समान जाति होने के कारण सत्ता की तरह। इस प्रकार वेग की सिद्धि होती है।

वेग के भेद- वेगजन्य तथा कर्मजन्य, इनकी सिद्धि में प्रमाणमञ्जरीकार ने लिखा है कि- वेगत्वंवेगासमवायि-कारणवृत्ति, वेगजातित्वात्, सत्तावत्।[4] वेगत्व जाति वेग असमवायिकारणक पदार्थ में विद्यमान है, वेगनिष्ठ जाति होने से, सत्ता के समान। इस प्रकार वेगज वेग की सिद्धि होती है। कर्मजन्य वेग की सिद्धि में आचार्य ने लिखा है कि- वेगत्वंकर्मासमवायिकारणवृत्ति वेगजातित्वात्, सत्तावत् अर्थात् वेगत्वकर्म असमवायिकारणकारणक वेग में रहता है वेगनिष्ठ जाति होने से सत्ता के समान।[5] इस प्रकार कर्मज वेग की सिद्धि होती है।

स्थितिस्थापक- यावद्द्रव्यभावी संस्कार स्थितिस्थापक है। इसकी सिद्धि में आचार्य सुवर्ण यावद्द्रव्यभावी है, सूई की तरह उसकी स्थिति है, क्योंकि वह अतिन्द्रिय के समान घनावयव वाला है।[6]

भावना- संस्कारः पुरूषगुणो भावना अर्थात् पुरूष गुण से युक्त संस्कार भावना है। जीवात्मनिष्ठ संस्कार रूप गुण ही भावना है। इसकी सिद्धि में आचार्य का मत है कि- संस्कारत्वं पुरूषगुणवृत्ति स्थितिस्थापकवेग जातित्वात् सत्तावत्

---

1. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-78।
2. वही, पृ.-78।
3. वही, पृ.-78।
4. वही, पृ.-78।
5. वही, पृ.-78।
6. प्रमाणमञ्जरी (संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता) पृ.-286।

अर्थात् सत्ता की तरह स्थितिस्थापक वेग की जाति होने के कारण भावना की सिद्धि होती है।[1]

(xxii, xxiii) धर्म, अधर्म गुण - (धर्माधर्मौ)

धर्म- प्रमाणमञ्जरीकार ने धर्म गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है- अतीन्द्रियः पुरूषैकवृत्तिः सुखहेतुर्धर्मः।[2] अर्थात् अतीन्द्रिय तथा एकमात्र पुरूष में स्थित सुख का कारण धर्म है।

अधर्म- अतीन्द्रियः पुरूषैकवृत्तिर्दुःखहेतुरधर्मः[3] अर्थात् दुःख का हेतु अधर्म है, जो अतीन्द्रिय तथा एकमात्र जीवात्मा में रहने वाला है। सर्वदेवाचार्य ने इसकी सिद्धि में लिखा है- विमतं मूर्तद्रव्यचलनं पुरूष गुणकारितं, क्रियात्वात्, कलेवर-चलनवदिति।[4] मूर्त द्रव्यों की संचालन रूप क्रिया जीवात्मा के गुण से सम्पादित होती है। क्रिया होने से शरीरादि के चलन के समान है। इस प्रकार धर्म तथा अधर्म गुण की सिद्धि होती है।

(xxiv) शब्द गुण - शब्दलक्षणम्, तस्यानित्यत्वं गुणत्वञ्च

प्रमाणमञ्जरीकार ने शब्द गुण का लक्षण इस प्रकार आचार्य ने दिया है- श्रोत्रैकग्राह्यजातिमान् शब्दः अर्थात् एकमात्र श्रोत्र से ग्रहण योग्य जाति शब्द गुण है।[5] शब्द अनित्य है महाभूत का विशेषगुण होने से घट रूप के समान। अतः शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। शब्द में गुणत्व की सिद्धि में लिखा है- शब्दों गुणः कर्मान्यित्वे सति सामान्यैकाश्रयत्वात्, रूपवदिति नासिद्धो हेतुः।[6] प्रमाणमञ्जरी में शब्द की नित्यता के विषय में उत्पन्न शङ्का का निराकरण आचार्य ने किया है।

शब्द विभाग- प्रमाणमञ्जरीकार ने शब्दगुण के विभाग में लिखा है कि- स त्रिविधः संयोगजातिभेदत्। शब्द गुण के तीन भेद होते है- (क) संयोगजशब्द (ख) विभागजशब्द तथा (ग) शब्दजशब्द।[7]

(क) संयोगजशब्द की सिद्धि- प्रमाणमञ्जरीकार ने संयोगज शब्द की

---

1. वही, पृ.-289।
2. प्रमाणमञ्जरी, पृ.-81।
3. वही, पृ.-81।
4. वही, पृ.-81।
5. वही, पृ.-82।
6. वही, पृ.-82।
7. वही, पृ.-83।

सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण दिया है – शब्दत्वं विभागासमवायिकारणवृत्ति, शब्द जातित्वात् सत्तावदिति संयोगजशब्दसिद्धिः अर्थात् शब्दत्व शब्दनिष्ठ जाति होने से उस पदार्थ में रहने वाली (वृत्ति) जाति है, जिसका असमवायिकारण संयोग है। 'भेरी का शब्द' संयोगजशब्द का उदाहरण है।[1]

(ख) विभागज शब्द की सिद्धि– प्रमाणमञ्जरीकार ने इसकी सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण दिया है– शब्दत्वंविभागासमवायिकारणवृत्ति, शब्दजातित्वात्, सत्तावत् अर्थात् शब्दत्व विभागासमवायिकारण शब्द में रहता है, शब्दनिष्ठ जाति होने से, सत्ता के समान।[2]

शब्दजशब्द की सिद्धि– इसकी सिद्धि में आचार्य ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है– शब्दत्वगुणत्व से भिन्न जाति से युक्त सजातीय आरम्भवृत्ति है। शब्द की जाति होने के कारण सत्ता की तरह। इस प्रकार शब्दज शब्द की सिद्धि होती है।[3]

निष्कर्षतः प्रमाणमंजरी को एक संग्रह ग्रन्थ मानते हुए अद्वयारण्य ने एक टीका में चर्चा की है कि यह संग्रह ग्रन्थ है। इसीलिए इसमें सभी विषयों का विवेचन नहीं हुआ है। प्रमाणमंजरी पर प्रशस्तपाद का बहुत अधिक प्रभाव मिलता है। प्रो. अनन्तलाल ठक्कुर ने लिखा है कि **प्रशस्तपादभाष्य का संक्षिप्तरूप ही प्रमाणमंजरी** है।[4] प्रमाणमंजरी रचना का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ग्रन्थाकार ने वैशेषिक सिद्धान्तों के अनुसार विवेचन किया है। प्रमाणमंजरी एक प्रकरण ग्रन्थ है परन्तु इसमें विषयों का सम्यक् विवेचन किया गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि यह रचना वैशेषिक सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों से उत्कृष्ट है। वैशेषिक सम्प्रदाय के किंचित् मतों का खण्डन हो चुका था किन्तु आचार्य ने उन सम्प्रदाय के मतों का पुरजोर खण्डन कर पुनः वैशेषिक सिद्धान्तों को अपनाया, जिससे प्रमाणमंजरी ग्रन्थ का नवनीत स्वरूप प्रकट हुआ है। परिणामस्वरूप वैशेषिक के प्रति लोगों की श्रद्धा जाग्रत हुई है। 10 वीं शताब्दी में सर्वदेव की प्रज्ञा से मूर्त स्वरूप को प्राप्त यह ग्रन्थ वैशेषिकदर्शन का परिपक्व फल है, जिसका समय-समय पर पट्टाभिराम जी आदि विद्वानों द्वारा सम्पादन कार्य होता रहा। कतिपय दार्शनिकों द्वारा इसकी व्याख्या का खण्डन भले ही किया गया हो परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि यह ग्रन्थ वैशेषिक सिद्धान्तों को समझने के लिए आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना प्राचीन युग में था। यहाँ महाकवि

---

1. वही, पृ.-89।
2. वही, पृ.-89।
3. वही, पृ.-89।
4. Origion and Development of Vaisesika system p.– 30.

कालिदास की यह उक्ति सार्थक निर्देश देती है कि –

पुराणमित्येव न साधुसर्वं, न चापिकाव्यंनवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः पर प्रत्ययनेयबुद्धि॥[1]

अर्थात् समीक्षक विचार करके ही कोई निर्णय देता है। अतः खण्डन कर देने मात्र से उसकी न्यूनता सिद्ध नहीं होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि तार्किकचक्रचूड़ामणि श्रीसर्वदेव विरचित प्रमाणमंजरी वैशेषिकदर्शन का एक प्रमाणभूत और प्राचीन प्रकरण ग्रन्थ है। जिसमें गुण पदार्थ का तार्किक चिन्तन किया गया है।

✦✦✦

1. (मालविकाग्निमित्रम्) संस्कृत साहित्य का इतिहास।

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

'अग्ने नय' इति मन्त्रार्थविचारः

-डॉ. दे. दयानाथः
सहायकाचार्यः, वेदविभागः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, लखनऊ परिसरः, लखनऊ

[शोधपत्रेऽस्मिन् विविधप्रकरणेषु समाम्नातस्य 'अग्ने नय' इति मन्त्रस्यार्थविचारः विविधवेदभाष्यकाराणां मतानुसारेण क्रियते। वेदार्थनिर्णये प्रकरणस्य किं महत्त्वम्, अपिच परम्परागतार्थस्य श्रेष्ठत्वं कथमित्यादिविषयाः पत्रेऽस्मिन् प्रस्तुताः।]

भारतीयज्ञानपरम्परयाः संस्कृतेश्च मूलस्रोतः वेदः। स च वेदः अपौरुषेय इति मीमांसकाः। मीमांसाशास्त्रे वेदापौरुषेयत्वविषये विस्तरेण प्रपञ्चितमस्ति। विषयोऽयं जैमिनीयन्यायमालायां श्रीमाधवाचार्येणापि विस्तारितः। तद्यथा-

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानात् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥

समाख्यानं प्रवचनाद्वाक्यं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥[1] **इति।**

काठकतैत्तिरीयमाध्यन्दिनादिश्रवणे केवलं प्रवचनमेव हेतुः, न च कर्तृत्वबुद्धिः। अपि च यथा लौकिके कश्चित् ग्रन्थं रचयति तर्हि यत्र क्वापि तस्य नामनिर्देशः भवति, वेदे न तथा क्वचिच्छ्रूयते। अतः वेदस्यापौरुषेयत्वं सुस्थितम्।

वेदस्य लक्षणं बहुभिः शास्त्रकारैः नैकधा प्रोक्तम्। तत्र सायणः - 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।[2] इति लिखति स्वकीयभाष्ये। अपि चाऽऽपस्तम्बः - **मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादो निन्दा प्रशंसा, परकृतिः, पुराकल्पश्च, अतोऽन्ये मन्त्राः**[3] इति सूत्रयति। अत्र मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद इति

1. जैमिनीयन्यायमाला 1.1.8
2. तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका, सायणः
3. आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् 24.1.30-35

साधितः। पुनः शङ्का उदेति यत् मन्त्रस्य किं लक्षणमिति। मन्त्रास्तावद् विविधप्रकारकाः, यथा उरु प्रथस्व[1], त्वचं गृह्णीष्व[2] देवस्त्वा सविता श्रपयतु[3] इत्यादयः अनुष्ठानस्मारकाः। अग्निमीळे पुरोहितम्[4], इन्द्रं वो विश्वतस्परि[5] इत्यादयः स्तुतिरूपाः। अग्न आयाहि वीतये[6], इत्यादयः आमन्त्रणोपेताः। अग्नीदग्नीन् विहर, बर्हिस्तृणाहि, पुरोडाशाँ अलङ्कुरु[7] इत्यादिमन्त्राः प्रैषरूपाः। यदि विहितार्थाभिधायको मन्त्रः इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्'[8] इत्यत्र विधेयत्वादव्याप्तिः। अपि च मननहेतुर्मन्त्रः इत्यपि न घटते यतः ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिर्भवति। इत्थं मन्त्राणां वैविध्यं दृश्यते। एवं स्थिते याज्ञिकसामाख्या मन्त्रः[9] इति निर्दुष्टं लक्षणं प्रतिपादयति सायणः। सङ्ग्रहेणेदमुक्तं जैमिनीयन्यायमालायाम् –

अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम्।
नास्त्यस्ति वास्य नास्त्यव्याप्त्यादेरवारणात्।।

याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते।।[10] इति।

निरुक्ते यास्कः ऋचः त्रैविध्यं ब्रूते। यथा –

त्रिविधा ऋचः, प्रत्यक्षकृताः परोक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च।।[11] इति

वेदे प्रत्यक्षकृताः परोक्षकृताश्च मन्त्राः भूयिष्ठाः। आध्यात्मिक्यश्च अल्पश एव उपलभ्यन्ते। अथ प्रकृतः मन्त्रः यथा –

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।[12]

---

1. तैत्तिरीयसंहिता 1.1.8
2. तैत्तिरीयसंहिता 1.1.1
3. तैत्तिरीयसंहिता 1.1.1
4. ऋग्वेदसंहिता 1.1.1
5. तैत्तिरीयसंहिता 1.6.12
6. तैत्तिरीब्राह्मणम् 3.5.2
7. तैत्तिरीयसंहिता 6.3.1
8. माध्यन्दिनसंहिता 24.20
9. द्रष्टव्या सायणकृता ऋग्वेदभाष्यभूमिका
10. जैमिनीयन्यायमाला 2.1.7
11. निरु. 7.1.1
12. ऋ.सं. 1.189.1, तै.सं. 1.1.14, 1.4.43, तै.ब्रा. 2.8.2, तै.आ. 1.8.8, मा.सं. 5.36, 7.43, 40.16

तैत्तिरीयशाखायां चतुर्वारमृग्वेदसंहितायामेकवारं माध्यन्दिनसंहितायां त्रिवारञ्चेत्याहत्य अष्टसु स्थलेषु समाम्नातस्यास्य मन्त्रस्य विविधभाष्यकाराणां व्याख्याकाराणाञ्चार्थानत्र सङ्गृह्य मन्त्रार्थनिर्णयविचारः प्रवर्त्यते।

पूर्वं तावदृग्वेदस्थमन्त्रस्य भाष्यं यथा सायणेनाभिहितं तत्पश्यामः। प्रसङ्गेऽस्मिन् सायणः आश्वलायनश्रौतसूत्रमुदाहृत्य मन्त्रार्थं प्रतिपादयति। प्रसङ्गस्तु प्रायणीयोदनीयेष्टिरित्यवगन्तव्यः[1]। द्योतनशील हे अग्ने त्वं विद्वानसि इति कथयति सायणः। कीदृशं ज्ञानमित्युक्ते यजमानेनानुष्ठितोऽयं प्रायणीयनामकं यज्ञः, तद्विद्वानिति प्रकरणसम्मतमर्थं बोधयति। अत्र राये इति पदस्य यजमानेन प्राप्तव्यं स्वर्गफलरूपं धनमिति च विवृणोति।

ऋग्वेदस्य सुबोधभाष्ये पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरवर्येण 'ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए हमें उत्तम मार्ग से ले चल'[2] इति व्याख्या कृता। ऐश्वर्यप्राप्तिरित्यस्य प्रायणीयेष्टिरूपकं फलमित्यर्थो नाभिहितम्। अपिच भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम इत्यत्र अनेनाभिहितं यत् पापात् रक्षणस्योपायः केवलं परमात्मोपासनैवेति। अतः प्रतिदिनं देवभक्तिः करणीयेति च लिखितम्।[3]

यूरोपियविद्वत्सु ऋग्वेदस्य आङ्ग्लानुवादकर्ता राल्फ टी. हेच् ग्रिफितनामकोऽपि प्रामुख्यं भजते। अनेन विदुषा The Hymns of Rigveda नामकग्रन्थे ऋग्वेदस्य आङ्ग्लानुवादं व्यधायि। ग्रिफितवर्यः स्वीयव्याख्यायां डा. मैक्समुल्लरवर्यस्य अनुकरणं करोति। अपिच क्वचित् सायणभाष्यमवलोक्यापि अर्थनिर्णयमकरोत्।[4] मन्त्रव्याख्याप्रसङ्गे विद्वान् इति पदस्य 'Who knowest every sacred duty'[5] इत्यलिखत्। Sacred duty इत्यस्य श्रौतं कर्म इति गृहीतेऽपि प्रायणीयोदयनीयेष्टिरित्यर्थः अत्र कथमपि नैव घटते। पाश्चात्यविदुषां श्रौतयज्ञप्रक्रियायाः अपरिचयः प्रकरणस्य च अज्ञानादिरेवात्र हेतुरिति वक्तुं शक्यते।

अयमेव मन्त्रः शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनसंहितायां पञ्चमाध्याये अग्निष्टोमनामकसोमयागप्रकरणे समाम्नातः। अस्मिन् प्रसङ्गे महीधराचार्यः प्रकरणमनुसृत्य

---

1. द्रष्टव्य – आ.श्रौ.सूत्रम् 3.7, 4.3
2. ऋग्वेद का सुबोधभाष्य, पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2011
3. ऋग्वेद का सुबोधभाष्य, पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2011
4. द्रष्टव्य – The Hymns of Rigveda, Preface to the First Edition, 1896, Ralph T.H. Griffith
5. Hymns of Rigveda Vol&I, Ralph T.H. Griffith. 1889. Pg. 326

भाष्यमकरोत्। यथा राये अस्मान् इत्यत्र रैशब्दस्य यज्ञफलमित्यर्थः प्रादर्शि। अग्रे च नमउक्तिं विधेम इत्यत्र नम इति अन्ननाम अतः याज्यापुरोनुवाक्यारूपां हविषां वचनं करवाम इति भाष्यमकरोत्[1]। उव्वटाचार्यः मन्त्रभाष्येऽपि अयमेव अर्थः किञ्चिद्व्याकरणांशान् प्रदर्श्य व्याख्याति[2]। अत्रावधेयं यत् याज्यापुरोनुवाक्ययोः युगपत्पठनं हविःसमर्पणसमये भवतीति। यजत्यनया इति याज्या। देवताह्वानानन्तरं यया ऋचा हविर्दीयते सा ऋग्याज्येत्युच्यते। पुरोनुवाक्या नाम पुरः यागात् पूर्वं देवताह्वानार्थं या ऋगनूच्यते सा पुरोनुवाक्या। अयं च नियमः 'गायत्री पुरोनुवाक्या भवति, त्रिष्टुब्याज्या'[3]। त्रिपदा पुरोनुवाक्या भवति, चतुष्पदा याज्या[4], मूर्धन्वती पुरोनुवाक्या भवति[5], नियुत्वत्या यजति[6] इत्यादि ब्राह्मणवाक्येषु द्रष्टुं शक्यते। मन्त्रोऽयं पुनः माध्यन्दिनसंहितायाः सप्तमाध्याये शालाद्वार्ये दाक्षिणहोमानन्तरमाग्नीध्रियेऽगनौ होमाय विनियुक्तः[7]। महीधरः पूर्वमेव व्याख्यातोऽयं मन्त्रः इति निर्दिशति।

पञ्चमाध्यायस्य सुबोधभाष्ये 'सुपथा राये अस्मान्' इत्यस्य 'अनुष्ठानकर्ता हम लोगों को धन वा यज्ञ फल के निमित्त शोभनमार्ग से प्राप्त करो[8]' इति किञ्चिद्प्रकरणानुसारं व्याख्या व्यधायि श्रीसातवलेकरमहोदयेन। अग्रे युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः इत्यस्य 'यज्ञानुष्ठान करने वालों से अभिलषित क्रिया के प्रतिबंधक पाप को पृथक करो[9]' इत्यलिखत् सातवलेकरमहोदयः। पुनश्च सप्तामाध्यस्थ मन्त्रस्य युयोधि इति पदस्य 'कुटिलतारूप पाप को हमसे युद्ध कराके दूर कर दो[10]' इति प्रकरणाद्भिन्नः कश्चिदर्थः अभिहितः।

माध्यन्दिनसंहितायामीशोपनिषदिति ख्याते चत्वारिंशत्तमेऽध्याये षोडशतमकण्डिकायामप्ययं मन्त्रः समाम्नातः। माध्यन्दिनसंहितायां एकोनचत्वारिंशाध्यायपर्यन्तं कर्मकाण्डः समाम्नातः। अस्मिन्नध्याये श्रुतिविहितकर्मानुष्ठानेन शुद्धान्तःकरणं प्रति ब्रह्मज्ञानोपदेशः विहितः। आत्मयाथात्म्यप्रतिपादनत्वादेतेषां सप्तदशानां मन्त्राणां कर्मसु विनियोगः नास्ति। महीधराचार्येण मन्त्रोऽयं व्याख्यातोऽपि अत्र प्रकरणविशेषत्वात्पुनः

1. महीधरभाष्यम् मा.सं. 5.36
2. उव्वटभाष्यम् मा.सं. 5.36
3. तैत्तिरीयसंहिता 2.6.2
4. तैत्तिरीयसंहिता 2.2.11
5. तैत्तिरीयसंहिता 2.6.2
6. तैत्तिरीयसंहिता 2.6.2
7. द्रष्टव्य का.श्रौ.सू. 10.2.7
8. यजुर्वेद का सुबोध भाष्य, श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2010
9. तत्रैव
10. यजुर्वेद का सुबोध भाष्य, श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2010

व्याख्यातः। उक्तं महीधरेण- 'व्याख्यातापि विशेषाय पुनर्व्याख्यायते'[1] इति। सुपथा शोभनमार्गेण नय इति भाष्यं व्यरचयत् अग्रे, अत्र सुपथेति पदस्य विशिष्टमर्थं प्रदर्शयति महीधराचार्यः। यथा सुपथा पुनर्गमनागमवर्जितेन शोभनेन पथा अस्मान्नय इति[2]। अपिच रैशब्दस्य धनमिति योऽर्थः अभिहितः तस्यापि विशिष्टमर्थं प्रकाशयति। अस्मिन् प्रसङ्गे राये मुक्तिलक्षणरूपाय धनाय इति व्याख्या कृता। परमात्मप्रतिपादकत्वात् विशिष्टः अर्थः प्रकरणानुसारं प्रकाशितः। भाष्यान्ते स्वयं निर्दिशति-

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
व्यरमच्चरमोऽध्यायः परमात्मनिरूपकः।।[3] इति।

श्रौतयागप्रकरणत्वञ्च पञ्चमाध्यायान्ते पूर्वमेवोक्तं महीधराचार्येण। यथा-

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे।
आतिथ्यात्स्थाणुहोमान्तः पञ्चमोऽध्याय ईरितः।।[4] इति।

अनेन ज्ञायते यन्महीधरः प्रकरणानुसारमेव मन्त्राणां भाष्यमकरोदिति।

अत्र आङ्ग्लानुवादकर्ता राल्फ टी. हेच्. ग्रिफितवर्यस्य व्याख्यामपि पश्यामः। यथा-

By goodly paths lead us to riches, Agni, thou God who knowest every sacred duty.
Remove the sin that makes us stray and wander:
Most ample adoration will we bring thee.[5]

अनेन त्रिषु प्रकरणेष्वपि व्याख्या समानरूपेण कृता वर्तते यच्च प्रकरणसम्मतं नास्ति। अत्र राये इत्यस्य त्पबीमे इति यदि स्वीकुर्मः तर्हि ईशोपनिषत्प्रकरणे नैव घटते। विद्वान् इति पदस्य Knowest every sacred duty इति व्याख्या अग्निष्टोमप्रकरणपठितस्य प्रायणीयोदनीयेष्टिकर्मरूपं ज्ञानमिति कथमपि न संगच्छते। Paths lead us to riches इत्यत्र ज्ञानकाण्डे प्रतिपादितः यः मुख्यार्थः 'मोक्ष' इति तच्चात्र नैव प्रदर्शितः। मन्त्रगतपदानां साम्यत्वेऽपि प्रकरणानुसारं महीधराचार्येण व्याख्या कृता।

कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयशाखायां मन्त्रोऽयं चतुर्षु स्थलेषु विविधप्रकरणे पठितः।

---

1. मा.सं. महीधरभाष्यम् 40.16
2. द्रष्टव्या महीधभाष्यम् 40.16
3. मा.सं. महीधरभाष्यम् 40.17
4. मा.सं. महीधरभाष्यम् 5.43
5. Hymns of Rigveda, Ralph T,H, Griffith 5-36, 7.43, 40.16

प्रथमतया मन्त्रोऽयं तैत्तिरीयसंहिताया: प्रथमकाण्डे प्रथमप्रश्ने चतुर्दशानुवाके पठित:। तत्र सायण: प्रकरणं प्रदर्शयति-अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्[1] इति श्रुत्या प्रायश्चित्तरूपेण विहितायामिष्ट्यां पुरोनुवाक्यारूपेण विनियुक्तोऽयं मन्त्र इति। दर्शपूर्णमासेष्ट्या: कदाचित्प्रमादवशादननुष्ठानेन यजमानस्य कर्मपथात् भ्रंश: स च यजमान: पथिकृन्नमकमग्निमिष्ट्वा सुपथे प्रवर्तते। अत्र सायण: राये इत्यस्य दर्शपूर्णमासेष्टिरूपफलाय अतिपादादि दोषरहितमार्गेण अस्मान्नय इति व्याख्याति। अपिच एन: अतिक्रामादिरूपं पापमस्मत्त: वियोजय इति निर्दिशति। भट्टभाकराचार्योऽपि अस्य मन्त्रस्य व्याख्यामकरोत्। सोऽपि प्रकरणप्रदर्शनपूर्वकं व्याख्याति। सुपथा इत्यस्य सुमार्गेण नय इति सायणभाष्योक्तमर्थं किञ्चिद् विस्तृतेण शास्त्राविरुद्धेन शोभनेन मार्गेणेति नय इति प्रदर्शयति।[2] भट्टभास्करभाष्ये व्याकरणप्रक्रियाप्रयोग: भूरिश: कृत: वर्तते। अत्र डा. आर्थर बेरिंडेल कीथवर्य: यश्च एडिन्बर्गविश्वविद्यालयस्य आचार्य: अभवत् सोऽपि सम्पूर्णकृष्णयजुर्वेदस्य आङ्ग्लभाषया व्याख्यामकरोत्। अस्य व्याख्या सायणानुवर्तिनी वर्तते। तेनापि इत्थमेवार्थ: प्रकाशित:। यथा -

OAgni lead us by a fair path to wealth,
O god knowing all the ways;
Keep away from us the sin that makes us wander;
We will accord to thee most abundant honour.[3]

तैत्तिरीयसंहिताया: प्रथमकाण्डे चतुर्थप्रश्ने त्रिचत्वारिंशत्तमानुवाके सोमप्रकरणे मन्त्रोऽयं पुनस्समाम्नात:। अत्र राये इत्यस्य पारलौकिकधनप्राप्त्यर्थमिति भाष्यमकरोत् सायणाचार्य:। भट्टभास्करभाष्येऽपि अयमेवार्थ: प्रोक्त:। डा. आर्थर बेरिंडेल कीथवर्येण प्रथमकाण्डे य: अर्थ: प्रोक्त: स एवार्थ: अक्षरश: अत्रापि प्रदर्शित:[4] अनेन पारलौकिकरूपार्थ: नैव द्योतित:। संहितायां प्रायश्चित्तेष्टिप्रकरणे सोमप्रकरणे चेति द्विवारं समाम्नातोऽयं मन्त्र:। अत: प्रकरणभेदेन दर्शपूर्णमासेष्टिरूपफलं सोमप्रकरणे पारलौकिकरूपफलमिति द्विधाऽर्थ: श्रीमता सायणाचार्येण प्रोक्त:।

तैत्तिरीयब्राह्मणे द्वितीयाष्टके अष्टमप्रश्ने द्वितीयानुवाकेऽयं मन्त्र: पुनरपि निगदित:। अत्र प्रकरणं- 'यो ब्रह्मवर्चसकाम: स्यात्तस्मा एता मल्हा आलभेताग्नेयीं कृष्णग्रीवीं संहितामैन्द्री श्वेतां बार्हस्पत्याम्'[5] इति ब्रह्मवर्चसकामनया क्रियमाणस्य

1. तैत्तिरीयसंहिता 2.2.1
2. तै.सं. भट्टभास्करभाष्यम्, Govt Branch Press, Mysore, 1894
3. The Veda of the Black Yajus School : Taittiriya Sanhita, A.B. Keith, The Harvard University Press, 1914
4. तत्रैव
5. तैत्तिरीयसंहिता 2.8.2

यागस्य वपाहोमे विनियुक्तः अयं मन्त्रः। अत्र सुपथा नय इत्यस्य शोभनकर्मानुष्ठानमार्गेण नय इत्यर्थः प्रादर्शि सायणेन। यतः कर्मानुष्ठानमिदं ब्रहमवर्चसकामनया क्रियते अतः तन्मार्गं प्रति नय इत्यर्थः साधुरेवेति विदुषां मतम्। भट्टभास्करेणापि अयमेवार्थः प्रदर्शितः।[1]

तैत्तिरीयारण्यके प्रथमप्रश्ने अष्टमानुवाके पुनस्समाम्नातोऽयं मन्त्रः। प्रसङ्गश्च आरुणकेतुकनामकचयने इष्टकोपाधनमिति। अत्र आग्नेयसम्बद्धामिष्टकामनेन मन्त्रेणोपदध्यादिति विनोयोगः प्रदर्शितः सायणेन। मन्त्रार्थस्तु यथा प्रायश्चित्तेष्टिप्रकरणे समाम्नातः तथैवोच्यते, किन्तु राये इत्यस्य साक्षाद्धनप्राप्त्यर्थमिति अर्थः प्रादर्शि। अन्यत्सर्वं समामनमेव। भट्टभास्करः वयुनानि इत्यस्य ज्ञानोपायमार्गान् विद्वान् जानन् वर्तसे इति किञ्चिद्विशिष्टं निर्वक्ति[2]। अन्यत्सर्वं यथापूर्वमेव।

'अयं मन्त्राभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः'[3] इति यास्कसम्मतिरपि परम्परागतार्थेन सह मन्त्रः निरूपयितव्यः इत्यत्र दृढं वर्तते। अपिच 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृताः' इति लगधमुनिः। अतः भाष्यकारः सायणः स्वीयं भाष्यं यज्ञपद्धतिमाश्रित्यैव निर्ममे। प्रकरणानुसारं तत्र तत्र ब्राह्मण-निरुक्त-व्याकरणादीनामुदाहरणेन मन्त्रार्थान्। स्पष्टयति सायणः। पूर्ववर्तिभाष्यकारः वेङ्कटमाधवोऽप्याह-

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः।

अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥ इति।

प्रकरणस्य महत्त्वं वेदार्थनिर्णये अतीव प्रामुख्यं भजते। उक्तञ्च यास्केन - 'न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्या प्रकरणश एव निर्वक्तव्या'[4] इति। अपिच पाश्चात्यविदुषः अपि सायणाचार्यस्य वेदार्थनिर्णयपाटवं भूरि प्रशंसितम्। यथा ऋग्वेदस्याङ्ग्लानुवादकर्ता डॉ. हेच.हेच. विल्सनमहोदयः आचार्याणां वेदवेदाङ्ग-विषयकज्ञानं निर्विवादं स्वीकरोति। तेनोक्तम् -

'Sayana undoubtedly had a knowledge of his text far beyond the pretensions of any European scholar, and must have been in possession either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretations which have been perpetuated by traditional teaching from the early

---

1. द्रष्टव्य तै.सं. 2.8.2 भट्टभास्कररभाष्यम्
2. द्रष्टव्य तै.आ. 1.8.8 भट्टभास्कररभाष्यम्
3. निरु. 13.11
4. तत्रैव

times'[1]

पाश्चात्यवेदविद्वत्सु प्रमुखः प्रो. मैक्समुल्लरवर्यः। अयमपि मुक्तकण्ठेन सायणस्य वेदनिर्णयपरिपाटीं स्वीकरोति अनेन वाक्येन-

'We ought to bear in mind that five and twenty five years ago] we could not have made even our first steps] we could never at least have gained a firm footing without his leading strings'[2]

अतः भारतीयपरम्परां ब्राह्मणादिग्रन्थान् वेदाङ्गादिशास्त्रोक्तवाक्यान् यथास्थानमुद्धृत्य निर्मितमिदं माधवीयवेदार्थप्रकाशनामकं भाष्यमेवास्माकं वेदार्थनिर्णयरूपसमुद्रस्य तरणार्थं नौरिव सहायकमित्यत्र न कापि संशीतिरिति शम्।

परिशीलितग्रन्थसूची -

1. वेदभाष्यभूमिकासङ्ग्रहः, सम्पादक - डॉ. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1985
2. तैत्तिरीयसंहिता सायणभाष्ययुता, आनन्दाश्रमग्रन्थालय, 1981
3. तैत्तिरीयब्राह्मणम् सायणभाष्ययुतम्, आनन्दाश्रमग्रन्थालय, 1981
4. तैत्तिरीयारण्यकम् सायणभाष्ययुतम्, आनन्दाश्रमग्रन्थालय, 1987
5. Translation of Rigveda, H.H. Wilson
6. Hymns of Rigveda, Ralph T.H. Griffith, 1889
7. The Veda of the Black Yajus School; Taittiriya Sanhita, A.B. Keith, The Harvard University Press, 1914
8. शुक्लयजुर्वेदसंहिता उव्वट-महीधरभाष्यसहिता, संपादकः पं. रामकृष्णशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2013
9. श्रौतयज्ञप्रक्रियापदार्थानुक्रमकोषः, पं. पीताम्बरदत्त शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नवदेहली, 2005
10. जैमिनीयन्यायमाला, संपादकः - डॉ. महेन्द्र पाण्डेयः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013
11. यज्ञतत्त्वप्रकाशः, डॉ. चिन्नस्वामी शास्त्री, मद्रास् ला जर्नल प्रेस, 1953
12. अर्थसंग्रहः, डॉ. वाचस्पति उपाध्यायः पं. पट्टाभिरामशास्त्री, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2017

---

1. Translation of Rigveda, H.H. Wilson
2. Introduction to Rigveda, F. Max Muller

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

मञ्जूषाकृद्दिशा स्फोटविमर्शः

-**सुश्रीविदुषीबोल्ला**, गवेषिका
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, मुम्बईपरिसरः,

[निबन्धस्मिन् व्याकरणनये प्रसिद्धस्य स्फोटपदार्थस्य निरूपणं व्यधायि। स्फोटशब्दस्य कः अर्थः, स्फोटप्रभेदाः तत्प्रमाणं च विस्तरेण न्यरूपि।]

शक्तिलक्षणाव्यञ्जनावृत्तीनामाश्रयभूतस्य शब्दस्य मते बहूनि मतमतान्तराणि सन्ति। यथा ध्वनिरेव शब्दः स च अनित्यः इति नैयायिकवैशेषिकाः आचक्षते। ध्वनिव्यङ्ग्यः वर्णात्मकं (वर्णसमूहरूपं पदं वाक्यं) नित्यं शब्दमाहुः मीमांसकाः। वैयाकरणाः पदे वर्णानामिव वाक्ये पदानां कल्पितत्वात् तेषामर्थवत्त्वमपि काल्पनिकमिति वाक्यस्यैव शब्दत्वं (वाक्यस्फोटं नित्यं शब्दं) सङ्गिरन्ते। एवञ्च शाब्दिकमते शक्तिः व्यञ्जना चेति वृत्तिद्वयम्। वृत्तेः निरूपकः (परिचायकः) अर्थः, तथा चाऽर्थनिरूपिता च वृत्तिर्भवति। इयमर्थनिरूपिता वृत्तिर्यत्र तिष्ठति, स एव वृत्त्याश्रयः उच्यते। वृत्त्याश्रय एव शब्दः अर्थात् अर्थवाचको भवति। तत्र कोऽर्थवाचक इति शङ्कायां सत्यां वर्णः, वर्णसमूहः, ध्वनिः, स्फोटो वेति विचाराः शास्त्रान्तरेषु सन्ति। विषयेऽस्मिन् विचारांशाः सन्ति -

1. स्फोटस्येतिवृत्तम्
2. स्फोटस्याविष्कर्त्ता
3. स्फोटव्युत्पत्तिः
4. स्फोटावबोधने मानम्
5. पाणिनीये स्फोटवादः
6. व्याडिमते स्फोटवादः
7. कात्यायनमते स्फोटवादः
8. पातञ्जले स्फोटवादः
9. हरिमते स्फोटवादः
10. स्फोटस्वरूपम्

11. स्फोटभेदाः

12. स्फोटभेदेषु प्रमाणम्

13. जातिस्फोटस्य वाचकत्वनिरूपणम्

14. निष्कर्षः

1. स्फोटस्येतिवृत्तम्– व्याकरणशास्त्रे स्फोटशब्दप्रयोगः आदौ पाणिना 'अवङ् स्फोटायनस्य'[1] इत्यस्मिन् सूत्रे स्फोटायनशब्देनाऽकारि। अत्र विद्वद्भिः स्फोटायनाभिधेयः कश्चन आचार्यः, येन स्फोटसिद्धान्तः प्रत्यपादि इति मन्यते[2]। स्फोटशब्दस्य प्रयोगः श्रीमद्भागवतपुराणे अपि दृष्टिपथमायाति–

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्य दृक्।
येनवाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः[3]॥

2. स्फोटस्याविष्कर्त्ता– प्रायः स्फोटायनाचार्यः एव स्फोटसिद्धान्तस्य आविष्कर्त्ता इति पदमञ्जरीकारः हरदत्तः 'अवङ् स्फोटायनस्य' इति सूत्रे स्वीकरोति। परन्तु स्फोटायनस्य कोऽपि ग्रन्थ अद्यत्वे नोपलभ्यते। तथापि शाब्दिकमूर्धन्यैः स्फोटायनाचार्यः एव स्फोटप्रतिपादकत्वेन स्वीक्रियते।

3. स्फोटव्युत्पत्तिः–

1. शब्दकौस्तुभकारः[4] भट्टोजिदीक्षितः–स्फुटत्यर्थोऽस्मात् इति स्फोटः।

2. कौण्डभट्टेन भूषणसारे[5]– स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति यौगिकं स्फोटशब्दाभिधेयं सूचयति।

3. स्फोटचन्द्रिकाचार्येण[6]– स्फोटति अर्थो यस्मादिति व्युत्पत्त्या पङ्कजादिवद्योगरूढः स्फोटशब्दः।

4. नागेशभट्टेन[7]– स्फुटत्यर्थोऽस्मात् इति स्फोटो वाचक इति यावत्।

4. स्फोटावबोधने मानम्– स्फोटावबोधने अर्थापत्तिरेव प्रमाणम्। यथा– 'पीनोऽयं देवदत्तो दिना न भुङ्क्ते' इत्यत्र भोजनं विना पीनत्वोपपत्त्यभावात्

1. 6.1.126
2. स्फोटायनं परायणं यस्य सः स्फोटायनः-स्फोटप्रतिपादनपरौ वैयाकरणाचार्यः इति पदमञ्जरी, काशिकाव्याख्या पाणिनीयसूत्रम् 6.1.126
3. 12.6.40
4. शब्दाकौस्तुभे प्रथमभागे।
5. भूषणसारे स्फोटनिर्णये।
6 श्रीकृष्णभट्टमौनी, स्फोटचन्द्रिका, पृष्ठसङ्ख्या-1
7. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायाम् पृष्ठसङ्ख्या- 2

रात्रिभोजनं कल्प्यते। तथैव शब्दादर्थप्रत्ययो भवति, अर्थप्रत्यायने ध्वनिः अशक्तः, तस्य अनत्यत्वात्। तेन ध्वन्यभिव्यक्तः कश्चनान्तरः शब्दो ब्रह्मात्मको विमुश्च कल्पनीयः। स एव अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या कल्पितः शब्दः स्फोटः।

5. पाणिनीये स्फोटवादः– अष्टाध्याय्यां स्पष्टरूपेण स्फोटवादस्तु न दृश्यते, तथापि 'सर्वत्र विभाषागोः', 'अवङ्स्फोटायनस्य', 'इन्द्रे च' इत्येतेषां सूत्राणां गवेषणया स्फोटवादः परिषुष्ट्यते। सूत्रेषु प्रदत्तोदाहरणेभ्यः 'गोऽग्रम्' इत्यनेन पदस्फोटस्य, 'गवाग्रम्', 'गवेन्द्रः' इत्यनेन वाक्यस्फोटस्य सिद्धान्तः[1] स्पष्टीजायते।

6. व्याडिमते स्फोटवादः– विद्वद्भिः आचार्यव्याडिः व्याकरणशास्त्रे आद्रियते। एतैः सङ्ग्रहाख्यः ग्रन्थः व्यरचि, अद्यत्वे सः नोपलभ्यते। किन्तु यत्र तत्र महाभाष्यकृद्भिः[2] तमुल्लिख्य, तत्सिद्धान्तः प्रादर्शि। अत्र स्फोटरूपः शब्दः नित्यः, ध्वनिरूपोऽनित्यः इति व्याडिसिद्धान्तो व्याधायि।

7. कात्यायनमते स्फोटवादः– भाष्यवार्त्तिककारैः वार्त्तिकादौ 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धः'[3] इति नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः इति वचनेन स्फोटः नित्यः अखण्डः, एकः इति स्फोटवादः साध्यते।

8. पातञ्जले स्फोटवादः– पाणिनीयपरम्परायां स्फोटस्य विशदवर्णनं भगवतः पतञ्जलेः महाभाष्य एव दरीदृश्यते।

• तत्रादौ 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः' इति अनया पङ्क्त्या शब्दस्य स्फोटात्मकरूपं स्फुट्यते।

• एवञ्च 'तपरस्तत्कालस्य' इत्यस्मिन् सूत्रभाष्ये पतञ्जलिनोक्तम् – 'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः'[4] इति।

• तथा च 'अ इ उ ण्' इत्यस्मिन् प्रत्याहाराह्निके 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिर्निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलति आकाशदेशः शब्द' इति वाक्ये 'अभिज्वलति' स्फोटस्य सार्वकालिकसत्ता प्रतिपद्यते। स्फोटस्य अभिव्यक्तिर्भवति न तु उत्पत्तिः[5] इति।

9. हरिमते स्फोटवादः– स्फोटस्य विशदीचर्चा भर्तृहरीणां वाक्यपदीये

---

1. डा. कपिल द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन
2. किं पुनर्नित्यः शब्दः आहोस्वित् कार्य्यः? सङ्ग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात् कार्य्यो वेति? तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः यद्येव नित्योऽथापि कार्य्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्त्यमिति। महाभाष्ये प्रथमाह्निके।
3. महाभाष्यस्य वार्त्तिकम्–1
4. महाभाष्ये 1.1.70
5. महाभाष्ये द्वितीयाह्निके

दरीदृश्यते। महाभाष्यमाधृत्यैव वाक्यपदीये स्फोटवादः प्रवर्त्तितः हरिणा। अत्राद्य-कारिकायामेव स्फोटब्रह्मणः स्वरूपं प्रत्यपादि-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद् विवर्त्तते॥[1] इति।

अपि च शब्दस्यापि द्वैविध्यं महाभाष्यवदिव प्रदर्शितम्- स्फोटात्मकम्, ध्वन्यात्मकञ्च। एवञ्च स्फोटस्य प्रकाशः ज्ञानमिव भवति। उक्तञ्च–

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपञ्च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपञ्च प्रकाशते॥[2] इति

एवं स्फोटेनाऽपि अर्थः, स्वात्मरूपञ्च प्रकाश्यते।

तथा च स्फोटविचारे नानाचार्य्यैः अनेके ग्रन्थाः असार्षिषत। यथा–

मण्डनमिश्रस्य - स्फोटसिद्धिः, भरतमिश्रस्य - स्फोटसिद्धिः, अज्ञातकर्तृकस्य - स्फोटन्यायविचारः, केशवकवेः - स्फोटप्रतिष्ठा, शेषकृष्णकवेः - स्फोटतत्त्वम्, श्रीकृष्णभट्टस्य - स्फोटचन्द्रिका, आपदेवस्य - स्फोटनिरूपणम्, कुन्दभट्टस्य- स्फोटवादः इत्यादयः।

10. स्फोटस्वरूपम्– स्फोटो नाम स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटोऽर्थात् वाचकः शब्दः। अपि च स्फुट्यते ध्वनिभिर्व्यज्यते इति स्फोटोऽर्थात् ध्वनिव्यङ्ग्यः शब्दश्चेत्येतद्व्युत्पत्तिद्वयेनाऽर्थप्रकाशकत्वमेव स्फोटत्वम्। तथा च ध्वनिव्यङ्ग्यत्वे सत्यर्थविषयकबोधजनकत्वं स्फोटस्य लक्षणं पर्य्यवसन्नम्। लक्षणेऽस्मिन् प्रत्यक्षेऽनुमाने चाऽतिप्रसङ्गवारणाय विशेषणदलम्। चुटचुटादिध्वनिनाऽभिव्यक्ते इतोऽपसर्त्तव्यम् इत्याद्यर्थविशेषेऽतिप्रसङ्गवारणाय विशेष्यदलम्। विशेष्यदले बोधजनकत्वं बोध-स्वरूपयोग्यत्वमेव, तेन घटपदे श्रुते कस्यचिदर्थबोधाभावेऽपि न तत्र स्फोटलक्षण-स्याऽव्याप्तिः। इदञ्च स्फोटस्य तटस्थलक्षणम्[3]। स्वरूपलक्षणञ्चोक्तं मञ्जूषाकृता - मध्यमानादव्यङ्ग्यः शब्दः स्फोटात्मको ब्रह्मरूपो नित्यश्चेति[4]। अव्यवधानेन एव वक्तुः हृदये मुखे च क्रमशः अर्थवाचकस्फोटशब्दप्रतिपादनाय मध्यमानादः, वैखरीनादश्चोत्पद्यते। तयोः मध्यमानादो वक्तुः हृदये घटपटाद्यर्थस्य वाचकस्य स्फोटरूपशब्दस्य प्रकाशको बुद्ध्या गृह्यते। वैखरीनादस्तु वक्तृणाञ्च श्रोतृणां

---

1. वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डस्य प्रथमकारिका
2. वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डस्य- 50 कारिका
3. यच्च यावल्लक्ष्यभावितामनुपेत्यापि व्यावर्त्तकं सल्लक्ष्यैकदेशे वर्त्तते, तथा व्यावर्त्तकमपि जायते, तदेव तटस्थलक्षणमिति वे.प.।
4. प.ल.म.पृ.स.-314, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018

सकलव्यक्तीनां श्रोत्रेन्द्रियमात्रेण ग्रहणयोग्यो ध्वनिः श्रोतुः हृदये स्फोटव्यञ्जकः, वक्तुः दृष्ट्या च भेर्य्यादिनादवत् स्फोटस्याऽव्यञ्जकत्वात् निष्प्रयोजनो भवति। अस्य स्फोटस्य शब्दत्वं, ब्रह्मत्वं, नित्यत्वञ्च वाक्यपदीयेऽनया कारिकया प्रतिपद्यते–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥[1]

अनादिनिधनं = आदिश्च निधनञ्च आदिनिधने, न आदिनिधने यस्य तदनादिनिधनमित्यस्याऽर्थः आद्यन्तरहितमिति, अक्षरं = व्यापकम् यद् ब्रह्म, तदेव शब्दतत्त्वमस्ति। यस्मात् जगतः = नामरूपात्मकस्य शब्दार्थोभयरूपस्य संसारस्य प्रक्रिया = उत्पत्तिः व्यवहारश्चाऽर्थभावेन = वृक्षनदी पर्वतादिरूपेण विवर्त्तते = भासते। स्फोटोऽयं परमार्थतः एकः, अखण्डश्चाऽस्ति, तथापि पदव्यञ्जकवशात् पदं, वाक्यरूपव्यञ्जकवशात् वाक्यमिति प्रतीयते। तदुक्तं भर्तृहरिणा–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वाक्येष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥[2]

पदे प्रतीयमानाः अपि वर्णाः न भवन्ति, एवञ्च वाक्ये अवयवाः = प्रतीयमानानि पदान्यपि न भवन्ति। वाक्यात् पदानां कोऽपि प्रविवेकः= भेदो न वास्तविकोऽस्ति।

11. स्फोटभेदाः– स्फोटस्याऽष्टविधत्वं वैयाकरणैः मन्यते। तत्रादौ व्यक्तिजातिभेदेन स्फोटोऽयं द्विधा विभज्यते। व्यक्तिस्फोटः सखण्डाखण्डभेदेन पुनर्द्विधा, पुनः सखण्डस्फोटोऽपि पदवाक्यभेदेन द्विधेति पञ्च व्यक्तिस्फोटाः। जातिस्फोटस्तु वर्णपदवाक्यभेदात् त्रिधेत्याहत्याऽष्टौ स्फोटाः जायन्ते, एवञ्च–

1. सखण्डवर्णस्फोटः, 2. सखण्डपदस्फोटः, 3. सखण्डवाक्यस्फोटः, 4. अखण्डपदस्फोटः, 5. अखण्डवाक्यस्फोटः, 6. वर्णजातिस्फोटः, 7. पदजातिस्फोटः, 8. वाक्यजातिस्फोटश्च।

अत्राखण्डवाक्यस्फोट एव प्राधान्येन स्वीक्रियते तार्किकैः। अमी च स्फोटभेदाः बोद्धृभेदेनैव कल्पिताः, न तु वादिभेदेन, तदेवोक्तं नागेशेन – निरूपितस्फोटभेदत्रयं न वादिभेदेन व्यवस्थितम्, किन्तु बोद्धृभेदेन। कस्यचित् प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्येकं तत्तदर्थशक्तिग्रहाद् बोधेन, कस्यचित् पारिभाषिकसुबन्तादिपदतद्ग्रहाद् बोधेन, कस्यचित् समुदायतद्ग्रहाद् बोधेन त्रयाणामप्यावश्यकत्वात्। कार्यकारणभावे व्यभिचारस्तु

1. वा.प.का. 1
2. वा.प.का. 1–63

अव्यवहितोत्तरत्वादिनिवेशेन वार्य्यः[1] इति।

अयञ्च स्फोटः वस्तुतः एकः, नित्यः, विभुः किन्तु वर्णपदवाक्यरूपात् उपाधिभेदात् स्फोटस्याऽष्टौ औपाधिकभेदा भवन्ति। अत्र नागेशः तान् एव विवेचयति मञ्जूषायाम्- तत्र वर्णपदवाक्यभेदेन स्फोटस्त्रिधा। तत्राऽपि जातिव्यक्तिभेदेन पुनः षोढा। अखण्डपदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनयाऽष्टौ[2] स्फोटाः इति। तथा चाऽष्टौ स्फोटानां विवरणमित्थम्-

1. **वर्णव्यक्तिस्फोटः-** पदवाक्यलक्षणानाक्रान्तस्य वर्णसमूहस्य वर्णस्य वा प्रकृतिप्रत्ययरूपस्य व्याकरणेन गृहीतशक्तिकस्य पच्, तिप् इत्यादिकस्य वाचकत्वे प्रकृतिप्रत्ययरूपवर्णव्यक्तिव्यङ्ग्यः तत्सदृशः स्फोटः वर्णव्यक्तिस्फोटः। प्रकृतिप्रत्यय-घटकीभूता वर्णा अनर्थका इति न तत्र सखण्डस्फोटव्यवहारः।

2. **सखण्डपदव्यक्तिस्फोटः-** रामं, रामेण, रामायेत्यादौ परिनिष्ठिते रूपे कियानंशो द्रव्यादिवाचकः, कियांश्च कर्म्मत्वादेरित्यस्य विनिगन्तुमशक्यतया राममित्यादि परिनिष्ठितं पदमेव वाचकं कर्म्मत्वादिविशिष्टस्येति पदस्फोटपक्षः। तत्र सुबन्ततिङन्त-तदादिघटकप्रकृतिप्रत्ययरूपवर्णाभिव्यक्तस्फोटेनार्थप्रतीतौ सखण्डपदव्यक्तिस्फोटः, यथा पाचकः, औपगवः।

3. **सखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोटः-** सर्वप्रथमं व्यवहारे वाक्ये एव शक्तिग्रहात् वाक्यमेव वाचकं वाक्यार्थस्येति वाक्यस्फोटपक्षः। तत्र सुबन्ततिङन्तपदजन्यबोधपूर्वक-वाक्याभिव्यक्तस्फोटस्य बोधकत्वे सखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोटः, यथा गां बधान, गां नय इत्यादि।

4. **अखण्डपदव्यक्तिस्फोटः-** एकः पट इतिवदेकं पदमित्यबाधितप्रतीत्या वर्णादिरिक्तमेव पदमखण्डं वर्णव्यङ्ग्यम्। अखण्डेष्वपि ऋकारादिषु वर्णेषु वर्णान्तरसमानाकारैकदेशावभासो यथा, तथाऽत्र पक्षे वर्णावभासः प्रकृतिप्रत्ययजन्यबोधाभावे सति पदस्फोटेन बोधेऽखण्डपदव्यक्तिस्फोटः।

5. **अखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोटः-** पदजन्यबोधाभावे सति वाक्यरूप-व्यक्तिव्यङ्ग्येन तत्सदृशेन वाक्यस्फोटेन बोधेऽखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोटः। वाक्येऽ-खण्डत्वञ्चापृथगुपस्थितिजनकत्वम्। उदाहरणञ्च दध्यानय, हरेऽव, विष्णोऽवेत्यादि।

6. **वर्णजातिस्फोटः-**अनन्तानां वर्णानां वाचकत्वकल्पनापेक्षया तन्निष्ठाया जातेरेव वाचकत्वकल्पने लाघवमिति वर्णजातिस्फोटपक्षः। यथा अनन्तासु गोव्यक्तिषु शक्तिकल्पनापेक्षया लाघवेन गोपदस्य गोत्वे शक्तिकल्पनम्। प्रकृतिप्रत्ययादिगत-

---

1. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायाम्
2. प.ल.म.पृ.स.-132, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018

जातिव्यङ्ग्यः स्फोटो वर्णजातिस्फोटः। यथा पच्त्वतित्वादिजातयः।

7. पदजातिस्फोटः– पूर्ववदनेकपदानां वाचकत्वकल्पनापेक्षया पदनिष्ठजातेरेव वाचकत्वमिति सुबन्ततिङन्तपदगतजातिव्यङ्ग्यः स्फोटः पदजातिस्फोटो यथा घटपदगोपदादौ घटपदत्वगोपदत्वादिजातिः। पदस्फोटात्मकं प्रकृतिप्रत्ययविशिष्टपरम्। यतो हि व्याकरणानुरूपमादेशभेदात् गुणकृते 'घटेन' इति पदे कियानंशः प्रकृतिः, कियानंशः प्रत्ययः इति अभ्युपगमाभावात्, प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामर्थोपस्थित्यसम्भवेन प्रकृतिप्रत्ययविशिष्टे वाचकत्वशक्तिरवश्यमभ्युपेयम्। तदेव पदस्फोटेन प्रसिद्ध्यति व्याकरणे।

अपि च 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इत्यनेन वस्नसादेः समुदायविधानात्, तत्र प्रकृतिप्रत्ययविभागस्य सर्वथाऽशक्यत्वात्, समुदाये वाचकत्वशक्तिरभ्युपेय एव, तदेव पदस्फोटेन व्यवह्रियते। तदेवोक्तं भट्टोजिदीक्षितेन–

घटेनेत्यादिषु नहि प्रकृत्यादिभिदा स्थिता।
वस्नसादाविवेहापि सम्प्रमोहो हि दृश्यते[1]॥ इति।

अत्र पक्षद्वयं दरीदृश्यते–

1. यत्र शास्त्रेणाऽपि प्रकृतिप्रत्ययविभागः दुर्ज्ञेयः, तत्रैव केचित् पदस्य वाचकत्वं स्वीकुर्वन्ति। यत्र तयोः कल्पना सम्भवा एव तत्र नाङ्गीकुर्वन्ति।

2. किन्तु क्वचित्पदस्य वाचकत्वं क्वचिच्चावाचकत्वमिति कल्पयितव्ये अर्द्धजरतीयत्वात् न सुधीभिः तत् सम्मतम्। अत एव भाष्यतत्त्वविदस्तु यत्र प्रकृतिप्रत्ययविभागः कल्पयितुं नितरामशक्यः, तत्र वाचकत्वस्वीकृत इव तच्छक्य-स्थलेऽपि पदस्य पदस्य वाचकत्वमवश्यमभ्युपेयम् इति।

8. वाक्यजातिस्फोटः– वाक्यगतजातिव्यङ्ग्यस्फोटो हि वाक्यजातिस्फोटः। तथाहि देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन इत्यादिपदसंघातरूपेषु वाक्येष्वस्ति कश्चन प्रतिवाक्यं भिद्यमानो जातिविशेषः, येन प्रतिपुरुषं प्रत्युच्चारणं प्रतिक्षणं भिद्यमानेऽपि वाक्ये एकत्वप्रत्यभिज्ञा भवति। अतः पदसंघातगताया जातेरेकस्य एव वाचकत्वमिति समायाति वाक्यजातिस्फोटः।

12. स्फोटभेदेषु प्रमाणम्

1. वर्णव्यक्तिस्फोटः स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशत्वम्।[2]

---

1. वैयाकरणभूषणकारिकायाम्
2. म.भा.।

6. वर्णजातिस्फोटः	अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते, रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति।[1]
2. सखण्डपदव्यक्तिस्फोटः	येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः।[2]
4. अखण्डपदव्यक्तिस्फोटः	वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति।[3]
7. पदजातिस्फोटः	आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति।[4]
3. सखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोटः	समासग्रहणं वाक्ये प्रातिपदिकसञ्ज्ञातिव्याप्ति-वारणार्थम्।[5]
5. अखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोटः	पदे न वर्णा विद्यन्ते वाक्येष्ववयवा न च।[6]
8. वाक्यजातिस्फोटः	तच्च ब्रह्मतत्त्वं परमार्थतो नित्यम्, व्यवहार-नित्यतया तु वर्णपदवाक्यस्फोटानां जातिस्फोटस्य वा।[7]

13. जातिस्फोटस्य वाचकत्वनिरूपणम्– अष्टाविधेषु स्फोटेषु वर्णनिष्ठा, पदनिष्ठा, वाक्यनिष्ठा च जातिः वाचिका भवति। इयञ्च जातिः शक्तता-वच्छेदिकाऽस्ति। शक्तम् अर्थात् शक्तेः आश्रयो वर्णः, पदम्, वाक्यञ्च। शक्तता वर्णे, पदे, वाक्ये च तिष्ठति, तस्या अवच्छेदिका तादात्म्येन तत्तन्निष्ठा जातिरेव। अर्थात् वर्णनिष्ठायाः जातेः, पदनिष्ठायाः जातेः, वाक्यनिष्ठायाः जातेः एव वाचकत्वं भवतीति मन्तव्यम्। अत्र प्रमाणत्वेन हरिकारिका उद्धियते– 'अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृताः'[8] इत्यस्यार्थस्तु अनेकव्यक्तिभिः अभिव्यक्ता जातिः स्फोटः अर्थात् वाचिका भवतीति। एवञ्च शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहार्थं, व्यवहारसम्पादनार्थञ्च वर्णाभिव्यक्तस्य वर्णस्फोटस्य, पदाभिव्यक्तस्य पदस्फोटस्य, वाक्याभिव्यक्तस्य

---

1. ऐ औ च् इति सूत्रभाष्ये।
2. म.भा. पस्पशायाम्।
3. म.भा. पस्पशायां प्रदीपे कैयटोक्तिः।
4. म.भा. पस्पशायां सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे इति वार्त्तिकभाष्ये।
5. म.भा.।
6. वा.प.।
7. म.भा. प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे कैयटवचनम्।
8. वा.प.का. 1-93

वाक्यस्फोटस्य च स्वीकारात् अष्टविधः स्फोटात्मकः शब्द एव वृत्त्याश्रयो बोध्यः। वस्तुतस्तु व्यवहारे वाक्येनैवाऽर्थाकाङ्क्षापूर्त्तिदर्शनात् वाक्यव्यङ्ग्यः स्फोटः वाक्यस्फोट एव वृत्त्याश्रयः स्वीकार्य्यः। अथवा लाघवानुरोधेन वाक्यव्यक्तिस्फोटस्य वाक्यजाति-स्फोटस्य च मध्ये वाक्यजातिस्फोटः एव वृत्त्याश्रयो भवति।

14. निष्कर्षः

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते[1]**॥**

इति भर्तृहरिकारिकायां निखिलाऽर्थेनाऽनुस्यूतशब्दस्य किं स्वरूपमिति जिज्ञासा उत्पद्यते, तत्र मञ्जूषाकृता 'वस्तुतो बौद्ध एवार्थः शक्यः, पदमपि स्फोटात्मकं प्रसिद्धमि[2]'ति सिद्धान्तेन स्फोटात्मकः शब्दः इति लभ्यते। तत्र स्फोटो नाम स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटोऽर्थात् वाचकः शब्दः। अपि च स्फुट्यते ध्वनिभिर्व्यज्यते इति स्फोटोऽर्थात् ध्वनिव्यङ्ग्यः शब्दश्चेत्येतद्व्युत्पत्तिद्वयेनाऽर्थप्रकाशकत्वमेव स्फोटत्वम्। तथा च ध्वनिव्यङ्ग्यत्वे सत्यर्थविषयकबोधजनकत्वं स्फोटस्य लक्षणं पर्य्यवसन्नम्। लक्षणेऽस्मिन् प्रत्यक्षेऽनुमाने चाऽतिप्रसङ्गवारणाय विशेषणदलम्। चुटचुटादिध्वनिनाऽभि-व्यक्ते इतोऽपसर्त्तव्यम् इत्याद्यर्थविशेषेऽतिप्रसङ्गवारणाय विशेष्यदलम्। विशेष्यदले बोधजनकत्वं बोधस्वरूपयोग्यत्वमेव, तेन घटपदे श्रुते कस्यचिदर्थबोधाभावेऽपि न तत्र स्फोटलक्षणस्याऽव्याप्तिः। इदञ्च स्फोटस्य तटस्थलक्षणम्[3]। स्वरूपलक्षणञ्चोक्तं मञ्जूषाकृता – मध्यमानादव्यङ्ग्यः शब्दः स्फोटात्मको ब्रह्मरूपो नित्यश्चेति[4]। अत्र नैयायिकास्तु वृत्त्याश्रयः शब्दः पदमेव, स चाऽनित्यमिति मन्यन्ते। वर्णानां समूहः पदं, पदमेव वृत्त्याश्रयो भवति भवति। किन्तु वर्णस्य क्षणिकत्वात् वर्णसमूहस्य प्रत्यक्षत्वाऽसम्भवात् कथमर्थवाचको भवतीत्यत्र उपायत्रयं तार्किकैः प्रदर्शितम् – पूर्ववर्णस्य विनष्टत्वेऽपि तस्य संस्कारवशात् अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन पूर्ववर्णयुक्त-चरमवर्णस्य प्रत्यक्षता भवति, शब्दजशब्दन्यायेन पदं प्रत्यक्षं भवति, पूर्वपूर्ववर्णानां श्रवणानुभवात् उत्पन्नसंस्कारेण सहितः योऽन्तिमवर्णश्रवणानुभवस्तेन पूर्वपूर्ववर्णसंस्कार-सहितान्तिमवर्णानुभवेन सकलपूर्ववर्णविषयकक्रमिकस्मरणेन घटादिपदस्य प्रत्यक्षता भवतीति तन्न, अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धस्तु द्वयोर्विद्यमानयोरेव भवति, शब्दजशब्दन्याय्येन

---

1. वा.प.का.ब्र.का. 123
2. प.ल.म.पृ.सं.-216, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018
3. यच्च यावल्लक्ष्यभावितामनुपेत्यापि व्यावर्त्तकं सल्लक्ष्यैकदेशे वर्त्तते, तथा व्यावर्त्तकमपि जायते, तदेव तटस्थलक्षणमिति वे.प.।
4. प.ल.म.पृ.स.-314, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018

पदप्रत्यक्षत्वस्य साधनेऽपि पदस्य विद्यमानतायाः अभावात्, अभावस्य चाऽश्रयत्वा-सम्भवः, एवञ्च चरमवर्णपर्य्यन्तसंस्कारद्वारा समेषां वर्णानां स्मरणात्मकप्रत्यक्षेऽपि वर्णक्रमस्य पौर्वापर्य्यस्य स्मृतिप्रत्यक्षभावदर्शनान्न तार्किकमते वर्णप्रत्यक्षं सम्भवति। अस्तु। वाणी चतुर्भिर्भेदैर्भिद्यते, ते च परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति शब्दैर्व्यवह्रियन्ते। अत्र वैखरीरूपो वक्त्रोच्चारितो ध्वनिः परश्रोत्रग्राह्यः सन् श्रोतुः हृदये स्फोटव्यञ्जकः, च मध्यमारूपः कृतो ध्वनिः स्फोटस्य अर्थात् वाचकस्य वृत्त्याश्रयस्य शब्दस्य वक्तुः हृदये प्रकाशकः कथ्यते। अयञ्च वृत्त्याश्रयस्फोटो वस्तुतः एकः, नित्यः, विभुः किन्तु वर्णपदवाक्यरूपात् उपाधिभेदात् स्फोटस्याऽष्टौ औपाधिकभेदा भवन्ति। 'अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृताः'[1] इत्यभियुक्तोक्त्या अनेकव्यक्तिभिः अभिव्यक्ता जातिः स्फोटः अर्थात् वाचिका भवतीति। अत्र स्फोटो व्यङ्ग्यः, ध्वनिः तस्य व्यञ्जको भवति। ध्वनिश्च द्विविधः प्राकृतो वैकृतश्चेति[2]। एवं स्फोटसयाऽभि-व्यक्तेः पश्चात् चिरकालोपलब्धये वैकृताः ध्वनयो वृत्तिभेदे अर्थात् द्रुतमध्यविलम्बितेति त्रिषु भेदेषु कारणानि भवन्ति, तदाह–

अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता।
शिष्याणामुपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता[3]॥ इति।

सहायकग्रन्थसूची–

1. भर्तृहरिः, शुक्लसूर्यनारायणः शुक्लरामगोविन्दश्च (ed.), वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), प्रथमसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, 2006
2. भर्तृहरिः, व्याख्याकारः झावेदान्तः (ed.), वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), प्रथमसंस्करणम्, देहली, मन्दाकिनीसंस्कृतविद्वत्परिषद्, 2002
3. पतञ्जलिः, श्रीगुरुप्रसादशास्त्री (ed.), व्याकरणमहाभाष्यम्, प्रथमसंस्करणम्, देहली, प्रतिभाप्रकाशनम्, 1938
4. पाणिनिः, श्री प. ब्रह्मदत्तजिज्ञासु (ed.), पाणिनीयः अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, सप्तदशं संस्करणम्, देहली, राधाप्रेस, 2005
5. भट्टनागेशः, व्याख्याकारः प्रो. झाबोधकुमारः (ed.), परमलघुमञ्जूषा, प्रथमसंस्करणम्, जयपुर, हंसाप्रकाशनम्, 2018

---

1. वा.प.का. 1-93
2. स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
   शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः॥ ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।
   इति भर्तृहरेः वा.प.का. 1-77-78 इत्यत्र प्राकृतवैकृतयोः स्वरूपमुक्तम्।
3. प.ल.म. पृ.स.-321, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018

6. भट्टनागेशः, प्रो. बालशास्त्री (ed.), लघुशब्देन्दुशेखरः, वाराणसी, चौखम्बा-सुरभारतीप्रकाशनम्, 2013

7. प्रो. झाबोधकुमारः, समासस्तदव्ययीभावश्च, प्रथमसंस्करणम्, देहली, विद्यानिधि प्रकाशनम्, 2011

8. मिश्रविश्वनाथः, प्रौढनिबन्धसौरभम्, प्रथमसंस्करणम्, जयपुर, राष्ट्रियसंस्कृत-साहित्यकेन्द्रम्, 2003

9. तत्त्वबोधिनीसमाख्यव्याख्यासंवलिता सिद्धान्तकौमुदी, देहली, चौखम्बा-संस्कृतप्रतिष्ठानम्, 2010

10. भट्टकौण्डः, पञ्चोलिबालकृष्णः (ed.), वैयाकरणभूषणसारः प्रभादर्पण-व्याख्याद्वयोपेतः, वाराणसी, चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वि.सं. 2068, ई. 2012

11. भट्टनागेशः, व्याख्याकारः डा. त्रिपाठिजयशङ्करलालः (ed.), परम-लघुमञ्जूषा, भावप्रकाशिकाबालबोधिनी संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेता, चतुर्थसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाकृष्णदासअकादमी, 2011

12. चक्रवर्ती श्री चतुर्वेदिरामाधीनः, संस्कृतभाषाविज्ञानम्, प्रथमसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बाविद्याभवनम्, 2005

13. डा. झाधनुर्धरः, वाक्यार्थविवेचनम्, प्रथमसंस्करणम्, नवदेहली, नाग पब्लिशर्स, 2002

14. एन्.एस्.रामानुजताताचार्यः, शब्दलक्षणप्रामाण्यविमर्शः, नवदेहली, डा. कमला-कान्तमिश्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, 1995

15. डा. झागङ्गानाथः, डा. सोमयाजुलुके.वी. (ed.), व्याकरणशास्त्रे शब्दविमर्शः, प्रथमसंस्करणम्, नागपब्लिशर्स, 2006

16. अन्नम्भट्टः, तर्कसङ्ग्रहः, टीकाकारः श्री पण्डितगोविन्दः, टीकानाम कमला, प्रथमसंस्करणम्, बनारस, जयकृष्णदास हरिदास गुप्ता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1941

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

राष्ट्र की समृद्धि में ऋग्वेदकालीन नारी की भूमिका

-मंगला ठाकुर
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
जनकपुरी, नई दिल्ली

[समाजस्य राष्ट्रस्य उन्नतौ स्त्रीणां भूमिका अत्यन्तापेक्षिणी। राष्ट्रस्य उन्नतौ ऋग्वेदकालिकमहिलानां कीदृशी भूमिका आसीत् इति अस्मिन् लेखे निरूपितो विद्यते।]

'ऋग्वेद' के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में नारी का स्थान तथा राष्ट्र की स्मृद्धि में नारी की भूमिका को प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद काल में नारी की धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति राष्ट्र की स्मृद्धि का कारण कैसे बनी का विवेचन प्रस्तुत करना ही इस शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य है।

बीज-शब्द-राष्ट्र, नारी, स्मृद्धि, सौहार्द, समरसता, सामाजिकता।

किसी भी युग अथवा देश की सामाजिक व्यवस्था एवं तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का वास्तविक मूल्यांकन स्त्रियों की स्थिति एवं उनके विषयों में प्रचलित धारणाओं के बिना अपूर्ण है। यथा आत्मा के बिना शरीर अधूरा होता है वैसे ही पुरुष स्त्री के बिना अधूरा है। सृष्टि की आधारशीला दोनों पर समान रूप से टिकी हुई है। इसी कारण शतपथब्राह्मण में स्त्री को पुरूष की अर्धागिनी कहा गया है।[1] नारी जीवन की अनेक अवस्थाओं में से पुत्री प्रथम अवस्था है। कन्या अथवा पुत्री रूप में ही नारी समाज में पहचानी जाती है। नारी शब्द नृ अथवा नर शब्द में ङीन् प्रत्यय से निष्पन्न है- **'शाङ्र्गरवाद्यञो ङीन्'**[2]। नारी शब्द की इन दोनों व्युत्पत्तियों को पतञ्जलि ने सही बताया है- **'नृधर्म्यान्नारी,**

1. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद् यावज्जायानं विन्दते तवत्प्रजायते असर्वो हिता वद्भवति। अथ यदैव जाया विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वा भवति।
2. अष्टाध्यायी- 4.1.73, पृ. 33.

नरस्यापि नारी'[1]। यास्काचार्य ने नर शब्द को नृत् (नर्तन) धातु से निष्पन्न बताया है- **'नराः मनुष्याः, नृत्यन्ति कर्मसु'**[2] कहा है। इस व्युत्पति से स्पष्ट है कि नर अपने कार्यों के सम्पादन में अपने अंगों का संचालन करता था, इसलिए उभे "नर" कहा गया है। नारी शब्द भी अपने मूलभूत शब्द "नर" के कारण उपर्युक्त विशेषणों से अलंकृत था और वह भी नर की तरह समाज में अपने सभी अधिकारों का प्रयोग करके अर्द्धनारीश्वरत्व की परिकल्पना को सार्थक करता था। नृ शब्द से बने नर और नारी का प्रयोग वीरता का कार्य करने, दान देने, एवं नेतृत्व करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] संहिताओं में नर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर घर का कार्य करने, यज्ञ करने, दान देने, अतिथियों, साधुओं, भिक्षुओं का स्वागत-सत्कार करने तथा युद्ध में पति के साथ जाने के वृत्तान्त उपलब्ध है, जिससे उस समय की वस्तुस्थिति का परिज्ञान हो जाता है। ऋग्वेद में कन्या को उच्च स्थान प्राप्त था, जिसका उदाहरण **'विसूनृता ददृशे रीयते घृतम्'**[4] अर्थात् जहां घृत बहता है, वहां हर्ष से प्रफुल्लित कुमारी देखी जाती है। अतः कन्याओं का समान होने से वह सन्तुष्ट होकर अनेक सामाजिक कार्यों में सहयोग प्रदान करती है। वैदिक काल में कन्या को शुभ तथा विशेष शक्ति से युक्त माना जाता था। इसकी पुष्टि उषस् को दिव की पुत्री निर्देशित करने से होती है। घर की कन्याएं सोमसवन में प्रमुख रूप से भाग लेती थीं।[5] ऋग्वेद में सोम सदन के प्रसंग में सवन कर्ता की अंगुलियों को **'याषणः', 'स्वसारः'** तथा **'दुहितरः'** आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है।[6] जिससे यह प्रतीत होता है कि सोम सवन का कार्य कन्याओं द्वारा ही सम्पन्न होता था। ऋग्वेद में पुत्र एवं पुत्री की दीर्घायु कामना का वर्णन है।[7] नारी के पर्यायवाची के रूप में विविध शब्दों का प्रयोग होता है, यथा- स्त्री, मेना, जोषा, वामा, अबला, सुन्दरी, प्रमदा, तरुणी, युवती, मोहिनी मानिनी, ललना, महिला, पुत्री, सुता, बाला, दारिका, दुहिता, मध्यमिका, जामा, दारा, रमणा, रमणी, पत्नी, गृहिणी, प्रियतमा, प्रेयसी, वधू, माता, जननी, जनयित्री, जनित्री, जनिः, जनिका, जनी इत्यादि। इन सभी शब्दों का पृथक्-पृथक् अपना एक स्वतन्त्र अर्थ है, व्युत्पत्ति है, जिनके कारण ये इन्हीं

1. महाभाष्य- 4.4.49, पृ. 260.
2. निरुक्त- 5.1.3, पृ. 289.
3. ऋक्.सं.7.10.5, 7.55.8, 8.77.8, 10.18.7, 10.83.10-11
4. ऋक्. 1.135.7
5. ऋ. 9.1.6
6. ऋ. 9.91, 14.5, 32.2
7. ऋ. 8.31.8

शब्दों से व्यवहृत होते हैं। यथा स्त्री को स्त्री इसलिये कहते हैं क्योंकि पाणिनीय धातुपाठ में स्त्यै धातु का अर्थ है- **'स्त्यै शब्दसंघातयोः'**[1] अर्थात् इकट्ठा या एकत्र करना। ऐसी प्रसिद्धि है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक वार्तालाप करने वाली होती हैं। पतञ्जलि ने स्त्यै धातु को आधार मानते हुए कहा है कि नारी को स्त्री इसलिये कहते हैं क्योंकि उसके भीतर गर्भ की स्थिति होती है–**'स्त्यायत्यस्याङ्गर्भइति'**[2]। इस प्रकार नारी सम्बन्धी ये सभी शब्द नारी के सम्मानित स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार सृष्टि का आरम्भ 'प्रकृति' के क्षोभ का परिणाम है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार प्र अर्थात् प्रकृष्ट व कृति से सृष्टि अर्थ का बोध होता है। अतः सृष्टि करने में जो प्रकृष्ट है वह प्रकृति है। दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री और राधा- ये पाँच देवियाँ प्रकृति कहलाती हैं व इन्हीं पर सृष्टि निर्भर है।[3] वहाँ यह भी बताया गया है कि प्रत्येक लोक में जितनी स्त्रियाँ हैं, उन सभी को प्रकृति की कला का अंश समझना चाहिए व स्त्रियों का अपमान प्रकृति का अपमान है। प्रकृति के अभाव में पुरुष षङ्गु है। नर वपन कर सकता है, सृजन की शक्ति उसमें नहीं। बिना शक्ति के शिव शवसमान है। स्वयं ईश्वर भी अपने स्वरूप से आधे ही रह जाते हैं व पूर्ण रूप में 'अर्धनारीश्वर' कहलाते हैं। देवियों का स्थान सदैव देवताओं से पूर्व रहता है। 'गणेशाय नमः' से पूर्व 'श्री' लगाया जाता है। इसी प्रकार 'सीताराम', 'राधाकृष्ण', 'भवानीशङ्कर' इत्यादि रूपों में नारी का महत्त्व स्वतःसिद्ध है। नारी जगदम्बिका है, जगज्जननी है, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयङ्कारी है। उसके अनेक रूप हैं। हिन्दू शास्त्रों में नारी के कन्यापन की, मातृत्व की तथा गृहिणीत्व की पूजा की गयी है–

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥'[4]

भारतीय संस्कृति में यह मान्यता है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया। आधे दक्षिण भाग से वे पुरुष और आधे वाम भाग से नारी हुए–

'स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधा रूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांश पुमान् स्मृतः॥'[5]

---

1. पाणिनीय धातुपाठ, पृ. 20
2. महाभाष्य- 4.1.3, पृ. 25.
3. ब्रह्मवैवर्तपुराण- प्रकृतिखण्ड, अध्याय-1.
4. मनुस्मृति- 3.56.
5. वृहदारण्यक उपनिषद्- 14.1.3

महाभारत में भी कहा गया है कि कन्या में सर्वदा लक्ष्मी निवास करती है–**"नित्यमनिवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठितः।"**[1] हमारे शास्त्रों के अनुसार तो माता का स्थान वस्तुतः स्वर्ग से भी ऊँचा है–

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'[2]

'मातापितरौ' के समास में माता का स्थान पिता से पूर्व है। मातृ शब्द 'मा माने, माङ् माने अथवा मान पूजायाम्' धातु से तृ प्रत्यय से निष्पन्न है। अर्थात् 'माति गर्भोऽस्यामिति माता, मान्यते पूज्यते जनैरिति वा माता'। भगवती श्रुति का कथन है– **'मातृदेवी भव'।**[3] मनु का कथन है कि दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता, किन्तु हज़ार पिताओं की अपेक्षा माता गौरव की दृष्टि से बढ़कर होती है–

'उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितृनमाता गौरवेणातिरिच्यते॥'[4]

ऋग्वेदकाल में नारी का धार्मिक योगदान–

धर्म शब्द धृ धातु + मन् प्रत्यय से निष्पन्न है– **'ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा'।** अर्थात् जो लोक को धारण करता है, वह 'धर्म' है अथवा **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः'**। वैदिक काल में नारी की धार्मिक स्थिति सन्तोषजनक थी, स्त्रियों को पुरुषों के समान धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिकार प्राप्त थे व उन पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। नारी का स्थान नर के समान श्रेष्ठ था, उसे नर के समान ही धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। वैदिक कालीन संस्कृति में यज्ञों कों सर्वाधिक महत्व दिया जाता था तथा उन्हें सम्पन्न करने के लिए पत्नी का सहयोग अपेक्षित रहता था। अतएव पत्नी पति के साथ अनिवार्य रूप से भाग लिया करती थी।[5] ऋग्वेद में घोषा काक्षीवती, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा आत्रेयी, वागम्भृणी, रात्रि भारद्वाजी, श्रद्धा कामायनी, शची पौलोमी, रोमशा आदि मन्त्रदर्शी ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है जो धार्मिक क्षेत्र में उनके अधिकारों का द्योतक है। ये ऋषिकाएँ, ब्रह्मवादिनि, विदुषी ऋत्विक होती थीं, जो निम्न उद्धरणों से स्पष्ट है– स्त्री का यज्ञ में ब्रह्मा होना–

---

1. महाभारत– 13.11.4
2. महाभारत–अनुशासनपर्व, 46.5.
3. तैतरीयोपनिषद्– 1.11.
4. मनुस्मृति– 2.145.
5. बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ. 84

'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ'।[1] विदुषी स्त्री द्वारा यज्ञ धारण करना- **'यज्ञं दधे सरस्वती'**।[2] स्त्रियाँ यज्ञ करने वाली अथवा यज्ञ से प्रेम करने वाली होती थीं- **'वीतिहोत्राकृतद्वसू'**।[3] अनेक स्थलों पर वर्णन है कि पति-पत्नी साथ मिलकर यज्ञ व ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। ऋग्वैदिक ऋचाओं में पत्नी के लिए आदेश है कि वह पतिगृह में जाकर देव-पूजा में संलग्न रहें तथा दम्पती वृद्धावस्था पर्यन्त धार्मिक कृत्य करते रहें–

'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि'। 'विदथमा वदाथः'।

ऋग्वेद में अनेक उद्धरण मिलते हैं जहाँ पत्नियों ने पति के आपत्काल में रक्षार्थ या मनोरथ प्राप्त्यर्थ स्वतन्त्र रूप से यज्ञानुष्ठान कर प्रार्थनाएँ की थीं, यथा–

एक पत्नी का उसके पति के युद्ध में चले जाने पर उसकी रक्षा हेतु यज्ञ करना- **'पत्न्यच्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः'।**[4]

अपने पति की अनुपस्थिति में पुरुकुत्स की पत्नी द्वारा इन्द्र और वरुण को हवि देकर नमस्कार पर्वक प्रसन्न करना।[5] अपाला ने इन्द्र की स्तुति में मन्त्रों की रचना की व उसके लिए सोम स्तवन किया।[6] विश्ववारा ने अग्नि की स्तुति में मन्त्रों की रचना की और यज्ञ के अवसर पर ऋत्विक का कार्य भी किया।[7] यज्ञेतर विविध धार्मिक कृत्यों में स्त्रियों की उपस्थिति का ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से सङ्केत मिलता है, यथा- देवों द्वारा सपत्नीक अग्नि पूजन का कथन- **'संजनाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यम्'।**[8]

सोम-सवन प्रसंग में अंगुलियों को स्त्रीवाचक शब्दों, यथा- जनि, योषा आदि के निर्देश से स्त्रियों के सोम-सवन में भाग लेने का सङ्केत। (ऋग्वेद- 1. 71.1, 3.26.3, 9.1.7)

वैदिक स्त्री का एकाग्र होकर देव-स्तुति व सोमपानार्थ उका आह्वान करना। यथा, सूर्य पुत्री श्रद्धा द्वारा यज्ञार्थ सोम लाने का वर्णन। (ऋग्वेद- 9.113.3).

---

1. ऋ. 8.33.19
2. ऋ. 1.3.11
3. ऋ. 8.31.9
4. 10.85.26.27
5. ऋग्वेद- 4.42.9
6. ऋग्वेद- 8.9.11
7. ऋग्वेद- 5.28.1
8. ऋग्वेद- 1.72.5

इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वैदिक नारी की धार्मिक कार्यों में विशेष भूमिका रहती थी।

ऋग्वेदकाल में नारी का शैक्षणिक योगदान–

ऋग्वैदिक नारी सुशिक्षित स्त्री थी। उसने विद्याओं का ज्ञान भी अर्जित किया था और कलाओं में भी निपुणत थीं। ऋग्वेद काल में स्त्रियां पुरुषों के समान उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं, यह बात स्त्री के लिये प्रयुक्त विशेषणों और अनेक उदाहरणों से पुष्ट है, यथा–नारी की आत्मगौरवपूर्ण घोषणा कि मैं ज्ञानवती हूँ, घर की प्रमुख और शत्रुनाशिका हूँ– **'अहं केतुरहं मूर्छाहमुग्रा विवाचनी'।**[1] सुशिक्षित स्त्री के लिये विदुषी शब्द का प्रयोग किया गया है और उषासानक्ता को उस विदुषी स्त्री के समान यज्ञ को धारण करने का उपदेश है–**'उषासानक्ता विदुषीव विश्वमाहा वहतो मत्यार्य यज्ञम्'।**[2] इसी प्रकार **देवी** (विद्या आदि दिव्य गुणों से सम्पन्न स्त्री) तथा **सरस्वती** (प्रशस्त सर या विज्ञान है जिसमें अथवा प्रशस्त वाणी की अधिष्ठात्री है) आदि शब्द स्त्री शिक्षा के द्योतक हैं। (ऋग्वेद 2.41.17, 1.188.8) स्वामी दयानन्द भाष्य। स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त कर विदुषी एवं ऋषिकाएं बनती थीं। यथा- स्त्री के लिये प्रयुक्त **उपनीता** विशेषण इस बात का परिचायक है कि स्त्रियों का उपवती संस्कार होता था- **'ब्राह्मणस्योपनीता'।**[3] स्त्रियों के उपदेशिका तथा वक्त्री रूप का उल्लेख मिलता है। ऐसा अधिकतर वाणी, वेदवाणी अथवा उत्तम बातों के कहने के प्रसङ्ग में है। स्त्री को यज्ञ में सत्यवचन कहने और पवित्र विचार सुनाने वाली कहा गया है- **'ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री'।**[4] नारियों को सभा में भाग लेने की स्वतन्त्रता थी- **'समनगा इव व्रा:'।**[5] ऋग्वेद में **घोषा काक्षीवती, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा आत्रेयी, वागम्भृणी, रात्रि भारद्वाजी, श्रद्धा कामायनी, शची पौलोमी, रोमशा आदि मन्त्रदर्शी ऋषिकाओं** का उल्लेख मिलता है। ये ऋषिकाएँ, ब्रह्मवादिनि, विदुषी ऋत्विक होती थीं जो स्त्री-शिक्षा का द्योतक थी व जिनका वर्णन ऋग्वेद में प्रतिपादित नारी का धार्मिक योगदान के अन्तर्गत किया जा चुका है। इस प्रकार ऋग्वैदिक-कालीन स्त्रियों को वेदों के पठन-पाठन, यज्ञ

---

1. ऋ. 10.159.2
2. ऋ. 5.41.7 (स्वामी दयानन्द भाष्य)
3. ऋ. 10.108.4
4. ऋ. 4.56.2
5. ऋ. 1.124.8

सम्पादन के लिए, उपनयन आदि संस्कारों के द्वारा ही शिक्षित किया जाता था। अतः कहा जा सकता है कि शैक्षणिक क्षेत्र में नारी ने अपने भरसक प्रयास से राष्ट्र की स्मृद्धि में अपना योगदान दिया है।

ऋग्वेदकाल में नारी की आर्थिक योगदान–

ऋग्वेद में स्त्रियों की साम्पत्तिक अधिकार की स्थिति पर कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जो स्थल हैं वे भी नगण्य हैं और अर्थ की दृष्टि से विवादास्पद भी। यद्यपि वैदिक समाज में पुत्र के समान ही पुत्री को भी आदर मान, स्नेह एवं दुलार दिया जाता था।[1] परिवार में कन्याएं अपने आदर्श गुणों को विकसित करती हुई प्रायः माता के शासन में रहती थी। माता के साथ वह गृह कार्यों को सीखती तथा उसे सहायता देती थी। उनके गुणों में वस्त्र बुनना, सिलना, कुएं से घडों में जल लाना एवं अपने छोटे भाई बहनों के पालन-पोषण में माता की सहायता करना था।[2] जलाशयों पर जाने या जल लाने वाली कन्याओं का ऋग्वेद में कई स्थल पर उपमान रूप में उल्लेख है।[3]

वैदिक कन्याएं पिता के कृषि कार्यों में सहयोग देती थीं और अच्छी फसल हेतु उत्कण्ठित रहती थीं। अपाला को अपने पिता के खेतों में अच्छी फसल के लिए इन्द्र से याचना करते हुए चित्रित किया है।[4] इस प्रकार ऋग्वेद में सम्पत्ति के प्रति नारी की उद्दम लालसा दृष्टिगोचर नहीं होती। ऋग्वेद में स्त्री की जो भी आर्थिक स्थिति है, उसमें वह सन्तुष्ट है, क्योंकि कहीं भी उसका आर्थिक असन्तोष नहीं झलकता। ऋग्वेद में आर्थिक अधिकार किसी विवाद के रूप में उजागर नहीं हुआ है, जैसा कि परवर्तीकाल में दृष्टिगोचर होता है। यह बात भी विशेष उल्लेखनीय है कि नारी को आर्थिक-अधिकारों का कहीं निषेध भी नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि नारी का आर्थिक योगदान तत्कालीन समाज में असन्तोषजनक नहीं था।

ऋग्वेदकाल में नारी का पारिवारिक व सामाजिक योगदान–

ऋग्वेद में कन्याओं या पुत्रियों के प्रति उपेक्षा या हीनता का भाव प्रकट करने वाला कोई उल्लेख नहीं है। यज्ञ करने वाले दम्पती की प्रशंसा इस कथन से की गई है कि वे पुत्र-पुत्रियों से युक्त होकर पूर्ण आयु प्राप्त करें, दोनों

---

1. श. 3.31.2
2. ऋ. 3.55.12, माता च् यत्र दुहिता च....।
3. ऋ. 1.191.14
4. ऋ. 8.81.5-6

सुवर्णवत् कमनीय हैं–**'पुत्रिणा तु कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नतः। उभा हिरण्यपेशसा।'**[1] ऋग्वेद में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यदि किसी दम्पती के पुत्र और पुत्री दोनों सन्तानें उत्पन्न होती थीं, तो उनमें पुत्र पिता के कार्यों को पूर्ण करने वाला, और पुत्री आदर करने योग्य होती थी– **'यदि मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्।'**[2] ऋग्वेद में, वधू या पत्नी के रूप में नारी को पर्याप्त सम्मान दिया गया है। ऋग्वैदिक समाज में नारी के प्रति वैचारिक समानभाव को प्रदर्शित करने वाले मुखर प्रमाण उसवे लिये प्रयुक्त सञ्ज्ञा शब्द हैं। पति का अर्थ स्वामी है तो पत्नी का अर्थ स्वामिनी है। पत्नी को घर, श्वसुर, सास, ननद, देवर आदि की सम्राज्ञी घोषित करके पुरुष के समान ही नहीं, अपितु बढ़कर महत्त्व प्रदान किया है। एक स्थल पर तो **जायेदस्तम्** (पत्नी ही घर है) कहकर पत्नी को ही घर का वास्तविक रूप माना गया है। समानभाव को अभिव्यक्त करने के लिये वेद ने पति को पत्नी का सखा और मित्र की सञ्ज्ञा दी है। पति और पत्नी दोनों के लिये प्रयुक्त होने वाला **दम्पती** द्विवचनान्त शब्द घर पर दोनों का समान रूप से अधिकार सिद्ध करता है। दम् अर्थात् घर औ पती अर्थात् उसके स्वामी पति–पत्नी। इसी प्रकार **मातरौ, पितरौ, मातरा, पितरा** आदि शब्द भी माता–पिता की समान सत्ता का सङ्केत देते हैं। द्वन्द्वसमासात्मक **मातापितरौ** शब्द रचना में तो माता का पहले उल्लेख होने, पिता से अधिक उसके महत्त्व को व्यक्त करता है। ऋग्वेद से इस बात के भी सङ्केत मिलते हैं कि अविवाहित रह जाने वाली कन्याओं का उतने आदर की दृष्अि से नहीं देखा जाता था यतोहि उन्हें **अमाजुर** (साथ वृद्ध होने वाली), **पितृषद्** (पिता के घर में निवास करने वाली) तथा **अग्रू** (जिसने सन्तानोत्पादन द्वारा गुरुत्व या गौरव प्राप्त नहीं किया) जैसे हीनभावनात्मक विशेषोणों से पुकारा गया है।[3] इसी प्रकार पति द्वारा उपेक्षित या दुर्व्यसनी की पत्नी को दूसरे लोग छेड़ने और सेवन करने का प्रयास करते हैं।[4] ऐसे पुरुषों की पत्नियाँ दुःखी ही रहती हैं।[5] इन स्थितियों को देखकर ऋग्वैदिक समाज के प्रति नकारात्मक धारणा नहीं बनानी चाहिये क्योंकि ये स्थितियों तो व्यवहार का यथार्थ और शाश्वतिक एवं सार्वकालिक हैं। अच्छे से अच्छे समाज और शासन में भी ये गूढ़ या प्रकट रूप में अपना अस्तित्व रखती हैं।

---

1. ऋ. 8.31.8
2. ऋ. 3.31.2
3. ऋ. 2.17.7, 8.21.15, 10.39.3
4. ऋग्वेद– 10.34.4
5. ऋग्वेद. 10.34.10.

निष्कर्ष–

इस प्रकार ऋग्वैदि काल में नारी की स्थिति गौरवास्पद वर्णित हुई है। अतः ऋग्वैदिककालीन नारी के इस अध्ययन से स्पष्ट है कि स्त्री ब्रह्मा है, जो राष्ट्र यज्ञ तथा विश्व यज्ञ की रचयिता तथा उसकी संचालिका है। वह ही ब्रह्म के समान मानव की जन्मदात्री और जीवन निर्मात्री है। महिलाओं न ऋग्वैदिक काल में ऋषियों के आश्रम में रह कर ही शिक्षा प्राप्त करके साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में अपना भरपूर योगदान दिया। ऋग्वेदकाल में नारी का स्थान पुरूषों के समान ही था, परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया नारियों की स्थिति खराब होती गई। समाज में नारियों के अधिकारों को छीन लिया गया। उनकों शिक्षा के अवसरों से वंचित रखा जाने लगा। 19वीं शताब्दी में जब महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का पदार्पण हुआ तब नारी जाति को एक सबल सहारा मिला। यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती गृहस्थी नहीं बने परन्तु फिर भी नारी के प्रति उनकी वेदमूलक दृष्टि उन्हें सम्मान दिलाती है। उनके अतुलनीय प्रयास ने नारी को पुनः नारी को ऋग्वेदकालीन दर्जा दिलाया है, अतः मानवीय साधनों के पूर्ण विकास, परिवार तथा देश के उत्थान के लिए नारी की शिक्षा आवश्यक है। एक नारी का शिक्षित होना पूरे परिवार, पूरे देश, पूरे राष्ट्र का शिक्षित होना है। भारतीय संस्कृति में जो कुछ शुभ है, सुन्दर है, शक्तिशाली है, जीवनदायक है, उसे नारी रूप में ही देखा गया है और यही नारी राष्ट्र की स्मृद्धि की मूलभूत जड़ है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

जिज्ञासु, पं. ब्रह्मदत्त, *अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति* (भाग 1-3). बहालगढ़: रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1989.

शर्मा. श्रीराम व भगवती देवी शर्मा (सं.). *ऋग्वेद संहिता* ब्रह्मवर्चस.हरिद्वार: पञ्चम आवृति, 1997.

तैत्तिरीय उपनिषद्. वाराणसी: चौखम्बा विद्या भवन,

यास्क. (व्या.) पं.सीताराम शास्त्री. *निरुक्त* (भाग 1-2). चतुर्थ संस्करण दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स, 2005.

पाणिनीय गणपाठ. अजमेर: वैदिक यन्त्रालय, 1981.

पाणिनीय धातुपाठ, अमृतसर: रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1989.

शूद्रक. (सं.) श्रीनिवास शास्त्री, *मृच्छकटिकम्.* मेरठ: साहित्य भण्डार, 1985.

मनुस्मृति. (दृष्टि व्या.) डॉ. प्रवीण प्रलयङ्कर (भाग 1-2). प्रथम संस्करण दिल्ली: न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, 2004.

मनुस्मृति (द्वितीय अध्याय) (सं.एवं व्या.) राकेश शास्त्री. कुल्लूकभट्ट कृत *मन्वर्थमुक्तावली चन्द्रिका व्याख्या* सहित. प्रथम संस्करण, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, 1999.

महाभारत गोरखपुर: गीता प्रेस

पतञ्जलि. महाभाष्य. (सं.) श्री गुरुप्रसाद शास्त्री (भाग 2-4). द्वितीय संस्करण. वाराणसी: वाणी विलास प्रकाशन, 1987.

वृहदारण्यकोपनिषद् चौखम्बा विद्याभवन.

श्रीमद् रामचरितमानस. (गोस्वामी तुलसीदास) बम्बई: शिक्षा ग्रन्थागार, 1958.

संस्कृत-हिन्दी कोश (सं.) वामन शिवराम आप्टे. दिल्ली: नाग प्रकाशक, 1991.

डॉ, कमला. *ऋग्वेद में नारी* (ऐतिहासिक एवं यौगिक व्याख्याओं के सन्दर्भ में तुलनात्मक विवेचन) दिल्ली: निर्मल पब्लिकेशन्स, 1997.

धर्मशास्त्र और स्त्री विमर्श (सं.) चन्द्रकला पाडिया, महिला अध्ययन एवं विकास केन्द्र. वाराणसी: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 2007.

सुमंगला झा. *मनुस्मृति में नारी*, दिल्ली: संजय प्रकाशन, 2006.

पाण्डेय, कृष्णानन्द. *महाभारत में नारी,* दिल्ली नाग पब्लिशर्स, 2005.

सुषमा शुक्ला. *वैदिक वाङ्मय में नारी*, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, 1996.

पुष्पा गुप्ता. *संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास.* दिल्ली: ईस्टर्न बुक लिंकर्स. 1994.

मंजुला गुप्ता. *ब्राह्मण ग्रन्थों में नारी.* दिल्ली: जे.पी. पब्लिशिंग हाऊस, 2000.

मालती शर्मा. *वैदिक संहिताओं में नारी*, वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

मध्यमकाव्यविमर्शः

-डॉ. अनीता शर्मा

अनुदेशिका, पत्राचार-विभागः,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

[लोकोत्तराह्लादजनकं काव्यम् इति आमनन्ति मनीषिणः। तच्च काव्यम् उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रैविध्यं भजते। अस्मिन् लेखे मध्यमकव्यस्य किं लक्षणं सूरिभिः प्रोक्तम् इति विचारः विस्तरेण निरूपितः।]

व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये उत्तमं काव्यं ध्वनिरिति व्यपदिश्यते। अप्राधान्ये मध्यमं गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति गीयते। गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यम् इति अपरनामकम् मध्यमकाव्यम् अतिरमणीयस्वरूपम् महाकवीनां विषयीभूतम् अस्ति आनन्दवर्धनमतेन मध्यमकाव्यस्य आनन्ददायकत्वम् असन्दिग्धम् –

तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयः अतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः।

–ध्वन्यालोकः, तृतीय उद्योतः पृ. 1156

मध्यमकाव्यस्य श्रेण्यां संस्कृतकाव्यस्य बहु कृतयः आयान्ति। अलंकारसमृद्धाः काव्यग्रन्थाः अपि मध्यमकाव्यस्य ग्रन्थाः। अलङ्कारमण्डितान् ग्रन्थान् मध्यमकाव्यान्तर्गते गणयन् आनन्दवर्धनः कथयति–

"तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयो अलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम्।"

–ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योतः पृष्ठ 13, 1/3

मम्मटेन गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यं मध्यमकाव्यम् उक्तम् –

'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्'

– काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास, पृष्ठ 13, 1/3

व्यङ्ग्ये अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि मध्यमकाव्यं भवति। परन्तु मध्यमकाव्यं मध्यमकविभिः विरचितं काव्यम् इति तात्पर्यं नास्ति अपितु अस्य अयमेव आशयः यत् व्यङ्ग्यतारतम्याधारित काव्यविभागे न प्रथमस्थाने अपितु द्वितीये स्थाने आयाति मध्यमकाव्यम्। परन्तु महाकवीनां कृतौ अपि मध्यमकाव्यस्य व्यापकत्वम् दृश्यते। मध्यमकाव्येऽपि चमत्कारस्य न्यूनता न विद्यते अपितु प्रसङ्गाधारेण अप्रधानता विद्यते।

पण्डितराजजगन्नाथः अलंकारप्रधान समस्तकाव्यानि गुणीभूतव्यङ्ग्ये एव प्रदर्शयति –

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोः
जागरुकाजागरुकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं
निखिलमलंकारप्रधानकाव्यम्॥ – रसगंगाधर, पृष्ठ 94

मध्यमकाव्यस्य विचारावसरे पण्डितराजस्य स्पष्टोक्तिः –

प्रसङ्गाधारेण व्यङ्ग्यस्य अप्राधान्येऽपि
चमत्कारकारि व्यङ्ग्यवस्तु रामणीयकमेव।

एवं मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रम् अतिविस्तृतं भवति। गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यम् अतिमहत्त्वपूर्णम् अस्ति नास्ति किञ्चित् तात्विकभेदः ध्वनिकाव्यगुणीभूत-व्यङ्ग्यकाव्ययोः। ध्वनिकारः आनन्दवर्धनः गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यं न किंचिदपि न्यूनं वदति। एतदेव कारणम् अस्ति यत् सः गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यं मध्यमकाव्यं न कथयति अपितु महाकवीनां विषयीभूतं अतिशयरमणीयस्वरूपं कथयति।

मध्यमकाव्ये व्यङ्ग्यस्य विभिन्नाः स्थितयः भवन्ति। कस्मिंश्चित् काव्ये व्यङ्ग्यार्थः अत्यन्तं स्फुटो भवति अन्यत्र कस्यचित् अन्यस्य पोषकः भवति। कदाचित्तु अत्यन्तास्फुटरूपेण स्थितः भवति। ध्वनिकाव्ये तु व्यङ्ग्यार्थः मरहट्टवधूकुचाभः भवति परन्तु यदा आन्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशः तथा गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः भवति तदा मध्यमकाव्यस्य विषयः भवति। यथोक्तं टीकाकारेण –

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशः
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च
कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।

– उद्धृत, बालबोधिनी पृष्ठ 191

अन्या अपि काश्चन स्थितयः भवन्ति यत्र व्यङ्ग्यः विभिन्नरूपेषु विराजते। यत्र व्यङ्ग्यः प्रधानः भवति तत्र उत्तमकाव्यत्वं संभवति अन्येषु सर्वेषु प्रकारेषु

मध्यमकाव्यत्वम् एव भवति यथाभिहितम् आनन्दवर्धनेन–

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनाम्।
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥

– ध्वन्यालोकः 2/33

इत्थम् मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रं विस्तृतम् विद्यते यतः व्यङ्ग्यस्याङ्गिरूपेण निरूपणं दुर्लभतरम्। महाकवीनां काव्येषु एव तस्य निरूपणं सम्भवम्। महाकवीनां कृतिषु अपि ध्वन्यपेक्षया मध्यमकाव्यस्यैव प्रचुरता प्राप्यते। मध्यमकाव्यस्य बहवः भेदाः निरूपिताः। ध्वनिकारेण आनन्दवर्धनेन प्रकारनिरूपणं न कृतम् परं ध्वन्यालोक-लोचनकारेण अभिनवगुप्तेन कृतम्–

पूर्वं च ये पंचत्रिंशद् भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः॥

– ध्वन्यालोकलोचने पृष्ठ 1238

ध्वनिकारः आनन्दवर्धनः संकरसंसृष्टिचर्चाम्अपि करोति–

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधाः॥ – ध्वन्यालोकः 3/43

काव्यप्रकाशकारः मम्मटः स्वीकरोति यत् मध्यमकाव्यस्य भेदसंख्यातिभूयसी वर्तते –

सालङ्कारैः ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः।
अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी॥

– काव्यप्रकाशः पञ्चम उल्लासः कारिका 47

एवम् स्पष्टम् यत् गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदनिरुपणम् अतिकठिनम्। सर्वे अलङ्काराः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषयाः प्रोक्ताः तथा वाग्विकल्पाः तत्प्रकाराः अनन्ताः अतः अलङ्काराः अनन्ताः उपमादयः अलङ्काराः वस्तुतः काव्यात्मभूतं ध्वनिमेव अलंकुर्वन्ति आनन्दवर्धनमतेन रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः।

– ध्वन्यालोकः पृष्ठ 501

रसादयो अपि यदा अपररसभावादीनाम् अङ्गभूताः भवन्ति तदा ते वाच्योपस्कारत्वात् उपमादिवत् अलङ्कारतां यान्ति अतः ते तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतां भजन्ते। प्रतिपादितं पूर्वमेव यत् सर्वेऽपि अलंकाराः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषयाः। सर्वेषु अपि वस्तुरूपव्यङ्ग्यसंस्पर्शेन अलङ्काररूपव्यङ्ग्यसंस्पर्शेन वा चारुत्वातिशयसृष्टिः भवति। समासोक्त्यादिषु वस्तुरूपव्यङ्ग्यसंस्पर्शेन चारुत्वसृष्टिः भवति।

– ध्वन्यालोक पृष्ठ 1142

व्यङ्ग्यभूता अतिशयोक्तिः अन्यानलङ्कारान् पोषयति अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यतां प्राप्नोति। एतेन मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रं व्यापकं भवति। एवमेव उपमा अपि दीपकापह्नुतिसन्देहभ्रान्तिमानादिषु अलंकारेषु व्यङ्ग्यरूपेण स्थिता तान् पोषयति अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यतां याति। रूपकोपमातुल्ययोगिता निदर्शनादिषु व्यज्यमानसादृश्यं वाच्यचारुत्वोत्कर्षं करोति अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यतां भजति एते सर्वे मध्यमकाव्यस्य व्यापकत्वं प्रमाणीकुर्वन्ति कतिपयालङ्काराः गुणीभूतव्यङ्ग्यविषयभूताः द्रष्टव्याः। प्रथमं रूपकं द्रष्टव्यम्। काव्यप्रकाशकारमम्मटमतेन–

'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' – काव्यप्रकाश, पृष्ठ 593

– अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ 236

निदर्शना अपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषयभूता। उपमायां तु सादृश्यं व्यञ्जितमेव भवति–

'सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालंकृतिः'

– रसगंगाधर द्वितीयआनन पृष्ठ 207

ध्वनिकारमतेन उपमायामपि गम्यमानधर्ममुखेन सादृश्यं शोभाशालि भवति। वस्तुतः ध्वनिकारः आनन्दवर्धनः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रथमः प्रधानश्च विवेचकः आचार्यः। तस्य मतेन वस्तुरूपाः, अलंकाररूपाः तथा रसादिरूपाः– त्रयोऽपि व्यङ्ग्यार्थाः वाच्योपस्कारकत्वात् गुणीभूतव्यङ्ग्यतां यान्ति –

'तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचित् वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता'

– ध्वन्यालोक 3/34

ध्वनिकारः आनन्दवर्धनः गुणीभूतव्यङ्ग्याख्यस्य मध्यमकाव्यस्य महत्त्वं स्वीकरोति अतिरिक्तमान्यतां ददाति– ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथ–विधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः–

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा।। –ध्वन्यालोकः 3/35

ध्वनिकारः आनन्दवर्धनः व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं स्थापयति परंतु वाच्यार्थस्यापि उपेक्षां न करोति। व्यङ्ग्यवाच्ययोः समप्राधान्ये सति तथा च व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य अधिकचमत्कारित्वे सति गुणीभूतकाव्यं मध्यमकाव्यं वा स्वीकरोति। अलङ्काराः अपि मध्यमकाव्यान्तर्गतं परिगणिताः। मध्यमकाव्ये व्यङ्ग्यार्थस्य चारुता

वाच्यार्थस्य अनुगमनं करोति। वाच्यार्थम् उत्कृष्टं तथा चमत्कारपूर्णं करोति। मध्यमकाव्ये क्वचित् वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च तुल्यप्रधानता भवति। आनन्दवर्धनः अलङ्कारान् अपि मध्यमकाव्ये निवेशितवान्। अलङ्काराणाम् विवेचनं कृत्वा सः चतुर्विभाजनं स्वीकृतवान् येषु व्यङ्ग्यांशसत्वेऽपि ध्वनिव्यवहारो न भवति अपितु ते मध्यमकाव्यस्य विषयाः भवन्ति –

1. यत्र व्यङ्ग्यः अप्रधानः भवति वाच्यार्थस्य अनुगमनं करोति। यथा समासोक्तिः अप्रस्तुतप्रशंसादयः।

2. यत्र व्यङ्ग्यस्य आभासमात्रो भवति, स्फुटप्रतीतिः न भवति यथा उपमादयः।

3. वाच्यव्यङ्ग्ययोः आभासमात्रो भवति यथा सन्देहसङ्करः।

4. यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्यं स्फुटरूपेण प्रतीतं न स्यात् एवं सुस्पष्टं भवति यत् गुणीभूतव्यङ्ग्य इति अपरनाम्नः मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रम् अति विस्तृतं वर्तते। मम्मटमतेन मध्यमकाव्यस्य अष्टौ भेदाः कल्पिताः –

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः

– काव्यप्रकाश 5/45-46

मध्यमकाव्यकोट्यां संस्कृतकाव्यसाहित्यस्य विविधाः कृतयः स्थानं प्राप्नुवन्ति इति विवेचितं। ध्वनिवादिनः काव्याचार्याः आनन्द-वर्धनाभिनवगुप्तादयः मध्यम-काव्यविभागे ताः सकलाः सालंकृताः सूक्तीः अन्तर्भावितवन्तः याः प्राचीनैः अलंकारवादिभिः आचार्यैः केनापि अलंकारेण विशिष्टाः सन्ति इति कथिताः परन्तु आनन्दवर्धनः स्पष्टं कथितवान् यत् ताः सर्वाः वाच्यालंकारविभूषिताः कृतयः मध्यमकाव्यश्रेण्याम् अन्तर्भूताः सन्ति। तासु मध्यमकाव्यकृतिषु काव्यरमणीयता विद्यते यत्र वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य च रमणीयता विद्यमाना भवति, यद्यपि वाच्यार्थस्य सौन्दर्यं व्यङ्ग्यसौन्दर्यापेक्षया अधिकं भवति। परन्तु तेषु काव्यात्मक-रमणीयतायाः रहस्यं वाच्यालङ्कारेषु नास्ति अपितु तत् रहस्यं तेषु वाच्यालंकारेषु अन्तर्लीनस्य वस्तुरूपस्य अलंकाररूपस्य वा व्यङ्ग्यार्थस्य अवभासे एव वर्तते।

एवंविधिना एतत्कथनं समीचीनं यत् यदि ध्वनिनामकम् उत्तमकाव्यं ध्वनितत्त्वस्य व्यङ्ग्यार्थस्य वा पूर्णावतारः तर्हि गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकं मध्यमकाव्यं तस्य अंशावतारः अवश्यमेवास्ति। यद्यपि व्यापकत्वदृष्ट्या मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रम् अतिव्यापकं वर्तते यतः ध्वनितत्त्वस्य काव्येषु सुष्ठु निरूपणं दुलर्भतरम् अस्ति। कालिदासादयः

केचित् महाकवयः एव समर्थाः। परं तेषां रचनायाम् अपि न सन्ति सर्वे ग्रन्थाः सम्पूर्णतया उत्तमकाव्यस्य दृष्टान्ताः। तेषु अपि मध्यमकाव्यस्य प्रभूतदृष्टान्ताः विद्यन्ते। यथा उत्तमकाव्यं रमणीयं तथैव मध्यमकाव्यमपि रमणीयम्। उभयमपि रमणीयः काव्यप्रकारः इति अत्र न कोऽपि सन्देहः। कतिपये अलङ्काराः व्यङ्ग्यतत्त्वयुक्ताः अतः तै अलङ्कारैः युक्तं काव्यं मध्यमकाव्यश्रेण्यां समाविष्टम् येन मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रे आयान्ति। तेषाम् रसादीनां स्थितिः भृत्यादीनां विवाहे उपस्थितस्य भृत्यानुगामिनः, वस्तुतः प्रधानभूतस्य इदानीम् अप्रधानीभूतस्य नृपस्य इव भवति।

प्रसादगुणयुक्तत्वात् तथा व्यङ्ग्यर्थयोगत्वात् वाच्यार्थप्राधान्यात् च गम्भीरललित-पदयुक्तकाव्य प्रबन्धेषु ध्वनिकाव्यसम्भावनायाः अवसराभावे गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधस्य मध्यमकाव्यस्थितिः समाविष्टा भवति यासां रमणीयता वाच्यालङ्कारेषु वाच्यार्थसौन्दर्येषु आकर्षणापेक्षया वाच्यसौन्दर्यस्य आकर्षणं समधिकं प्रबलतरं विद्यते। महाकविकालिदास-विरचितस्य कुमारसम्भवस्य तृतीये सर्गे वसन्तवर्णने इदं स्पष्टं दृश्यते यत्र समासोक्ति-सौन्दर्यस्य योजना विद्यते –

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

– कुमारसम्भवम् 3/29

वसन्तागमने द्वितीयाचन्द्रवत् वक्राणि वनभूमौ विकीर्णानि पलाशपुष्पाणि इत्थं प्रतीयन्ते मन्ये वसन्तः वनस्थलीभिः सह विहृत्य तासु स्वनखक्षतानि निर्मितवान्। अत्र वसन्तस्य वनस्थलीनां सम्बन्धः प्रस्तुतः अर्थः येन साम्यवशात् नायकनायिकयोः व्यवहारः इति अप्रस्तुतार्थः व्यज्यते। परन्तु अत्र अप्रस्तुतार्थः प्रस्तुतार्थस्य उत्कर्षाधायकः एव। अतः इदम् मध्यमकाव्यस्य उदाहरणम्।

महाकविकालिदासस्य कृतिषु ध्वनिप्राधान्यं विद्यते इति सर्वेषां विदुषां अभिभतं परन्तु तत्रापि मध्यमकाव्यस्य व्याप्तिः वर्तते एव। अन्यदेकम् उदाहरणं कुमारसम्भवादेव द्रष्टव्यम् –

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

– कुमारसंभव् 8/63

पार्वतीपरमेश्वरवर्णनाकाले अष्टमे सर्गे रात्रिवर्णनं कुर्वन् कविः कथयति– चन्द्रः कुड्मलीकृतसरोजलोचनं रजनीमुखं अङ्गुलीभिः इव मरीचिभिः केशसंचयमिव तिमिरं संनिगृह्य चुम्बति इव। कुड्मलीकृते मीलिते सरोजे एव लोचने यस्य तत्

तथोक्तं रजन्या मुखं वदनम्। चन्द्रः इत्थं प्रतीयते यथा सः स्वस्य किरणैः (अङ्गुलीभिः) रजन्याः मुखे पर्यस्तान् केशसमूहान् हठात् गृहीत्वा तस्याः मुखचुम्बनं करोति तथा रजनी अपि तच्चुम्बनस्य रसम् आस्वादितुम् स्वस्याः कमलनेत्राणि निमीलितानि कृत्वा तिष्ठति। अन्योऽपि कश्चित् चुम्बन् केशसंचयं संनिगृह्णाति। अस्मिन् श्लोके प्रस्तुतयोः चन्द्ररजन्योः साम्यवशात् नायकनायिकयोः व्यवहारस्य व्यंजना भवति परन्तु अयं व्यङ्ग्यार्थः वाच्यार्थस्य सौन्दर्यवर्धनं करोति अतः मध्यमकाव्यश्रेण्यामेव अन्तर्भवति।

दीपकालंकारवर्णने अपि मध्यमकाव्यत्वं विद्यते। महाकवेः कालिदासस्य प्रसिद्धग्रन्थेषु कुमारसम्भवम् अन्यतमम्। तस्मिन् षष्ठे सर्गे हिमवान् सप्तर्षीन् प्रार्थयन् कथयति –

अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः।
मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः॥ –कुमारसम्भवम् 6/57

द्विजोत्तमाः, अहम् आत्मानं द्विधा पवित्रं अवगच्छामि मम मूर्ध्नि मन्दाकिनीपातेन युष्माकं क्षालितयोः पादयोः अम्भसा च। गङ्गाजलवत् पादाम्भसः पावनत्वं इति औपम्यं गम्यते। 'प्रस्तुताप्रस्तुतयोः' इति दीपकालङ्कारः अनेककारकाणाम् एकया क्रियया सह सम्बन्धात् क्रियादीपकः अलङ्कारः। अत्र व्यङ्ग्यार्थस्यापेक्षया वाच्यार्थस्य चारुत्वम् अधिकम् अतः मध्यमकाव्यस्य स्थलम्। अतः इदम् स्पष्टं भवति यत् महाकवीनां कृतिषु अपि मध्यमकाव्यस्य व्यापकत्वं विद्यते एव।

विश्वनाथमतेनापि मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रं व्यापकं विद्यते सः साहित्यदर्पणे कथयति –

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये।

– साहित्यदर्पणे चतुर्थः परिच्छेदः 4/13

तदनुसारेण अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च सम्भवति। तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अष्टौ भेदाः सन्ति। यथा ध्वनिकारेण आनन्दवर्धनेन संकेतितम् तथैव विश्वनाथोऽपि कथयति –

'यो दीपकतुल्यगितादिषूपमाद्यलंकारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव। वाच्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात्..... यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः।'

– साहित्यदर्पणे चतुर्थः परिच्छेदः पृष्ठ 245-246

रसरूपसौन्दर्यस्थितिः यथा उत्तमे ध्वनिकाव्ये भवति तथैव मध्यमकाव्ये अपि भवति। गुणीभूतव्यङ्ग्याख्यस्य मध्यमकाव्यस्य भेदानां गणना न शक्या

सहृदयजनमनोहारिणः काव्यस्य न कोऽपि प्रकारः संभावितः यः मध्यमकाव्योदाहरणं नास्ति। व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति रूपकादयः अलङ्काराः मध्यमकाव्यस्य विषयाः परंतु यत्र वाच्यालङ्कारः न भवति, तत्रापि व्यङ्ग्यस्य अगूढतया अस्फुटतया असुन्दरतया च मध्यमकाव्यस्य स्थितिः भवति। अतः मध्यमकाव्यस्य व्यापकत्वं सुस्पष्टम्। प्रतीयमानार्थस्य प्राधान्यात् उत्तमकाव्यत्वं प्रतीयमानार्थस्य अप्राधान्यात् मध्यमकाव्यत्वं भवति। उभयत्र अपि रससौन्दर्यस्य विद्यमानता अस्ति। किन्तु मध्यमकाव्ये वाच्यार्थः सौन्दर्यबोधार्थं समर्थतरः भवति व्यङ्ग्यार्थस्तु वाच्यार्थस्य उपस्कारकः भवति। यत्र वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य समप्राधन्यं भवति तत्रापि मध्यमकाव्यस्य स्थितिः भवति। काव्ये यदि रसरूपप्रतीयमानार्थः अन्यरसभावादीनां पोषकः भवति तदा अपि मध्यमकाव्यत्वं भवति यतः तत्र रसादयो अपि अलङ्कारत्वम् उपयान्ति। गुणीभूताः भवन्ति च। प्रतीयमानार्थः एव प्रधानीभूतः काव्ये येन काव्यम् उत्तमकाव्यत्वं प्राप्नोति परन्तु कतिपयेषु स्थलेषु अप्राधान्यं याति तदा मध्यमकाव्यत्वं भवति। व्यञ्जनाशक्त्या प्रतीयमानार्थप्रतीतौ तु ध्वनिकाव्यं भवति परंतु यदि अभिधाशक्तिः अपि तदर्थान्तरप्रतीतौ सहायिका भवति तदा व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः अत्यन्तस्फुटा भवति तदा मध्यमकाव्यत्वं भवति। व्यङ्ग्यप्रकर्षन्यूनत्वात् यत्र च शब्दव्यापार-सहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यंजकत्वेन उपादीयते स नास्य ध्वनेः विषयः। उदाहरणार्थम्–

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

– ध्वन्यालोकः द्वितीय उद्योते पृष्ठ 557

अत्र शब्दव्यापारेण आक्षिप्तस्य व्यङ्ग्यार्थस्य पुनरुक्त्या कथनाद् ध्वन्यविषयत्वं तथा मध्यमकाव्यत्वम् भवति। अत्र भीतिनिवारणव्याजेन देवतानां खण्डनं क्रियते। पयोधिः स्वपुत्रीं लक्ष्मी कथयति– वत्से विषादं दैन्यं मा गमः। परन्तु विषमत्तीति विषादः शिवः तम् मागाः शिवं मा वृणु। एवमेव उरुजवं श्वसनं वायुम्, उर्ध्वप्रवृत्तम् अग्निं, कम्पं वरुणं अपि विषादादिशब्दैः अभिव्यक्तं द्वितीयः शिवादिरूपोऽर्थः छद्मशब्देन पुनरुक्तत्वात् ध्वनेः विषयः भवितुम् न अर्हति अतः इदम् मध्यमकाव्यस्य उदाहरणम्।

त्रिषु प्रकारेषु ध्वनितत्त्वावकाशः न भवति – (1) प्रतीयमानस्य अर्थस्य आभासनमात्रे न तु स्फुटत्वेन प्रतीते यथोपमादौ (2) वाच्यार्थानुगमे - वाच्येन अर्थेन समप्राधान्यं तस्मात् वा पक्षान्तरे वाच्यार्थस्य उपस्कास्कत्वं तस्मात् यथा अप्रस्तुतप्रशंसायाम् (3) यत्र यस्मिन् काव्ये व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्यं न स्फुटतया अवभासते। व्यङ्ग्यस्य अवभासनमात्रं यथा उपमादौ वाच्यार्थसमप्राधान्यं यथा अप्रस्तुतप्रशंसादौ स्पष्टतया न प्राधान्यं यथा समासोक्त्यादौ एषु त्रिषु प्रकारेषु

ध्वनितत्त्वावकाशः न भवति अपितु मध्यमकाव्यत्वमेव संभवति। अतः मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रं व्यापकम् वर्तते।

ध्वनिकाव्यमध्यमकाव्ययोः भेदम् अत्यन्तक्लिष्टम् महाकविकृतिषु कतिपयेषु स्थलेषु पदं गुणीभूतव्यङ्ग्यं भवति किन्तु वाक्यं ध्वनेः उदाहरणं भवति। इत्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वन्योः क्षेत्रविभाजनं अतिकठिनम्। आनन्दवर्धनमतेन–

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो
रसभावादितात्पर्यपर्यालोचने पुनः ध्वनिरेव सम्पद्यते।

– ध्वन्यालोक पृष्ठ 629

वाच्यार्थस्य प्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वं भवति तथा व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्ये उत्तमकाव्यत्वं भवति अतः तयोः प्राधान्याप्राधान्यविवेकः महत्त्वपूर्णः। एतत्विषये आनन्दवर्धनः कथयति –

'वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेकपरः प्रयत्नो विधातव्यः। येन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः अलङ्काराणां च असङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति।'

– ध्वन्यालोकः पृष्ठ 634

तस्मात् वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये।

– ध्वन्यालोकः पृष्ठ 648

आनन्दवर्धनमतेन तु काव्यं द्विविधम् एव – व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन ध्वनिकाव्यं (उत्तमकाव्यं) तस्य गुणीभावेन गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यम् (मध्यमकाव्यम्)। व्यङ्ग्यजन्य-चारुत्वहीनं चित्रकाव्यं तु अन्यदेव –

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥

– ध्वन्यालोकः तृतीयउद्योतः 3/41

यथा चित्रं मुखस्य प्रतिकृतिमात्रं भवति तथैव चित्रकाव्यं अपि मुख्ययोः उत्तममध्यमयोः प्रतिकृतिमात्रं भवति। चित्रकाव्ये अपि व्यङ्ग्यस्य सद्भावः संभवति किन्तु तस्य विवक्षा न भवति अतः तस्य निर्व्यङ्ग्यत्वम् उक्तम्।

आनन्दवर्धनः गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यस्य (मध्यमकाव्यस्य) व्यापकसौन्दर्य-रहस्यम् अनुभवति –

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा॥

– ध्वन्यालोकः 3/35

अनया कारिकया आनंदवर्धनः मध्यमकाव्यस्य व्यापकत्वं निरूपयति। पुनश्च सः कथयति –

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानाः तथा विधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेषु अयं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः। –ध्वन्यालोकः पृष्ठ 603

आनन्दवर्धनमतेन तु काव्यस्यात्मा ध्वनिरेवास्ति। सः आनन्दवर्धनः कथयति यत् ये प्रकाशमानाः सुखावहाः काव्यबन्धाः तेषु सर्वेषु गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकम् मध्यमकाव्यम् योजनीयम्। समाधानं तु इदमेव यत् गुणीभूताख्ये मध्यमकाव्येऽपि रसव्यञ्जना वर्तते एव येन ध्वनिरूपतां याति यथा उक्तम् आनन्दवर्धनेन–

प्रकारोऽयम् गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥

अतः व्यङ्ग्यवाच्ययोः प्राधान्यनिर्धारणम् कठिनम्। एतेनापि मध्यमकाव्यस्य व्यापकत्वं स्पष्टं भवति। मध्यमकाव्ये गुणीभूतोऽपि प्रतीयमानार्थः अतिरमणीयः भवति –

अयं ध्वनिनिष्यन्दभूतो द्वितीयोऽपि महाकविविषयः अतिरमणीयः लक्षणीयः सहृदयैः। –ध्वन्यालोकः, तृतीयः उद्योतः पृष्ठ 156

ध्वनेः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च विवेचनेन न केवलं सहृदयमनःप्रीतयः सिध्यन्ति अपितु एतौ कविप्रतिभानिरवधिविस्तारायापि भवन्ति –

ध्वनेः चः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥

– ध्वन्यालोकः चतुर्थउद्योतः 4/1

प्राचीनकविनिबद्धप्रबन्धेषु विद्यमानेषु अपि यदि प्रज्ञारूपगुणः स्यात् तदा कवेः काव्यम् आनन्त्याय कल्पते। अतः सुस्पष्टम् इदम् यत् मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रं अनन्तं व्यापकं च भवति। ध्वन्यालोककारेण आनन्दवर्धनेन यथा ध्वनेः महत्त्वं प्रतिपादितं तथैव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि महत्त्वं प्रतिपादितम्–

ध्वनेः यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥ –ध्वन्यालोकः 3/35

अवरकाव्यं मध्यमकाव्ये समाविष्टं भवति। प्रायः सर्वे अलंकाराः गुणीभूत-व्यङ्ग्यनामके मध्यमकाव्ये समाविष्टाः भवन्ति–अपराङ्गव्यङ्ग्ये, वाच्यसिद्ध्यंगव्यङ्ग्ये, तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्ये असुन्दरव्यङ्ग्ये च। अनेन प्रकारेण मध्यमकाव्यस्य क्षेत्रम्

अत्यन्तव्यापकं जायते। व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शः तु अनिवार्यतः भवति एव अलंकारेषु परंतु चमत्कारस्य उपस्थितिः प्रधानतः वाच्यार्थे भवति न तु व्यङ्ग्यार्थे। अतः सर्वे अलंकाराः मध्यमकाव्ये प्रविष्टाः यतः अलंकारतायाः प्राणभूतम् गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

संस्कृतसाहित्ये प्राचीनकालादारभ्य अद्यावधिपर्यन्तं रचितेषु संस्कृतकाव्यग्रन्थेषु मध्यमकाव्यस्य दर्शनं बाहुल्येन भवति। रससिद्धकवीश्वरे कालिदासे तथा अलंकृतशैलीपण्डितकाव्यकरेषु भारविमाघ श्रीहर्षादिषु कविषु, सर्वत्र एव मध्यमकाव्यमाधुरी विद्यमाना वर्तते। ध्वनिकारः आनन्दवर्धनः अपि मध्यमकाव्यं प्रशंसति –

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा॥ – ध्वन्यालोकः 3/35

मध्यमकाव्यसृजनाय अपि वैदग्ध्यम् अपेक्ष्यते येन कवीनां प्रतिभागुणः आनन्त्यं प्राप्नोति। ध्वन्यालोके स्पष्टरूपेण प्रतिपादितम् –

'गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये प्रकाराः तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवति एव।' – ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत, पृष्ठ 1358

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रवाहः प्रतीयमानार्थरूमहत्जलप्रवाह इव निःसृतः। अयं प्रवाहः मुख्यप्रवाहेण प्रकारदृष्ट्या अभिन्न एव केवलं परिमाणभिन्नता एव संभाविता। महाकविविषयभूता सहृदयैः आस्वाद्या गुणीभूतव्यङ्ग्याख्या मध्यमकाव्यधारा अतिविशिष्टा अतिविस्तृता वर्तते।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

प्राकृत व्याकरण के प्राचीन सन्दर्भ

-डॉ. रजनीश शुक्ल

प्राध्यापक पालि-प्राकृत, मुक्तस्वाध्यायपीठम्,
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नईदिल्ली-110058

[व्याकरणेन हि शब्दापशब्दानां विवेचनं भवति। भाषागतदोषाप-करणाय व्याकरणं प्रवृत्तम्। तत्र प्राकृतभाषायाः अवगमने व्याकरण-शास्त्रस्य कीयद् महत्त्वम् अस्तीति अस्मिन् लेखे निरूपितः।]

भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुग में जो अनेक प्रादेशिक भाषाएँ विकसित हुई उनका सामान्य नाम प्राकृत है और उन भाषाओं में जो ग्रंथ रचे गए उन सबको समुच्चय रूप से प्राकृत साहित्य कहा जाता है। विकास की दृष्टि से भाषावैज्ञानिकों ने भारत में आर्यभाषा के तीन स्तर नियत किए हैं- प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन। प्राचीन स्तर की भाषाएँ वैदिक संस्कृत और संस्कृत हैं। मध्ययुगीन भाषाएँ हैं- मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची भाषा, महाराष्ट्री और अपभ्रंश। आधुनिक नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, आदि हैं।

भाषा-परिज्ञान के लिए व्याकरण ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। जब किसी भी भाषा के वाङ्मय की संरचना संचित हो जाती है, तो उसको लोक में व्यवस्थित रुप से साहित्यिक संचालन के लिए व्याकरण ग्रन्थ लिखे जाते हैं। प्राकृत के जनभाषा होने से आरम्भ में इसका कोई व्याकरण नहीं लिखा गया। वर्तमान में प्राकृत भाषा के अनुशासन सम्बन्धी जो व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं या संस्कृत पर आधारित है। पालि भाषा का व्याकरण पालि में लिखा हुआ उपलब्ध है, प्राकृत भाषा का व्याकरण प्राकृत में लिखा हुआ क्यों नहीं उपलब्ध है? यह विचारणीय प्रश्न है।

दिगम्बर परम्परा के कसायपाहुड ग्रंथ की जयधवला टीका में प्राकृत व्याकरण कुछ नियम सूत्र शैली में प्राप्त होते है श्वेताम्बर प्राकृत आगमों में प्राकृत व्याकरण के नियम विस्तार के साथ प्राप्त होते है। जैनागमों में शब्दानुशासन सम्बन्धी जो सामग्री मिलती है, उससे यह प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा का

व्याकरण प्राकृत में लिखा हुआ था, परन्तु आज प्राप्त नहीं है। वर्तमान में उपलब्ध प्राचीन सामग्री पर विचार करना आवश्यक है। प्राकृत भाषा में प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त आयारंग[1] में तीन वचन-लिंग-काल-पुरुष का विवेचन किया गया है। ठाणांग[1] में आठ कारकों का संक्षेप में निरूपण किया गया है। प्राकृत व्याकरण के कुछ सूत्रों का अनुयोगद्वार सूत्र में विवेचन किया हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र[2] में समस्त शब्दों को पाँच भागों में विभक्त किया है। यथा

1. नामिक- सुबन्तों का ग्रहण नाम में किया है। जितने भी प्रकार के संज्ञा शब्द हैं वे नामिक के द्वारा अभिहित किये गये हैं। यथा अस्सो, अस्से त्र अश्वः आदि।

2. नैपातिक- अव्ययों को निपातन से सिद्ध माना है। अतः अव्यय तथा अव्ययों के समान निपातन से सिद्ध अन्य देशी शब्द नैपातिक कहे गये हैं। यथा- खलु, अक्कतो, जह, जहा आदि।

3. आख्यातिक- धातु से निष्पन्न क्रियारूपों की गणना आख्यातिक में की गयी है। यथा- धावइ, गच्छइ आदि।

4. औपसर्गिक- उपसर्गों के संयोग से निष्पन्नशब्दों को औपसर्गिक कहा गया है। यथा- परि, अणु, अव आदि उपसर्गों के संयोग से निष्पन्न अणुभवइ प्रभृति पद।

5. मिश्र- मिश्र शब्दावली के अन्तर्गत इस प्रकार के शब्दों की गणना की गयी है, जिन्हें हम समास, कृदन्त और तद्धित के पद कह सकते हैं। इस कोटि के शब्दों के उदाहरणों में 'संयत' पद प्रस्तुत किया है। वस्तुतः विशेषण शब्दों को मिश्र कहना अधिक तर्कसंगत है।

आगमों में नाम शब्दों की निष्पत्तियाँ चार प्रकार से वर्णित हैं। आगम, लोप, प्रकृतिभाव और विकार।

1. वर्णागम- वर्णागम कई प्रकार से होता है। वर्णागम भाषाविकास में सहायक होता है। इस वर्णागम का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त का लक्षण बतलाते हुए वणगम, वर्णविपर्यय (Metathesis) वर्ण विकार

---

1. आचारांग अध्ययन 2/4, 1 पृ. 339
1. ठाणांग 3/12
2. अणुओगदार सुत्तं 125 सूत्र। यथा पंचणामे पंचविहे पण्णत्ते, ते जहा- (1) नामिकं, (2) नैपातिकं, (3) आख्यातिकं, (4) औपर्सागर्क, (5) मिश्रम्।
3. अणुओगदार सुत्त, 123।

(Change of Syllable) वर्णनाश (Elision of Syllable) और अर्थ के अनुसार धातु के रूप की कल्पना करना, इन छः सिद्धान्तों को परिगणित किया है। अनुओगदार सुत्त में इसका उदाहरण कुण्डानि आया है।

2. लोप- भाषा के विकास को प्रस्तुत करने वाला दूसरा सिद्धान्त लोप है। प्रयत्न लाघव की दृष्टि से इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्णलोप के भी कई भेद होते हैं- आदि वर्णलोप, मध्यलोप और अन्त्य वर्णलोप। जैसे पटो+ अत्र = पटोऽत्र, घटो + अत्र = घटोत्र उदाहरण उपस्थापित किये जा सकते हैं।

3. प्रकृति भाव- प्रकृति भाव में दोनों पद ज्यों के त्यों रह जाते हैं, उनमें संयोग होने पर भी विकार उत्पन्न नहीं होता। यथा- माले + इमे = माले इमे, पटूइमौ आदि।

4. वर्णविकार- दो पदों के संयोग होने पर उनमें विकृति होना अथवा ध्वनिपरिवर्तन के सिद्धान्तों के अनुसार वर्गों में विकार का उत्पन्न होना वर्णविकार है। यथा वधू झ बहू, गुफा झ गुहा, दधि + इदं = दधीदं, नदी + इह = नदीह।।

नाम-पदों के स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग की अपेक्षा से तीन भेद होते हैं। आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और ओकारान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ओकारान्त शब्द नहीं होते। नपुंसक लिङ्ग शब्दों में अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त शब्द ही परिगणित हैं। यथा-

तं एण णामं तिविहिं इत्थी पुरिसं णपुंसगं चेव।
एएसि तिण्हं पि अंतम्मि अ परूवणं वोच्छ।।1।।

तत्थ पुरिसस्स अंता आ-इ-उओ हवंति चत्तारि।
ते चेव इत्थिआओ हवति ओकार परिहीणा।।2।।

अंतिम-इंतिअ-उंतिअ अंताउ णपुंसगस्स बोद्धव्वा।
एतेस तिण्हं पि अ वोच्छामि निदंसणे एत्तो।।3।।

आगारंतो 'राया' ईगारंतो गिरी अ सिहरी अ।
उमारतो विण्हू दुमो अ अंताउ पुरिसाणं।।4।।

आगारंता माला ईगारंता 'सिरी' अ लच्छी' अ।
अगारंता 'जंचू' 'बहू' अ अंताउ इत्थीणं।।5।।

अंकारंतं 'धनं' इंकारंतं नपुंसगं 'अत्थिः।
उंकारंतं पीलु 'महुं च अंती णपुंसाणं।।६।।[1]

1. अणुओगदार सुत्तं 124 सूत्र। यथा चउणामे चउद्विहे पण्णत्ते। ते जहा-(1) गमेणं (2) लोवेणं (3) पयइए, (4) निगारेणं।

अणुओगदार सुत्र में भाव नाम के चार भेद किये हैं- समास, तद्धित, धातु और निरुक्त। समास के सात भेद बतलाये हैं- द्वन्द्व, बहुब्रीहि, कर्मधारय, द्विगु, तत्पुरुष, अव्ययीभाव और एकशेष। यथा-

दंदे अ बहुव्वीहि, कम्मधारय दिग्गु।
तप्पुरिस अव्वईभावे, एक्कसेसे अ सत्तमे।।[1]

बहुव्रीहि का उदाहरण देते हुए लिखा है- फुल्ला इमंमि गिरिम्मि कुडयकयंबा सो इमो गिरीफुल्लिय कुड्यकयंबो।

कर्मधारय- धवलो वसहो = धवलवसहो, किण्हो मियो = किण्हमियो।

द्विगु- तिण्णि कडुगाणि = तिकडुगं, तिण्णि महुराणि = तिमहुरं, तिण्णि गुणाणि = तिगुणं, सत्त गया = सत्तगयं, नवतुरंगा = नवतुरं।

तत्पुरुष- तित्थे कागो = तित्थकागो, वणे हत्थी = वणहस्थी, वणे मयूरो = बणमयूरो, वणे वराहो = वणवराहो, वणे महिसो = वणमहिसो।

अव्ययीभाव- अमुगाम, अणुणइयं, अणुचरियं।

एकशेष- जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा, जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा जहा एगो साली तहा बहवे साली।

तद्धित[2] का आठ भेद बतलाया हैं। यथा-

1. **कर्म नाम**- तणहारए, कट्टहरिए, पत्तहारए, कोलालिए।
2. **शिल्प नाम**- तंतुवाए, पट्टकारे, मुंजकारे, छत्तकारे, दंतकारे।
3. **सिलोक नाम**- समणे, माहणे, सव्वातिही।।
4. **संयोग. नाम**- रण्णो, ससुरए, रण्णो जामाउए, रण्णो साले।
5. **समीप नाम**- गिरिसमीवे णयरं गिरिणयर, वेन्नायउँ।
6. **समूह नाम**- तरंगवइक्कारे, मलयवइकारे।
7. **ईश्वरीय नाम**- स्वाम्यर्थक-राईसरे, तलवरे, इब्भे, सेट्ठी।
8. **अपत्य नाम**- अरिहंतमाया, चक्कवद्दिमाया, रायमाया।

कम्मे सिप्पसिलोए संजोग समीक्षवो अ संजूहो।
इस्सरिम अवच्चेण य तद्धितणामं तु अट्ठविहं।

---

1. अणुओगदारसुतं-सूत्र 130
2. वही सूत्र 130

इन्हें कमर्थिक, शिल्पार्थक, संयोगार्थक, समूहाईक, अपत्यार्थक आदि रूप में ग्रहण करना चाहिए।

अनुओगदार सुत्त में आठों विभक्तियों[1] का भी उल्लेख है तथा ये विभक्तियाँ किस-किस अर्थ में होती हैं, इसका भी निर्देश किया है। यथा-

निद्देसे पढमा होइ, बित्तिया उवएसणे।
तइया करणम्मि कया, चउत्थी संपयावणे।।
पंचमी अ अवायाणे, छट्ठी सस्सामिवायणे।
सत्तमी सण्णिहाणत्थे, अदुमाऽऽमंतणी भवे।।

अर्थात् निर्देश प्रक्रिया का फल कक्ष में रहने पर प्रथमा विभक्ति होती है। य:- स, मो, अहं आदि प्रथमान्त रूप हैं। उपदेश में-क्रिया के द्वारा कत्त जिसको सिद्ध करना चाहता है, द्वितीया विभक्ति होती है। यथा- भण कुणसु इमं व तं व दि। करण अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। यथा तेण कर्य, मए वा कथं आदि। सम्प्रदान में चतुर्थी और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। स्वामिस्वामित्व भाव में षष्टी, सन्निधानार्थ-अधिकरणार्थ में सप्तमी और आमन्त्रण-सम्बोधन में अष्ट विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्राकृत भाषा में लिखित शब्दानुशासन सम्बन्धी सिद्धान्त जिसका प्राचीन विवरण उपलब्ध है उन्हीं का परिचय यहां अभीष्ट है। संस्कृत भाषा में लिखित या उस पर आधाारित प्राकृत व्याकरण के अनेक शब्दानुशासन वर्तमान में उपलब्ध हैं। जिनमें चण्ड कृत प्राकृतलक्षण, वररुचि कृत प्राकृत प्रकाश, हेमचन्द्राचार्य कृत सिद्धहेमशब्दानुशासन, त्रिविक्रमदेव कृत प्राकृतशब्दानुशासन, लक्ष्मीधर कृत षड्भाषाचन्द्रिका, सिंहराज कृत प्राकृतरूपावतार, मार्कण्डेय कृत प्राकृतसर्वस्व रामतर्कवागीश कृत 'प्राकृतकल्पतरु' शुभचन्द कृत शब्दचिन्तामणि, शेषकृष्ण कृत प्राकृत चन्द्रिका और अप्पय दीक्षित कृत 'प्राकृतमणिदीप' प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

प्राकृत भाषाओं के जो भेद प्रभेद हुए उनका विशद वर्णन भरत नाट्यशास्त्र[2] में प्राप्त होता है। उन्होंने वाणी का पाठ दो प्रकार माना है- संस्कृत और प्राकृत; तथा कहा है कि प्राकृत में तीन प्रकार के शब्द प्रचलित हैं- समान (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी। नाट्यशास्त्र के 17 वें अध्याय में विभिन्न भाषाओं का निरूपण, करते हुए 6-23 वें पद्य तक प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त बतलाये

---

1. अणुओगदार सुत्त: सू० 128
2. आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र अध्याय 6 और 32।

हैं और 32वें अध्याय में उसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन प्राकृतों की मुख्यतः निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं। यथा-

(1) संस्कृत के स्वरों में ऋ, ऌ, एवं ऐ और औ का प्राकृत में अभाव है। ए और ओ की ह्रस्व मात्राओं का प्रयोग इन भाषाओं की अपनी विशेषता है।

(2) प्राकृतों में विसर्ग के स्थान पर ओ या ए आदेश होता है।

(3) क से लेकर म् तक के स्पर्श वर्ण पाए जाते हैं। अनुनासिकों का व्यत्यय होता है।

(4) तीनों ऊष्मा वर्णो यथा श, ष और स के स्थान पर केवल एक 'स' ही होता है।

(5) संयुक्त व्यंजनों का अभाव है। दोनों संयोगी व्यंजनों का या तो समीकरण कर लिया जाता है अथवा स्वरागम द्वारा दोनों को विभक्त कर दिया जाता है, या उनमें से एक का लोप कर दिया जाता है।

(6) द्वित्व व्यंजन से पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व कर दिया जाता है एवं संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप कर उससे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ कर दिया जाता है।

(7) व्याकरण की दृष्टि से संज्ञाओं तथा क्रियाओं के रूपों में द्विवचन नहीं पाया जाता।

(8) हलंत संज्ञाओं और धातुओं को स्वरांत बनाकर चलाया जाता है।

(9) क्रियाओं में गणभेद एवं परस्मैपद आत्मनेपद का भेद नहीं किया जाता।

(10) सभी प्रकार के रूप विकल्प से चलते हैं।

(11) क्रियारूपों में कालादि भेदों का सुक्ष्मीकरण किया गया है हुआ है। बहुधा कृदंतों का प्रयोग किया जाता है।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

कालिदासविरचित अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में निरूपित रक्षा-व्यवस्था

-डॉ० कमलेश

सहायकाचार्या, संस्कृत

जीवन चानन महिला महाविद्यालय, असन्ध (करनाल)

[कविरत्नकालिदासस्य मेरुकृतिषु अभिज्ञानशाकुन्तलं नाटकम् अद्वितीयस्थानं बिभर्ति। नाटके अभिवर्णितो विषयः समाजस्य दर्पणः विद्यते। अस्मिन् लेखे तत्रोपवर्णितायाः रक्षाव्यवस्थायाः निरूपणमकारि। तदा कीदृशी रक्षाव्यवस्था आसीत् इति विज्ञातुं शक्नुमः]

कालिदास की सर्वातिशायी महिमा का प्रधान स्तम्भ अभिज्ञानशाकुन्तलम् है। केवल भारत में ही नहीं, अपितु अखिल विश्व में मुक्तकंठ से उसकी रमणीयता प्रगुणित की है। इसमें प्रधान रूप से शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रणय गाथा है। राजा दुष्यन्त शिकार खेलते समय एक मृग का पीछा करते हुए कण्व ऋषि के आश्रम के समीप पहुँचे। वहाँ दो तपस्वियों ने राजा से कहा- यह आश्रम का मृग है। इसे मत मारिये। तपस्वियों के कहने पर राजा कण्व के आश्रम में गया, जहाँ तीन तपस्वी कन्याएँ परस्पर आमोद-प्रमोद करती हुई, पौधों को सींच रही थीं। ऋषि कण्व की पोष्यपुत्री शकुन्तला के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर राजा उस पर मोहित हो जाता है। दुष्यंत और शकुन्तला ने गांधर्व विवाह कर लिया। दुष्यंत अपनी राजधानी लौट आये। लौटते समय उन्होंने शकुन्तला को आश्वासन दिया कि कुछ दिनों में शकुन्तला को अपने यहाँ बुला लेगें। राजा ने स्मृतिस्वरूप अपनी अंगूठी शकुन्तला को दे दी। राजा के लौट जाने पर शकुन्तला उसके ध्यान में मग्न रहने लगी। चिंता में डूबी हुई शकुन्तला में एक दिन आश्रम में आये हुए दुर्वासा ऋषि का स्वागत नहीं किया। ऋषि दुर्वासा ने क्रुद्ध होकर श्राप दिया कि उसका प्रेमी उन्हें भूल जाएगा। इस घटना से शकुन्तला ने अनभिज्ञ होने पर उसकी सखी, अनसूया ने दुर्वासा को मनाया। तब ऋषि ने कहा कि कोई अभिज्ञान का चिह्न दिखाने पर उसके प्रेमी को स्मरण हो जाएगा। यात्रा से लौटने

पर कण्वऋषि को दिव्यवाणी द्वारा शकुन्तला और दुष्यंत के विवाह का पता चला। उन्होंने गर्भवती शकुन्तला को गौतमी, शार्ङ्व और शारद्वत के साथ दुष्यंत के पास भेज दिया। राजा श्राप के कारण शकुन्तला को पहचान न सका। उसने शकुन्तला को पत्नी के रूप में स्वीकार करने से मना कर दिया। मार्ग में जाते समय शकुन्तला की अंगुली से अंगूठी पानी में गिर गई। अतः राजा के समक्ष कोई प्रमाण भी प्रस्तुत न कर सकी। राजा के पुरोहित ने प्रसव पर्यन्त अपने घर पर रखने का प्रस्ताव किया। वह उसे लेकर चलने लगा तभी शकुन्तला की माता मेनका आकर उसे आकाश में उड़ा ले गई। समय बीतता गया। शकुन्तला के हाथ से जो अंगूठी जल में गिर गई थी उसे एक मछली निगल गई। एक दिन मछली मछुआरे के जाल में फंस गई। मछुआरे को मछली के पेट से अंगूठी मिली तो वह उस अंगूठी को बेचने के लिए बाजार ले गया। सिपाहियों ने उसे पकड़ कर राजा के सामने उपस्थित किया। सिपाही नगर रक्षक के अधीन काम करते थे। नगर की रक्षा का प्रबंध इसी नागरिक के हाथ में था। इस सम्बन्ध में कथन है कि ऐसा प्रतीत होता है कि रक्षा-विभाग का प्रधान नागरिक था जो राजधानी के रक्षा विभाग से सम्बद्ध था। नागरिक, अर्थशास्त्र का नागरिक, शायद उत्तरकालीन कोष्ठपाल के सदृश नगर की रक्षण व्यवस्था का प्रधान था। शाकुन्तल में इस अधिकारी को अपने रक्षको के साथ अपराधी को न्यायालय में लिये जाते देखते हैं।[1]

हिन्दू राजनीति राज्य को सात भागों में विभक्त करती है-

स्वाप्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।[2] -मनुस्मृति

इन सात अंगों में राजा का स्थान प्रथम है। राजा का प्रधान धर्म प्रजा की रक्षा करना है। कालिदास ने राजा की परिभाषा की -**'प्रकृतिरंजनात्'**[3] क्योंकि वह राज्य की रक्षा करता है इसलिए राजा है। राजा प्रतिदिन धर्मासन पर बैठ कर प्रजा के कष्टों का निवारण करता है। तपोवन और आश्रमों की सुरक्षा का दायित्व भी राजा का ही है। पुरोहित के द्वारा उसे **वर्णाश्रमाणां रक्षिता**[4] कहा गया है। भ्रमर के द्वारा शकुन्तला को पीड़ित किये जाने के प्रसंग में अनसूया और

---

1. भगवतशरण उपाध्याय, कालिदास का भारत, पृ० 238
2. मनुस्मृति, अ० 9, श्लोक 294
3. रघुवंश, अ० 4, श्लोक 12
4. अभिज्ञान०, अंक 1, पंक्ति 355

प्रियवंदा कहती है- **"राजरक्षितानि तपोवनानि"**[1] तपोवन तो राजा द्वारा रक्षित होते हैं। राजा को **'षष्ठांशवृत्ति'**[2] कहा गया है। षष्ठांश के बदले राजा, प्रजा रक्षा के दायित्व का निर्वाह करता है। राजपद स्वीकार करने वाले के लिए अपने सुख के लिए कोई अवसर नहीं है। राजा प्रजा की भलाई के लिए ही श्रमशील रहता है। रक्षा कार्य के सफल होने पर ही अपने राजा होने को सार्थक मानता है।

सर्वथा अर्थवान् खलु मे राजशब्दः।[3]

सुचारू शासन व्यवस्था प्रजा रक्षण मूलभूत आवश्यकता है। व्यवस्था को बनाये रखने के लिए दंड का विधान किया जाता है। मनु ने कहा है कि दण्ड सब प्रजाओं का शासक और रक्षक है। सबके सो जाने पर वहीं जागता है, इसलिए विद्वज्जन दंड को ही धर्म कहते हैं-

दण्डः शास्ति प्रजाःसर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डः धर्म विदुर्बुधाः।।[4]

राजा प्रजा को नियंत्रण में रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। शकुन्तला के छठे अंक में दुष्यंत ने स्वीकार किया है- प्रतिदिन अपनी ही प्रमादजन्य त्रुटियों को जानना संभव नहीं है। फिर प्रजा में कौन-कौन किस रास्ते पर चलता है- पूर्णतया जानने की भला किसमें सामर्थ्य है।[5] राजकार्य अनेक प्रकार के विघ्नों से परिपूर्ण होता है। राज्य सुशासन के लिए समुचित प्रबन्ध करता है। रक्षाकार्य के निर्वाह के लिए विशेष रूप से व्यवस्था की जाती है। राजा का मंत्रिमंडल उसकी सहायता करता है, जिसको अमात्यपरिषद् या मंत्रिपरिषद् कहते है। राजा मंत्रियों के परामर्श से कार्य करता था। शाकुन्तल में कालिदास ने मंत्रियों के महत्त्व को दर्शाया है। शासन व्यवस्था इन्हीं के द्वारा संचालित थी। राजा की अनुपस्थिति में राज्य का कार्य मंत्री ही संभालते थे। शाकुन्तल में राजा अपने मंत्री को इस प्रकार सूचित करता है- तुम केवल अपनी बुद्धि की रक्षा का कार्य कुछ समय तक करने दो-

त्वन्मतिः केवला तावत् प्रतिपालयतु प्रजाः।[6]

---

1. अभिज्ञान०, अंक 1, पंक्ति 104
2. वही, अंक 1, पंक्ति
3. वही, अंक 1, पंक्ति 361
4. मनुस्मृति, श्लोक सं० 7-18
5. अभिज्ञान०, अंक 6, श्लोक 32
6. अभिज्ञान०, अंक 6, श्लोक 6-38

कालिदास के वर्णनों से तीन प्रकार के मंत्रियों- प्रधान अमात्य, वैदेशिक मंत्री तथा अर्थनियम न्यायमंत्री के संकेत मिलते हैं। शाकुन्तल के छठें अंक में मंत्री एक नागरिक कार्य को पत्र में लिखकर राजा के पास निर्णय के लिए भेजता है-

महाराज के श्रीचरणों में विदित हो कि जलमार्ग से जीविकोपार्जन करने वाला धनवृद्धि नामक बनिया नौका टूट जाने से मर गया है। वह संतान रहित है उसके पास कई करोड़ का धन है। वह अब राजसम्पत्ति बन गया है। यह सुनकर महाराज निर्णय करें।[1] ऐसा लगता है कि उक्त मंत्री का कार्य राजस्व से सम्बन्धित था। कालिदास के यहाँ ऐसे भी संकेत मिलते है कि राजकीय निर्णयों में पुरोहित से भी परामर्श किया जाता था। राजा पुरोहित के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव रखता था। शकुन्तला को पत्नी के रूप में स्वीकार अथवा अस्वीकार के प्रश्न पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए राजा पुरोहित सोमपाल से उचित-अनुचित के विषय में पूछते हैं- **'भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि'**[2]। पुरोहित द्वारा दिये गए निर्णय को राजा सहज स्वीकार कर लेते हैं-**'यथा गुरूभ्यो रोचते'**।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रजा-रक्षा के संदर्भ दो रूपों में सामने आते है। एक राजा और राजव्यवस्था द्वारा अपना कर्त्तव्य मानकर किये गए सीधे प्रयत्न। दूसरे कथा के विकास के राज्य पात्रों के कथनों और घटनाओं के माध्यम से सामने आने वाले साक्ष्य। प्रथम अंक में राजा एक कृष्णसार मृग का पीछा करते दिखाई देते है। राजा ज्यों ही मृग पर बाण चलाना चाहते हैं त्यों ही अचानक तपस्वी बीच में आ जाते हैं। तपस्वी निवेदन करते हैं कि राजन यह आश्रम का मृग है। इसे नहीं मारना चाहिए।-**राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।**[4] तपस्वी राजा को स्मरण कराते हैं कि आपका रास्ता पीड़ितों की रक्षा के लिए है। निरपराधों पर प्रहार करने के लिए नहीं- **'आर्तत्राणाय वः शास्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।'**[5] तपस्वियों की बात सुनकर मृग आश्रम का है जो प्रजा की भांति ही रक्षणीय है, राजा तुरन्त ही मृगवध से विरत् हो जाते हैं।

तपस्वी राजा को आशीर्वाद देते हैं और समीप में स्थित कुलपति कण्व के आश्रम में आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना करते हैं। तपस्वी राजा से प्रार्थना करते

---

1. वही, अंक 6, पृ० 469
2. वही, पृ० 389
3. वही, पृ० 391
4. अभिज्ञान०, अंक 1, पंक्ति 67
5. वही, अंक 1, श्लोक 11

हुए कहते हैं कि- राजन! आश्रमवासियों की निर्विघ्न धार्मिक क्रियाओं को देखकर आप जान लेंगे कि धनुष की डोरी की रगड़ से बने निशानवाली आपकी भुजा प्रजा की कितनी रक्षा कर रही है-

धर्म्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।[1]

आश्रम के निकट ही अपने शिविर में ठहरे हुए राजा दुष्यंत से मिलने दो ऋषिकुमार आते है। ऋषि बालक राजा से निवेदन करते हैं- पूजनीय कुलपति कण्व के न होने से राक्षस हमारे यज्ञों में विघ्न डालते हैं। इसलिए कुछ आप सारथि के साथ इस आश्रम को सनाथ करें।[2] तपस्वियों की धार्मिक क्रियाओं की रक्षा के लिए राजा आश्रम में रूक जाते हैं। पंचम अंक में कंचुकी की उक्तियों से राजा दुष्यंत की प्रजापालन के प्रति अभिरूचि और प्रतिबद्धता सामने आती है। कंचुकी राजा से मिलने आये कण्व के शिष्यों की सूचना देना चाहता है, पर वह कुछ ठिठक सा रहा है, क्योंकि महाराज अभी-अभी धर्मासन से उठकर आये है। पर वह इस बात को भी जानता है कि प्रजा रक्षा कर्म को स्वीकार करने वाले राजा के लिए विश्राम कहाँ?

'कुतो विश्रामो लोकपालानाम्'[3]

दुष्यंत स्वयं अधिकार खेद का अनुभव करते हुए कहते हैं कि सभी लोग अभीष्ट वस्तु को पाकर प्रसन्न होते हैं किन्तु राजाओं की अभीष्ट सिद्धि परिणाम में दु:खदायी ही होती है।[4] वैज्ञानिकों के प्रशंसापरक कथनों से राजा के अधिकार निरूपण सम्बन्धी कुछ संदर्भ सामने आते हैं। राजा अपने सुख से निस्पृह होकर प्रजा के निमित्त कष्ट उठाते हैं- **'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोक हेतोः।**[5] आज राजदंड धारण करके कुपथगामी जनों को नियंत्रित करते हैं। प्रजा के विवादों को शांत करते हैं और रक्षा के लिए तैयार रहते हैं। प्रचूर सम्पत्ति होने पर भाई बंधुओं में अच्छी तरह बंटवा देते हैं। इस प्रकार लोगों का बंधुकार्य आप में समाप्त होता है।[6]

---

1. वही, श्लोक 1-13
2. वही, अंक 2, पृ० 178
3. अभिज्ञान०, अंक 2, पृ० 336
4. वही, अंक 5, पृ० 378
5. वही, श्लोक 5-6
6. वही, अंक 6, श्लोक 7

राजा नित्य राजसभा में बैठकर प्रजा की समस्याएँ सुनता है और उनके कष्टों का निवारण करता है। इसी क्रम में धनवृद्धि नामक वणिक का प्रकरण सामने आता है। समुद्र व्यापारी की नौका, दुर्घटना में मृत्यु हो गई थी। मंत्री राजा से लिखित निवेदन करता है कि संतान हीन वणिक की सम्पत्ति राजगामी हो जाएगा। राजा द्वारा खोज करने पर पता चलता है कि उस वणिक की पत्नी गर्भवती है। प्रजापालक राजा निर्णय देता है कि गर्भस्थ शिशु ही पिता के धन का अधिकारी है। राजा दुष्यंत वर्णाश्रम धर्म के रक्षक है। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा उनके रोम-रोम में व्याप्त है। तभी तो शार्ङ्ख जैसा विशुद्ध पंडित भी स्वीकार करता है- मर्यादा का त्याग न करने वाले ये राजा भाग्यवान है। इनके राज्य में वर्णों में हीन की कोई व्यक्ति कुमार्ग पर नहीं चलता।

'महाभागः कामं, नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णनामपथमपकृष्टोऽपि भजते।[1]

भगवतशरण उपाध्याय का कथन है- राजपद जो वैदिक युग में निर्वाचनजन्य था और उसमें प्रजातंत्र के इतने तत्त्व काम कर रहे थे, कालिदास के काल में वंश परम्परागत ही नहीं था। प्रत्युत ईश्वरीय समझा जाने लगा था। राजा और राजपद के विषय में कालिदास के विचार मनु के विचारों से सामंजस्य रखते हैं।[2] पर कवि की दृष्टि में तो लोक कल्याण बसा है। लोक कल्याण के प्रति असम्मान की भावना कवि हृदय को विचलित करती है। कालिदास की इसी चिंता की सृष्टि है साधारण-सा बेखौफ ब्रह्मचारी शार्ङ्रव और मत्स्योपजीवी धीवर। शाकुन्तल में नैतिक बलविहीन व्यवस्था के शिकार भी तो दो ही सामने आते हैं। एक आश्रम कन्या शकुन्तला और दूसरा श्रमोपजीवी धीवर। हस्तिनापुर की राजव्यवस्था का विरोध भी यहीं से उठता दिखाई देता है। कालिदास की ये विशेषता है कि जब वो अपनी बात कहना चाहते हैं तब वो साधारण आदमी के करीब होते हैं। फलस्वरूप शाकुन्तल में सामान्य जन की शक्ति और भी बलवती होकर उभरी है। व्यवस्था के विरोध की शक्ति व्यवस्था से जुड़े कृपोपजीवी पुरोहित सोमदत्त में नहीं दिखाई देती पर व्यवस्था से दूर रहने वाले ऋषियों में भरपूर देखी जा सकती है। राजा दुष्यंत स्वयं स्वीकार करते है कि शक्ति प्रधान तपोवनों में गुप्त तेज रहता है-

'शम प्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।[3]

---

1. अभिज्ञान०, श्लोक 5-11
2. कालिदास का भारत, पृ० 130
3. अभिज्ञान०, अंक 2, श्लोक 7

इसी प्रकार विद्वानों के लिए कोई वस्तु अगम्य नहीं है- **'न खलु कश्चिद्विषयो नाम धीमताय'**- जैसे कथनों से ऋषिशक्ति का पता चलता है। आश्रमजन अपनी सुरक्षा के विषय में आत्मनिर्भर दिखाई देते हैं। राजा के कुशल पूछने पर शार्ङ्रव कहते हैं- **'स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः।**[1] राजा और ऋषियों के वार्तालाप से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि सच कहने की शक्ति और साहस वहीं देखा जाता है। जहाँ व्यवस्था से होने वाले लाभों के अवसर नहीं होते। शार्ङ्रव राजा के हरेक तर्क को काटकर अपनी बहन की जोरदार वकालत करता है। राजा के दरबार की आग की लपटों से घिरा हुआ मानता है। राजा के शिष्टाचार, सरकार से प्रभावित न होकर उसकी तारीफ के विषय में उदासीन ही रहता है। शार्ङ्रव करणीय-अकरणीय को समझता है तथा असत्य व छल का विरोध निर्भीक होकर करता है।

शाकुन्तल के छठे अंक में धीवर का प्रसंग व्यवस्था के नैतिक पतन की एक झलक प्रस्तुत करता है। नगर-रक्षक नागरिक अपने दो प्रहरियों के साथ राजा की अंगूठी चुराने के आरोप में धीवर को पकड़ लेते हैं। धीवर बताता है कि मैं चोर नहीं हूँ मछली पकड़कर अपने परिवार का पेट भरता हूँ। ये अंगूठी मछली के पेट से निकली है। नागरिक धीवर के पेशे का अशिष्टता के साथ उपहास करता है-

विशुद्ध इदानीमस्य आजीवः।[2] इसकी आजीविका तो पवित्र है। धीवर अपने पेशे के औचित्य को निर्भयता से सिद्ध करता हुआ नागरिक के उपहास का प्रतिवाद करता है। धीवर अपने पक्ष में हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त की व्याख्या करता हुआ करता है कि जिस वर्ग का जो सहज कर्म हो उसे छोड़ना नहीं चाहिए। धीवर एक उदाहरण से बात को स्पष्ट करता है कि वैदिक ब्राह्मण हृदयहीन नहीं हो सकता तथापि यज्ञों में पशुओं के वध के लिए उसे क्रूर होना पड़ता है, क्योंकि वह उसके सहज कर्म का अंग है। ऐसे ही मत्स्यबंधन करने वाला मैं क्रूर नहीं हो जाता अपितु अपने सहज कर्म का निर्वाह करता हूँ। नागरिक अभियुक्त को राजा के सामने पेश करता है। जहाँ से उसे पुरस्कार के साथ मुक्त कर दिया जाता है। रक्षक पुरस्कार की राशि को ईर्ष्या से देखता है और अर्थपूर्ण भाषा में धूर्तता से कहता है कि धीवर का तो खूब उपकार हुआ। धीवर द्वारा पुरस्कार को आधा बांटने के निर्णय को प्रहरी न्याय सम्मत ठहराते हैं। नागरिक भी उसे मित्र मानते हैं तथा मित्रता को मदिरा की उपस्थिति के साथ दृढ़ करने

---

1. अभिज्ञान०, अंक 3, पृ० 321
2. वही, अंक 5, पृ० 361

की बात करते हैं। ये प्रसंग बताता है कि रक्षा विभाग का नैतिक बल कोई उच्च नहीं था तथा रक्षकों की कार्य प्रणाली बहुत कुछ आज के पुलिस वालों से मेल खाती है। चन्द्रबली पांडे भी अपने कथन से इसकी पुष्टि करते हैं- रक्षी उस समय भी भक्षी का काम कर जाते थे और पान-पत्ते के लिए कुछ लेना पाप नहीं समझते थे और उनका सरदार राजश्याल भी कुछ कम नहीं था। उसने देखा कि धीवर को पैसा हाथ लगा और राजाका अनुग्रह भी उस पर हो गया है तो उसने दोस्ती गांठ ली।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की रचनादृष्टि तत्कालीन सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पहलुओं पर निरन्तर अपनी पकड़ बनाए ही नहीं रखती बल्कि उनके बीच से वर्गीय व्यवहारों उनके आर्थिक अंतर्विरोधों को भी उनकी जड़ों में प्रत्यक्ष करती चलती है। तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था में सम्पत्तिशाली अधिकारी वर्गो और उनके तथा संघर्षशील श्रमजीवी वर्गो के बीच के शोषण मूलक सम्बन्धों को बड़ी बारीकी से उजागर करती है।[2] दुष्यंत और शकुन्तला के बीच निजी प्रेमकथा को भी कवि बड़ी निष्पक्षता से बृहत्तर सामाजिक यथार्थ के महत्वपूर्ण राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भो से जोड़कर इस महत्वपूर्ण नाटक को तत्कालीन समाज का दर्पण बना देता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. झा, तारिणीश, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, एकेडमी प्रेस दारागंज, प्रयाग, सं० 1960।
2. उपाध्याय, भगवतशरण, कालिदास का भारत, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1959।
3. पांडे, चन्द्रबलि, कालिदास ग्रंथावली, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, प्रथम संस्करण, संवत् 2012।
4. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, सं० प्रथम, 1966।
5. श्रीवैशानख श्री निवासाचार्य तथा राघव भट्ट, अभिज्ञानशाकुन्तल (टीका) वाकिल रामस्वामि शास्त्रुलु एंड संस, मद्रास।

---

1. अभिज्ञान०, अंक 6, पृ० 400
2. कालिदास ग्रंथावली, पृ० 104

6. शास्त्री, शिवराज, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, हिन्दी व्याख्याकार, लीलाकमल प्रकाशन, मेरठ, साकेत, तृतीय संस्करण, 1977।
7. मिश्र, श्रीगोविन्द, रघुवंशमहाकाव्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, तृतीय सं० 2018।
8. शास्त्री, आचार्य जगदीश लाल, मनुस्मृति, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, सं० 1983।
9. त्रिपाठी, ब्रह्मानंद, कालिदास ग्रंथावली, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1976।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

संस्कृत-अंग्रेजी में शब्दसाम्य विमर्श

-डॉ. गजानन धरेन्द्र

संस्कृत-शिक्षक, राजकीय सर्वोदय बाल विद्यालय नं. 2
सी-ब्लॉक, जनकपुरी, नई दिल्ली-58

[देवभाषा संस्कृतं सर्वभाषाजननीति प्रसिध्यति। इयं वैज्ञानिकी क्रमबद्धा च इति भाषातत्त्वविदः अभिप्रयन्ति। अस्मिन् लेखे संस्कृतस्य आङ्ग्लभाषया सह शब्दसाम्यं कीदृशम् इति विवेचनं विहितमस्ति।]

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या, यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥[1]

विश्व वाङ्मय में संस्कृत प्राचीनतम भाषा है। जिसमें विश्वसाहित्य का प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद लिखा गया है। वैदिक वाङ्मय से आरम्भ मानवजीवन की संस्कृति की यात्रा संस्कृत माध्यम से चली आ रही है जो अत्यन्त उपादेय है। विश्व साहित्य जगत् में यदि कालक्रमानुसार भाषाविज्ञान के आधार पर विभाजन किया जाए तो वैदिक संस्कृत-लौकिक संस्कृत-पालि-प्राकृत की शब्द धारा में बहते हुए अन्य भारतीय भाषा-उपभाषा-बोलियों में निसृत अन्य विदेशी भाषाओं को भी प्रभावित किया है।

भारतीय मान्यता में भाषा पहले है और व्याकरण बाद में।[2] संस्कृत भाषा के सिद्धान्त भारतीय भाषाओं के ही नहीं अपितु विश्व की भाषाओं के विश्लेषण में सहायक है। संस्कृत भाषा की विशेषता में अधिक ना कहते हुए भारोपीय भाषापरिवार की और सभी भारतीय भाषाओं की जननी है। इसकी प्राचीनता वेद, पुराण, रामायण आदि ग्रन्थ स्वयं प्रमाणित करते हैं। वेदों में भी भाषा सम्बन्धी चिन्तन संस्कृत भाषा की प्राचीनता को ही प्रमाणित करते है। वैज्ञानिक व प्राचीनतम, देववाणी यह वाणी ऋग्वेद में एक पृथक् वाक् सूक्त द्वारा बताया गया

---

1. महाभारत शान्तिपर्व, 231/65
2. ऋग्वेद - 8-100-10/11

है जहां मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों की वाणी का स्रोत शब्द विस्तार अ + क्षर नाश न होने की बात कही गई है। मनुष्य की वाणी के चार चरण बताए गए -

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति॥[1]

इनमें तीन गुहा में निहित है, मात्र चतुर्थ चरण को जीवजन्तु बोलते हैं।

भाषारूपान्तर -

जैसा कि भारतीय मान्यतानुसार भाषा ज्ञान पर शोध कर व्याकरणाधार पाया कि यह वैज्ञानिक और नियमों से बन्धी है परन्तु कालक्रमानुसार मूल ज्ञान के संज्ञा शब्दों के आधार पर वस्तुनिर्माण और वस्तु प्रथम अनन्तर पद निर्माण से योगरूढि और रूढ़ि शब्द बनते गये। स्थान और जलवायु परिवर्तन से ही भाषा परिवर्तित होती गई। वेद की भाषा संस्कृत कहलाई। भारत वर्ष के संविधान भी जिन भाषाओं को मान्यता देता है उनकी तथा विश्व की अनेक भाषाओं की जननी वैदिक भाषा ही है। इन भारतीय भाषाओं के साथ-साथ विदेशी भाषाओं की शब्दावली का संस्कृत शब्दावली से जो साम्य दिखाई देता है वह वास्तव में विस्मयकारी है। विश्व के प्रमुख भाषाशास्त्रियों ने जो इस विषय में मत प्रस्तुत किये वे भी संस्कृत की प्राचीनता को पुष्ट करते हैं। विभिन्न भाषाओं की शब्दावलियों की एकरूपता ने उन्हें ऐसा ही निष्कर्ष निकालने पर बाध्य किया है।[2]

संस्कृत भाषा ने न केवल यूरोप की सभी भाषाओं के शब्द भण्डार को दान दिया है बल्कि पूर्व और पाश्चात्य देशों की भाषाओं का भी यही हाल है। अनेकों भाषाशास्त्रियों ने संस्कृत भाषा को अवेयस्तन, फारसी, अरबी, ग्रीक, लेटिन व जर्मन परिवार की भाषाओं का जनक बताया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आज भारत में भी आंग्लभाषा तीव्र गति से विश्व की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रसारित व भारतीय शिक्षा में[3](अनिवार्य भाषा-शिक्षा में) प्रथम स्थान पर आसीन है।

अंग्रेजी भाषा हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार में आती है। इस दृष्टि से भी

---

1. ऋग्वेद - 1-164-45
2. भाषा-शास्त्र-ध्वनि नियम
3. संविधान अनुसूची आठ

इसका सम्बन्ध संस्कृत-ऊर्दू-फारसी के साथ स्थापित होता है। यह जर्मनिक शाखा में तथा रोमन लिपि में लिखी जाती है। यह एक पश्चिम जर्मेनिक भाषा है। जिसकी उत्पत्ति इंग्लैण्ड में हुई थी[1] तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पांचवीं शताब्दी से पुरानी अंग्रेजी मध्य अंग्रेजी में होती हुई आज आधुनिक अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राज कर रही है अतः संस्कृत-अंग्रेजी ने अपनी यात्रा के साथ वर्तमान समय में भी शब्दों का साम्य विस्मयकारी है।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध साधिका आंग्लभाषा के संवर्धन व संरक्षण में संस्कृत-आंग्लभाषा की शब्दावली में साम्य देखने को मिलता है। यह साम्य कुछ शब्दों अधिक तो कुछ में कुछ थोड़ा उच्चारण भेद की दृष्टि से कम साम्य मिलता है। संस्कृत तथा अंग्रेजी के हजारों शब्दों में घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जा सकता है। सर्वप्रथम वे शब्द जिनकी पहचान बहुत सरलता से हो सकती है वे साक्षात् शब्द है -

सम	=	Same
न/नो	=	No
नाम	=	Name
त्रि	=	Tri, Three
त्रय	=	Trio
गौ	=	Cow
ते	=	They
अक्षिदन्त	=	Accident (एक्सीडेन्ट)
मातृ	=	Mother
पितृ	=	Father
भ्रातृ	=	Brother
दन्त	=	Dent
नास	=	Nose
तान	=	Tone
वस्त्र	=	Vesture
अन्त	=	End

1. www.language.com, www.wikipedia.org

सिव्	=	Sew
छन्द	=	Chant
आदर	=	Adore
विधवा	=	Widow
विधुर	=	Widower
उपरि	=	Upper
नियर	=	Near
लोक	=	Look
मध्य	=	Mid
माध्यम	=	Medium
क्रूर	=	Cruel
क्लेश	=	Clash
पत्र	=	Petal
द्वार	=	Door
निर्मल	=	Normal
पथ	=	Path
अंक	=	Ink
समान	=	Common
केन्द्र	=	Centre
कर्पट	=	Carpet
रीति	=	Rite
माप	=	Map
स्थान	=	Stand
मायिक	=	Magic
स्यूत	=	Suit
वैर	=	War
समिति	=	Committee

ये वे शब्द हैं जो बहुत सरलता से साम्य रखते हैं और यदि ध्वनि विज्ञान

या भाषाशास्त्र के नियमों की सहायता ली जाए तो असंख्य शब्द अंग्रेजी भाषा के मिलेंगे जो संस्कृत शब्दावली से साम्य रखते हैं। संस्कृत के पर्याय पदों का सम्बन्ध तो लगभग हर भाषा के शब्दों से साम्य रखते हैं। नियमानुसार महर्षि यास्क लिखते हैं –

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।[1]

वर्णागम– जब शब्द में कोई नया अक्षर/वर्ण जुड़ जाता है तो उसे वर्णागम कहा जाता है जैसे हरियाणवी में स्कूल को इस्कूल कहते हैं तो यहां इवर्णागम हो गया। सेव् (Serve) में R का आगम है।

वर्णविपर्यय– जब किसी शब्द के वर्णों में बदलाव हो जाता है तो उसे वर्ण विपर्यय कहा जाता है जैसे – कर्ता = तर्क, कसित = सिकता, हिंस = सिंह, प्राप्ति = Profit आदि।

वर्णविकार– अर्थात् किसी वर्ण में परिवर्तन या विकार हो जाना। जैसे शुकः = सुवा, चटका = चिड़िया, पोत = Boat आदि।

वर्णनाश– पद में किसी अक्षर या वर्ण का नष्ट हो जाना। जैसे पुस्तक = Book में स्त का नाश हो गया। इसी प्रकार स्थान = थान/थाना आदि। यही संस्कृत-अंग्रेजी शब्दों के साम्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। जैसे प्रमुख शब्दोदाहरण –

सेव्	=	Serve	–	R का आगम
स्थान	=	Stand	–	D का आगम
प्राप्ति	=	Property	–	R का आगम
वाहक	=	Vehicle	–	L, E का आगम
इष्	=	Wish	–	W का आगम
कृ	=	Create	–	T, E का आगम
सर्प	=	Serpent	–	ENT का आगम

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।[2]

कुछ में समय परिवर्तन के साथ-साथ नियमपरिवर्तन व भाषा विज्ञान के नियमानुसार भी समानता प्राप्त होती है। वे घनिष्ठ सम्बन्ध वाले प्रमुख शब्द

1. निरूक्तम्, 1.5, महर्षि यास्क
2. महाभाष्य प्रथम आह्निक

उदाहरण स्वरूप इस प्रकार हैं –

लोक	=	Folk	–	वर्णविपर्यय, F का आगम
कोण	=	Corner	–	RR का आगम
नाग	=	Snake	–	वर्णविकार व वर्णागम
अल्प	=	Half	–	H वर्णागम, प > फ वर्णविकार
चयन	=	Choice	–	वर्णविकार न > स
पत्र	=	Letter	–	प > ल, त > प वर्णविकार
स्थिर	=	Still	–	र > ल वर्णविकार
आयु	=	Age	–	य > ज वर्णविकार
शर्करा	=	Suger	–	क > ग, र वर्णनाश
अर्जन	=	Earn	–	ज वर्णनाश
चित्र	=	Picture	–	वर्ण विपर्यय P आगम
नीर	=	Tear	–	न > त/ट

इसी प्रकार अनेक शब्द हैं –

दान (Donation), गण (Gang), घास (Grass), चरित्र (Character), खण्डन (Condemn), कम्बल (Blanket), आदर (Honour), एकत्र (Together), स्मित (Smile), त्रिकोणमिति (Trigonometry)।

अन्य नियमानुसार भी द्रष्टव्य है।

मूलभाषा-सुसंबद्धाः ग्रिम-ग्रासमान-वर्नराः।
वर्णानां परिवृत्त्यैव, प्रसिद्धिं परमां गताः॥

क-त-पा-ह-थ-फाः सन्तु, घ-ध-भा ग-द-बास्तथा।
ग-द-बाः क-त-पाः सन्तु, ग्रिमाख्ये नियमे सति॥

महाप्राण-द्वयी-युक्ताः, द्व्यक्षरा मूलधातवः।
महाप्राणाद्यनाशः स्याद्, ग्रासमान-विधौ स्मृते॥

पूर्वमुदात्तयोगे तु, ग्रिमाख्यो नियमो भवेत्।
अन्यथा द्विपदा वृत्तिः, वर्नरे नियमे सति॥[1]

1. भाषा-शास्त्र, पृ. सं. 241

इन नियमों के अनुसार अंग्रेजी शब्दावली का अध्ययन करने पर और अधिक साम्य शब्दावली की प्राप्ति सम्भव है। वचन, उपसर्ग, प्रत्यय विभक्ति के अतिरिक्त संस्कृत-अंग्रेजी शब्दों का साम्य ज्यों का त्यों है। जैसे -

वासन	=	Basin	=	पात्र (बर्तन)
अभितः	=	About	=	दोनों ओर
वमित	=	Vomit	=	उल्टी करना
उच्चर	=	Utter	=	उत्तर
चाट	=	Cheat	=	छलिया
सन्तुष्ट	=	Context	=	सन्तोष
दुर्बलता	=	Debility	=	कमजोरी
एक	=	Each	=	एक
प्लुत	=	Float	=	तैरना
गम्	=	Go	=	जाना
गति	=	Gait	=	चाल
होरा	=	Hour	=	घण्टा
मर्ज्ज	=	Merge	=	डूबना
नही	=	Nay	=	नहीं
सीमन्	=	Semen	=	अण्डकोष/वीर्य
मूक	=	Mute	=	चुप्पी

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संस्कृत विश्व भाषाओं की जननी है। जर्मनी की एक एयर लाइन्स का नाम लुप्त हंसा है जो संस्कृत शब्द है।

उपसंहार (Conclusion)

इस शोधपत्र में अंग्रेजी-संस्कृतशब्दावली में साम्य प्रदर्शित करने का एक मात्र प्रयास किया गया है। अंग्रेजी भाषा विश्व की एक मात्र ऐसी भाषा है जिसका निर्माण वैश्विक भाषाओं के मिश्रण से किया गया है ताकि सम्पूर्ण विश्व एक भाषा को बोल, समझ व लिख सके। संस्कृत भाषा की तो खोज हुई है और अन्य विश्व की सभी भाषाओं का निर्माण हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत विश्वभाषा जननी के साथ अंग्रेजी की

शब्दावली का साम्य परिलक्षित होता है। मैक्स मूलर ने इसी साम्य को दर्शाते हुए कहा है -

"Sanskrit is not only the classical language but also a divine one. It has the elixir at life and is the mother of all the languages of the world."[1]

इन्दिरा गान्धी ने भी अंग्रेजी की जगह संस्कृत के बारे में कहा था कि-

"If Sanskrit was simplified, it could serve as better link among the people of diffrent states and solve the language problems."[2]

सन्दर्भग्रन्थसूची (References) -

1. भाषा-विज्ञान एवं भाषाशास्त्र - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वि.वि. प्रकाशन, वाराणसी, 2014
2. निरूक्त-पञ्चाध्यायी, निघण्टु-सहिता, संस्कृत व्याख्याकारा, म.म. पं. छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लछमन दास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987
3. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय-प्राच्य-विद्याप्रतिष्ठान, 1963
4. भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन, सं. डॉ. विद्यानिवास मिश्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1976
5. भारत का भाषा सर्वेक्षण (हिन्दी अनुवाद) ग्रियर्सन जार्ज, 1967
6. अन्य - पत्र-पत्रिकाएं
7. अन्तर्जाल प्रयोग

✦✦✦

1 Miller Max – I cover the water front barricade books 2003, P-174

2. Gandhi Indira - The Hindu - Dated- 09.04.1983

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

संस्कृत साहित्य में वर्णित राजधर्म की वर्तमानकालिक प्रासंगिकता

-डॉ. दिनेश भारद्वाज
आचार्य (ज्योतिष साहित्य एवं दर्शन) सहायकाचार्य,
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय-क्यार्टू
जिला-शिमला (हि.प्र.) 171201

[संस्कृतसाहित्यं सर्वविद्यानाम् आकरः विद्यते। तत्रोपवर्णिताः नैके विचाराः सार्वकालिकाः सन्ति। अस्मिन् लेखे राजधर्मः कः, आधुनिककाले का वा तस्य प्रासङ्गिकता इति न्यरूपयत्।]

संस्कृत साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। सहस्र-वर्षों से संस्कृत वाङ्ग्मय ने अपने उज्ज्वल ज्ञान से विश्व की अनेक सभ्यता और संस्कृति के उन्नयन और विकास में अपनी भूमिका अदा की है। सार्वकालिका, सार्वभौमिक और सार्वजानिक उपदेशों के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्ग्मय की एक और विशेषता यह है कि शायद ही जीवन का कोई पहलू है जो यहाँ अछूता रहा हो। राष्ट्र को समृद्ध और संगठित बनाने के लिए मनु आदि स्मृतिकारों ने राजधर्म के सूत्रों का प्रणयन किया। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राजधर्म वर्णन प्रसङ्ग में राजाओं के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए आदिपुरुष मनु कहते है कि राजाओं का चारीत्रिक स्तर इतना ऊंचा हो कि जनता उसका अनुकरण करें तथा कोई उस पर उंगली न उठा सके। किसी भी देश का शुभाशुभ राजा के आचार-व्यवहार पर निर्भर होता है। राजा और प्रजा के परस्पर सहयोग और समन्वय से सबका कल्याण निश्चित है। **"राजा प्रकृतिरंजनात्"** के अनुसार राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजा की सेवा करना होता है। राजकार्य के संचालन में राजा का आचार और उसकी प्रजापालन की व्यवस्था के सम्बन्ध में स्मृतिग्रन्थों में (राजधर्म की) चर्चा की गई है। संस्कृत वाङ्ग्मय में वर्णित राजाओं की कार्यशैली और राजव्यवस्था में स्मृतिकारों के द्वारा निर्दिष्ट राजधर्म का अनुपालन दिखाई देता है। संस्कृत साहित्य के काव्य तथा नाटकों में राजा, मंत्री, दण्डविधान, करव्यवस्था, न्यायव्यवस्था आदि का यथावसर सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। राजव्यवस्था चलाने में प्राचीन

भारत में राजाओं की महती भूमिका रही है। धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट तथा संस्कृत काव्यों में प्रतिपादित राजधर्म की वर्तमान शासनव्यवस्था में महती प्रासंगिकता है। धर्मशास्त्र और काव्यों में हजारों वर्षपूर्व निर्दिष्ट एवं वर्णित ये राजसिद्धांत हमारे लिए मात्र धरोहर नहीं हैं अपितु ये हमारी बौद्धिकता और संवेदना को उत्प्रेरित भी करते हैं। काव्यों में प्रतिपादित राजाओं के पुनीत चरित्रों में आचरणशुद्धि की प्ररेकता, प्रजावत्सलता तथा विनयशीलता पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त राजनीतिविषयक दण्डव्यवस्था और न्यायपथ का भी सुन्दर उपदेश मिलता है। रघुवंश में वर्णित राजधर्म न केवल रघुवंशी राजाओं के राजधर्म को व्यक्त करता है अपितु वर्तमान शासनव्यवस्था के शासन को प्रजा के कल्याण हेतु मार्ग भी प्रशस्त करता है। रघुवंशी राजा शास्त्रसम्मत राजकाज व्यवस्था के संवाहक थे। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो रघुवंशी राजाओं का चरित्र वास्तव में अनुकरणीय है। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं के चरित्र की पवित्रता, कार्य के प्रति दृढ़ता तथा साम्राज्य की विशालता, शास्त्र के अनुसार आचरण, मितभाषिता एवं धर्मपरायणता का वर्णन किया है–

सोऽहम् आजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानाम् आनाकरथवर्त्मनाम्।।

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्।।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषुणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।।[1]

महाकवि कालिदास की कालयजी रचना रघुवंश में राजधर्म बहुत्र वर्णित है। रघुवंश के प्रथम, पञ्चम, अष्टम और चतुर्दश सर्ग में कालिदास ने राजधर्म का वर्णन किया है। रघुवंशी राजा अपनी प्रजा का कल्याण करने हेतु सतत प्रयत्नशील थे। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य हजारों गुना जल लौटाने के लिए पृथ्वी से जल ग्रहण करता है राजा दिलीप प्रजा के कल्याण के लिए प्रजा से कर लेकर उनके विकास कार्यों में लगाकर उन्हें लौटा देते थे–

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्त्रगुणम् उत्स्त्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः।।[2]

---

1. रघुवंश, 1/5-7
2. रघुवंश, 1/18

राजधर्म के अंतर्गत आने वाले **"सामदानाद्युपाय"** भी राजा दिलीप के गुप्तविचारों से तथा हर्षशोकादि चिन्हों को छिपाने से अनुमान किये जाते थे- **तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।**[1] राजा दिलीप प्रजा को विनम्रता का पाठ पढ़ाने तथा उनका भरण-पोषण करने के कारण उनका वास्तविक पिता था–

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।[2]

किसी भी सम्राज्य की सफलता या असफलता प्रशासनिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। प्रशासन यदि गतिशील, व्यवस्थित एवं संगठित है तो साम्राज्य सुदृढ़ होगा। रघुवंशी राजाओं में अन्यतम, प्रजाहित के प्रबल चिंतक **'रघु'** अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण सफल शासक हुए। राजा दिलीप और राजा रघु द्वारा प्रजाहित में किये गए कार्यों का बखान ग्राम्य बालाओं के गीतों में गूँजता हे। राम ने सीता के प्रति प्रजा द्वारा शंका व्यक्त किए जाने के पश्चात अपने व्यक्तिगत संबंध का (रिश्ते का) विचार न कर, राजधर्म के पालन हेतु उन्होंने अपनी धर्मपत्नी का त्याग कर दिया। इस विषय में महाकवि कालिदास मार्मिक भाव व्यक्त करते हुए कहते है– **'कौलीनभीतेन गृहन्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः।'**[3] अर्थात् लोकनिंदा के भय से श्रीराम ने सीताको घर से तो बाहर भेज दिया, परंतु मन से नहीं। प्रजा में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करना राजा का अन्य प्रमुख धर्म है। रघुवंश में महाकवि कहते है- **"नृपस्य वर्णाश्रमपालनम् यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः"।**[4] आश्रम धर्म के अनुपालन में रघुवंशी राजा प्रजा के लिए आदर्शस्वरूप थे-

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।[5]

इस प्रकार कालिदास ने स्मृतियों ने प्रतिपादित राजधर्म के द्वारा प्रजा तथा राजा के राजनीतिक सम्बन्ध को नैतिक तथा धार्मिक रूप देकर उसे दृढ़ स्वरूप प्रदान किया है।

कालिदास के पश्चात भारवि ने भी राजधर्म को अपने काव्य में पर्याप्त

---

1. रघुवंश, 1/20
2. रघुवंश, 1/24
3. रघुवंश, 14/84
4. रघुवंश, 14/67
5. रघुवंश, 1/8

स्थान दिया। भारवि राजनीति में निष्णात है, उनका राजधर्मविषयक व्यापक ज्ञान युधिष्ठर की उक्तियों में मूर्तिमान हो उठा है। भीम को समझाते हुए युधिष्ठर कहते है कि बिना विचार किया गया कार्य विपत्ति देने वाला होता है। जो व्यक्ति विचारपूर्वक कार्य करता है, उसके गुणों से आकृष्ट सम्पत्ति स्वयं उसके पास चली जाती है–

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम् पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥[1]

शत्रु द्वारा अपमान का स्मरण करने के कारण क्षुब्ध भीम को न्याय पथ का सुन्दर उपदेश देते हुए युधिष्ठर कहते है कि जो राजा उचित समय पर मृदुता और तीक्ष्णता धारण करता है वह सूर्य के समान अपने तेज से समस्त जगत को अपना वशवर्ती बनाता है। भीम को नीतिशास्त्र का उपदेश देते हुए धर्मराज कहते है कि यद्यपि इस समय दुर्योधन का उत्कर्ष हो रहा है फिर भी उसकी उपेक्षा करनी चाहिए क्योंकि अविनयी शत्रु को उपेक्षा से ही जीता जा सकता है।– **"विपदन्ता ह्यविनीतसंपदः"।**[2]

नीतिज्ञों की राज्य के सुव्यवस्थित संचालन के लिए आवश्यक नीतियों को प्रतिपादित करते हुए कवि माघ ने कहा है कि सहायादि समस्त कार्यों में पाँच अंगों के अतिरिक्त राजा का उस प्रकार दूसरा कोई मन्त्र नहीं है, जिस प्रकार उस शरीर में पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त बौद्धों के मत से दूसरा कोई आत्मा नहीं है। राजा के पाँच अंग हैं–1. कार्यों के आरम्भ करने का उपाय, 2. कार्यों की सिद्धि में उपयोगी वस्तुओं का संग्रह, 3. देश तथा काल (स्थान और समय) का यथा योग्य विभाजन, 4. विपत्तियों के दूर करने के उपाय, 5. कार्यों की सिद्धि।

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गःस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥[3]

राजाओं के रहस्य आदि में पाँच अंग समायोजित रहते हैं तो उनके सन्धि, विग्रह के साथ मन्त्रणा करने की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रत्येक राजा को अपने राज्य में इस पाँचों अंगों पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए। कवि माघ ने पूर्व बौद्ध दर्शन की मान्यता की प्रतिपादित करते हुए राजनीति का यह उपदेश दिया है।

---

1. किरातार्जुनीयम्– 2/30
2. किरातार्जुनीयम्– 2/52
3. शिशुपालवध– 2/26

काव्यों के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में भी राजधर्म का यत्र तत्र वर्णन हुआ है। मुद्राराक्षस नाटक में विशाखदत्त ने राजशास्त्र का विशद परिचय दिया है। विशाखदत्त न केवल कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अन्य नीतिशास्त्रों से परिचित थे बल्कि उसके प्रकांड पण्डित थे। अर्थशास्त्र के राजनीति विषयक विचारों व गजाध्यक्ष, षाडगुण्य, द्रव्य, उपाय, बाह्यकोप, अन्तःकोप जैसे पारिभाषिक शब्दों को विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में यत्र-तत्र प्रयुक्त किया है। मुद्राराक्षस के तृतीयांक में सफल शासनव्यवस्था की चर्चा की गई है। चाणक्य कहता है कि- **"वृषल! श्रूयताम्। इह खल्वर्थ शास्त्रकारास्त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति राजायतां सचिवायतामुभयायतां चेति।[1]"** राज्य के विषय में चन्द्रगुप्त का विचार है-**राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्।[2]** राजधर्म का पालन करने में तत्पर राजा के लिए राज्य सुख के स्थान पर दुःख की सृष्टि करने वाला है क्योंकि दूसरों का हित साधने के लिए राजा को अपना हित छोड़ना पड़ता है, अपने इच्छित आमोद-प्रमोद का त्याग करने के लिए विवश राजा किस बात का 'राजा'! यदि उसके लिए दूसरों का प्रयोजन अपने प्रयोजन से अधिक अभीष्ट है, तो वह तो पराधीन हुआ. और पराधीन व्यक्ति कैसे जान सकता है कि सुखानुभूति का आनंद क्या चीज़ है-

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः॥[3]

आचार्य दण्डी ने दशकुमारचरित में विश्रुतचरित में राजनीति का सुंदर उपदेश स्वाभाविक शैली में प्रस्तुत किया है। वृद्धमंत्री वसुरक्षित अनंतवर्मा को उपदेश देते हुए कहते है "बुद्धिशून्य राजा उन्नतिशील होने पर भी दूसरों के द्वारा आक्रांत होने पर अपने आप को संभाल नही पाता। वह साध्य और साधन का विभाग कर किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। निश्चित व्यवहार में दक्ष न होने वु कारण प्रत्येक काम मे असफल होकर वह अपने और दूसरों से अपमानित होता है। लोग उसका अनादर करने लगते है और उसकी आज्ञा प्रजा के योगक्षेम में असफल रहती है। इसलिए बाहरी विद्याओं में दिलचस्पी छोड़कर तुम अपनी कुलविद्या राजनीति (दण्डनीति) का सेवन करो। इसका सेवन करने

---

1. मुद्राराक्षस, पृ. 176
2. मुद्राराक्षस, अंक-3
3. मुद्राराक्षसम्, 3/4

से तुम्हें समस्त शक्तियों और सिद्धियों की प्राप्ति होगी और तुम बिना किसी विघ्न के अस्खलित शासन होकर आसमुद्र पृथ्वी का पालन करो।"[1]

संस्कृत साहित्य के आधुनिक नाटक भारतविजयनाटक के प्रथम अंक में भी राजधर्म वर्णित है। दानाशाह शिराज को प्रजा-व्यभिचारी, कलुषित, मनोवृत्ति तथा राजधर्म से शून्य बताते है। प्रत्युत्तर में शिराज दानाशाह को कहते है कि इस समय मैं मायावियों के जाल से सम्भ्रान्त हूँ अन्यथा राजधर्म को भली भाँति जानता हूँ। स्वयं को राजधर्मवेत्ता बताते हुए शिराज कहता है कि बुद्धिमान को चाहिए कि धर्म से अर्थ और काम में रुकावट न डाले, और अर्थ से धर्म और काम में, एवं काम से धर्म और अर्थ में बाधा न डाले। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आक्रमण और आपत्ति के समय प्रजा का पालन करना चाहिए-यह राजा का धर्म है–

अर्थकामौ न धर्मेण प्रबाधेत विचक्षणः।
धर्मकामौ न चार्थेन न कामेनेतरद् द्वयम्।
ईतावापत्तिकाले च प्रजानां पालनं चरेत्।
व्यसनाद् भयतो रक्षेदेष धर्मो महीपतेः।।[2]

अंत मे कौटिल्य के वचनों में कि "प्रजा के सुख में राजा का सुख निहित है, प्रजा के हित में ही उसे अपना हित दिखना चाहिए। जो स्वयं को प्रिय लगे उसमें राजा का हित नहीं है, उसका हित तो प्रजा को जो प्रिय लगे उसमें है-"

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु हि ते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।[3]

संस्कृत काव्यों में अनेकत्र वर्णित इन उपदेशों को अनुपालन करते हुए तत्कालीन राजवर्ग की नैतिकता, चरित्रों की पावनता तथा प्रजावत्सलता ज्ञात होती है। वस्तुतः वर्तमान शासन प्रणाली का मूल उत्स धर्मसूत्र एवं धर्मशास्त्र है, जिसका उपबृहण संस्कृत साहित्य में हुआ है। सहस्त्रों वर्षों के बाद भी स्मृति ग्रन्थों में निर्दिष्ट तथा संस्कृत काव्यों में राजाओं की राजव्यवस्था में अनुपालित राजधर्मविषयक सूत्रों का वर्तमान शासन व्यवस्था में महनीय योगदान परिलक्षित होता है। हजारों वर्ष पूर्व निर्मित ये सिद्धान्त यद्यपि भिन्न परिस्थितियों में लिखे गए थे किन्तु आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। वर्तमान शासन व्यवस्था में धर्मशास्त्र

---

1. दशकुमारचरितम्, अष्टमउच्छवास, पृ.-255, 56
2. भारतविजयनाटकम्-1/18-19
3. अर्थशास्त्रम्-1/19/34

प्रोक्त इन राजधर्म विषयक गुणों का अनुकरण यदि वर्तमान शासक करें तो निश्चित रूप से प्रजा का हित हो सकता है। किञ्च संस्कृत साहित्य में वर्णित राजव्यवस्था के सूत्रों की हजारों वर्षों के उपरांत प्रासंगिकता से यह भी सिद्ध होता है कि ये रचनाएं कालजयी है।

सन्दर्भग्रन्थसूचीः-

1. अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी- 2000
2. किरातार्जुनीयम्, पंडित दुर्गा प्रसाद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई- 1895
3. दशकुमारचरितम्, श्री कृष्ण मणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन- 2010
4. मुद्राराक्षसम्, जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी- 2013
5. रघुवंश, श्री कृष्ण मणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन- 2018
6. शिशुपालवध, राम जी लाल शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-2011
7. भारतविजयनाटकम्, मोतीलालबनारसीदास नई दिल्ली-2006

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

Climatology in *Ṛtusaühāra*

-Dr. Kapil Gautam

Assistant Professor, Department of Sanskrit,
Vardhman Mahaveer Open Universaity, Kota

[कालिदासस्य मेरुकृतिषु ऋतुसंहारकाव्यम् अन्यतमम् विद्यते। काव्येस्मिन् नैके वैज्ञानिका अंशा पर्यावरणसंबद्धा अंशाः कविना निबद्धाः। ऋतुसंहारे उपवर्णिताः पर्यावरणसंबद्धाः अंशा अस्मिन् लेखे निरूपिताः।]

Abstract:

Environmental thought is not only the most emerging issue of modern scientific age but so necessary factor of existence of human life in the polluted world. Western thought of environment gave the birth to man centred civilization which proposed the thought of victory of man on the nature. That's why there are created many environmental problems like global warming, air-water-noise pollution etc. The Vedic seers connected the human life with nature world through developing *Tapovan* in dense forest, educate the *brahmacārī* in *āśrama* or *gurukul* and worshipping the divine being like *Indra*, *vāyu sūrya soma nadī marut* etc. Kavikulaguru *kālidāsa* is the most popular poet of classical Sanskrit who is the career of Vedic knowledge tradition about environmental intellect. *Ṛtusaühāra* often written is a *muktakakāvya* or mini-epic in Sanskrit by *kālidāsa*. The poem has six cantos for the six Indian seasons-*grīṣma* (summer), *varṣā* (monsoon/rains), *śarat* (autumn), *hemanta* (cool), *śiśira* (winter), and *vasanta* (spring). It is generally considered to be *kālidāsa's* earliest work. The word *'Ṛtusaühāra'* means "seasons coming together" in Sanskrit. It is often translated as *Medley of Seasons* or *Garland of Seasons*, but not "birth and death" of seasons, which arises from the mistranslation of *saühāra* which means *destruction* in some modern Indic languages. Each of these seasons is described as a pair of lovers who experience changes in their relation like the

changing seasons of India. The poem starts with the description of summer and ends with spring. The *'Ṛtusaühara'* is the scientific and appropriate description of Indian climatology. The orderly description of *ṝtu* or season, their effect on mankind, interconnection between man and season is the evidence of developed Indian climatology. India has always believed in the harmonious relation between man and forces of nature and the importance of each season has been beautifully brought into light by the great poet *kālidāsa* in *ṝtusaühāra*. This paper tries to present Indian climatology with climatic conditions in specific *ṝtu* or season, their effect on mankind and adjustment of lifestyle according the season in the light of *ṝtusaühāra*..

Key words: Indian climatology, *ṝtu*, temperature,biodiversity, Natural vegetation, flora, fauna.

Introduction:

The world constitutes five elements Earth, Water, Air, Fire and Sky. Of these, the three elements Earth, Water and Air are prone to pollution, while the rest remain unaffected. The pollution which disturbs ecological balance is called environmental pollution. In Vedic culture man was as part and parcel of nature, used to live harmoniously with it. He even treated the forces of nature as divine beings-agni deva, varu?a deva, vayu Deva and glorified their existence and prayed for their intervention in nature's fury. In the modern age man not only partly out of necessity but mostly selfishly started industrial and other such activities, but soon his greed de-generated into avarice and drove him to excesses. He indulged in the over-exploitation of nature's bounties and began to polluting natural elements in the name of development and modernization.The evils, viz., exploitation of natural resources, industrial pollution, deforestation and excessive use of chemicals have contributed to the environmental pollution. As the present generation is a nexus between the past and future generation, it has a bounden duty to leave a good legacy to posterity.

If the attitude of the modern man continues to be the same, the survival of humanity itself will become a big question. In fact, no country wishes to remain undeveloped. But the development should be healthy and at an affordable cost. It should not create obstacles in the healthy and prosperous development of future generations. So

for the solution of this problem it is necessary to the study of climatology. Climatology, once the study of 'average weather', now encompasses the atmosphere, hydrosphere, cryo-sphere, land surface and biosphere. 'Vedas', the very first text of mankind, which is also considered to be the greatest treatise on environment, ensured a healthy relationship between man and nature. This relationship should be as sacrosanct as between mother and child. The Earth was looked upon as universal mother and all living beings, her children *mātā bhūmiḥ putro'haü pṛthivyāḥ.*[1]

In Vedic times rituals were encouraged and performed with a view to keeping the environment pure and prefect. The flora and fauna were considered to be the two important facets of Mother Nature. The Vedas have glorified the greenery and identified with divinity prayers.

According to the *śāstrās* plantation of saplings is a sacred dharma, and destruction of trees a great sin. All the poets of Sanskrit literature, with no exception, are great lovers of nature. They not only loved nature but also identified themselves with it. There are many instances to highlight the love of Sanskrit poets for flora and fauna. *Kālidāsa* is the representative of Indian environmental thought the harmonious relation between man and forces of nature and the importance of each season has been beautifully brought into light by the great poet *Kālidāsa* in *ṛtusaühāra. Ṛtusaühāra* is a description of six Indian seasons. Two prominent characteristics of these short pieces are nature and love, which are often blended together with great facilities and grace. The nature of the poet is great observant of mountain, plants, and the animals world. All the components of climatology is to be found in *Ṛtusaühāra.* This paper is integral approach of *Ṛtusaühāra* and modern climatology. In this paper Indian climatology will be represented with description of six seasons on the basis of following parameters-

- Climatic condition
- Biodiversity
- Natural vegetation
- Effect on mankind

1. Edi. Vebar, ***Atharvavaeda - prātiśākhya***,12.1, Hoshiyarapura, Vishvesha-varananda Shodh Samsthana 1967, pp 127

1. The summer (grīṣma ṛtu):

This season is held in Vedic month *"śukra-śuci*[1]*"* or *jyeṣṭha āṣāḍha* which is known as May- June in English calendar. The predominating theme of the total canto is the searing heat of summer and its impression on human beings and animals. For instance, the verses that describe young lovers are delineated in a picturesque manner, vivid to the eye. The description of this season is given below on the basis of parameters mentioned above-

1.1 Climatic condition:

High temperature -this is hot season when the sun is fierce- *pracaṇḍasūrya spṛhaṇīya candramā.*[2]

No raining in this season that's why exceedingly scorched by the fierce sunshine their palates derived up by the great thirst- *"mṛgāḥ pracaṇḍātāpitā bhṛüśam".*[3]

Parched in the way by hot dust *"pathi taptāüsubhiḥ"*[4]

1.2 Biodiversity:

Many animals are described in this season - ***mṛga****-mṛgāḥ pracaṇḍātapatāpitā bhṛśaü tṛṣā mahatyā pariśuṣka tālavaḥ*[5] *,* ***Varaḥ*** *-varāhayūthoviśatīva bhutalam*[6]*,* ***Mahiṣī****- "mahiṣīkulaü jalam".*[7] This season has special "symbiosis through climatic condition"- a snake with its mouth turned downwards and moving tortuously is lying under a peacock taking rapid breath-

"Ravermayūkhair abhitāpito bhṛśaü,
vidahyamānaḥ pathi taptapāüsubhiḥ.
avāṇmukho jihmagatiḥ, śvasanmuhuḥ
phaṇī mayūrasya tale niṣīdati"..[8]

---

1. Edi. Vebar, ***śathapatha brāhmaṇa,*** 1.7.2, New Delhi, Choukhambha Publishing house, 1964 pp 75.
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986. pg.21.
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.11
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.13
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.11
6. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.17
7. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.21
8. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.13.

1.3 Natural vegetation:

Following natural vegetation is described in this season -

Bhadramuṣṭhi[1] - This is eaten by forest pig.

śālmalī- *bahutara iva jātaḥ śālmalīnāü vaneṣu.*[2]

Lotus flower,[3] ***Pāṭala*** **tree**[4]**.**

Dāvāgni- a type of forest fire is also described in this season - *"jvalati pavanavṛddhaḥ parvatīnāü darīṣu*[5].

1.4 Effect on mankind:

Charming mansion - terraces nicely redolent of perfume, wine rippling with breath of mouth of sweethearts. People hearts are kind with passion. Women allay the heat felt by lover they having covering silk cloth-

Payodharāścandanacārcitā,
stuṣāragaurārpitahāraśekharā
nitambadeśāśca sahemamekhalā,
prakurvate kasya mano na sotsukam

2.The Monsoon (varṣā ṛtu):

This season is held in Vedic month *nabhaḥ nabhsya*[6] or *śrāvaṇa bhādrapada* which is known as July- August in English calendar.

2.1 Climatic condition:

Heavy rain which is described in poetic image- the rainy season has come like a king having the clouds with watery spray in the place of rutty elephant -*sasīkarāmbhodharamattakuüjaraḥ*

staḍitpatāko'śaniśabdamardalaḥ
samāgato rājavaduddhatidyuti
rdhanāgamaḥ kāmijanapriyaḥ priye ॥[7]**.**

---

1. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1,17
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.26
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***,1.28
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.19,
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.25
6. śathapatha brāhmaṇa,1.7.2, edi. Vebar, Choukhambha Publishing house, New Delhi, 1964.
7. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986.,

Here *kālidāsa* has scientific account of types of clods -

kapiśa megha - *nitāntanīlotpalapatrakāntibhiḥ*

madhya-starī - *śaśikarāmbhodharamattakuüjaraḥ*

starakapāsī - *sītotpalāmbuda cumbitotpalā*[1]

there is a sweet description of thundering of clouds[2], lighting[3] and rainbow[4].

2.2 Biodiversity:

The peacock are dancing in *palāśa vana- "kalāpacakreṣu navotpalāśayā"*[5]

Being asked water from clouds by the thirsty *cātaka* birds.

Wild elephant who furious at the thunder of new clods- *"vanadvipānāü navavāridasvanaiḥ.*[6]

2.3 Natural vegetation:

The forest on the vindyan region full of numerous kinds dark green grass-*"vanānyavindhyāni harantī mānasam vibhūṣitānyudgata-pallavaiḥ drumaiḥ."*[7]

There is also description of other type of natural vegetation like *kadalī,kadamba,arjuna, ketakī, mālatī, yūthīka.*[8]

3. The Winter or śarat ṛtu:

This season is held in Vedic month *eṣaḥ-ūrja*[9] or *āśvina-kārtika* which is known as September - October in English calendar.

3.1 Climatic- condition:

The morning breeze makes one long exceedingly wafting the watery dew lying on the ends of leaves. In this season the space is

1. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.16
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.3
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.1
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.20
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.14.
6. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.15.
7. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.8
8. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 2.5,8.
9. śathapatha brāhmaṇa,1.7.2, edi. Vebar, Choukhambha Publishing house, New Delhi, 1964.

looking clear and clean that's why the night is whitened by moon, the masses of clouds are disappeared in space-*vyomavigatameghaḥ candratārāvakīrṇam*[1].

3.2 Biodiversity:

Female deer- lotus like eyes of female deer is seated on the margins *"paryantasaüsthitā mṛgīnayanotpalāni"*[2]. Many herds of cows lying undisturbed-*pracūrasthitagokulaśobhitāni.*[3] In the autumn season most popular bird is swan- the rivers are whitened by swan -*sonmādahaüsamithunairūpaśobhitāni.*[4] *kāraṇḍava* bird -the line of waves of river is beaked by *kāraṇḍava* birds - *kāraṇḍavavi-ghaṭitavicimāla*[5].

3.3 Natural vegetation:

In the autumn there are various types of natural vegetation is described- *saptacchada, kadamba, kuṭaja, arjuna, saraj, nipa*[6]*, kahlaras, padams and kumudas.*[7]

4. The Early winter hemanta ṛtu

The *hemant* season is held in Vedic month *saha-sahsya*[8] or *pauṣa-māgha* which is known as November and December.

4.1 Climatic condition:

This season has very low temp.- *mṛdusūryakarābhitaptā*[9] there also description of snowfall and frost - *prapattuṣāro,*[10]

The cold, perfumed with flowers wind is flowing-*puṣpāsavamodisugandhivakro niśvāsavātaiḥ surabhiḥ kṛtā ü gaḥ*[11]

---

1. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.14
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.16
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.1
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.8
6. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.13
7. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.15
8. śathapatha brāhmaṇa, 1.7.2, edi. Vebar, Choukhambha Publishing house, New Delhi, 1964.
9. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986
10. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 3.15
11. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.1

4.2 Biodiversity:

kadamba bird- the lacks with infatuated *kadamba* birds is attract the minds of people. Female deer- *"prabhūtaśāli prasavaiścitāni mṛgā ü ganāyūthavibhūṣitāni[1]"*.

The popular bird of this season is *krounca*- the cold season is musical with the cries of krounca-*"vinipatati tuṣāraiḥ krauü-canādopagītaḥ"*[2]

4.3 Natural vegetation-

Padam-This season is without padam lotus - *"vilīnapadamaḥ prapattuṣāro hemantakālaḥ samupāgato'yam"*[3]

Nilotpala- *"nīlotpala-praphullanīlotpalaśobhitāni"*[4]

Priyaügu latā- *pākaü vrajanti himajātaśītaiḥrādhūyamānā satataü marudbhiḥ prabhūta śāliprasavaiścitāni.*[5]

Agriculature of shali or *dhāna* or rice - *prabhūta śāliprasavaiścitāni*[6]

5. Later winter (śiśira ṛtu):

This season is held in *tapaḥ tapasya*[7] or *māgha-phālguna* which is known as January February in English calendar.

5.1 Climatic condition:

This season has very low temperature that's why according to poet nature is sleeping-*varorukālaü śiśirāhvayaü śrṛṇu*[8]"

Flowing ice-cold wind with high humidity - *vāyavaḥ sāndratuṣāra śītalā*[9]

Cooled night - *"tuṣarasaüghatanipātaśītalā janasya sevyā na bhavanti rātrayaḥ*[10]"

---

1. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.8
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.18
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.1
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.9
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.10.
6. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 4.8.
7. śathapatha brāhmaṇa, 1.7.2, edi. Vebar, Choukhambha Publishing house, New Delhi, 1964.
8. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986, pp21.
9. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.3.
10. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.4.

high density fog- *vipāṇḍutāragaṇacārūbhūṣaṇā*[1]

5.2 Biodiversity:

Only one bird is described here- krounca- *"kauüca - kvacitasthitā krauücaninādarājitānī*[2].

5.3 Natural vegetation:

Agriculture of sugarcane and rice- earth surface is covered with cluster of grown up rice and sugarcane- *prarūḍhaśālīkṣ ucayāvṛtakṣitam*[3].

Other vegetation are *malati*[4], *pakanjavana*[5], *śeṣālikā*[6], *śyāmakāmakelikā*[7], *kovidāra*[8].

5.4 Effect on humankind:

Sexual mentality of human- *prakāmakāmaü,*[9] *manohara kāmaratiprabodham.*[10]

Ladies likes dressing and make up with perfuming things -

agurasurabhidhūpāmoditaü keśapāśaü
galitakusumamālaü tanvatī kuücitāgrama.[11]

People eating sweets of sugar and gud- *pracuraguḍavikāraḥ svāduśālīkṣuramyaḥ*[12]

In the cold night human putting fat clothes and living in closed room-

niruddhavātāyana mandirodaram[13]

---

1. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.4.
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.1.
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.1.
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.2.
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.10
6. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.6.
7. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.18.
8. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.14
9. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.1
10. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.10
11. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.12
12. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.16
13. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 5.2

6. Spring season (vasanta Rtu):

This season is held in Vedic month *madhu mādhava*[1] or *caitra vaiśākh* a which is known as march-April. The spring is called *ṛturāja* or the king of seasons.

6.1 Climatic condition:

Medium temperature- In vasant sun is lighting straight at equator so in this season India has no more cold or hot or has medium temperature.

Forest and high humidity wind- *īṣattuṣaraiḥ kṛtaśītaharmyaiḥ*[2]

nihārapāta vigamātsubhagai[3]

Malaya *samīra* is the most popular wind of *vasanta* which comes from *malayācala* mountain now in udisa - *mattebho malayānitaḥ parabhṛtā*[4]

6.2 Natural vegetation:

Spring is called as kusumamas or season of flowers - *drumāḥ sapuṣpā diśantu va puṣpāgamo maügalam*[5].

Very popular tree of this season is *āmra* or mango *kusumitā sahakāra śākhā*[6]

karṇikāraḥ which is a garment of ear of ladies which is called *kanakacapa* in hindi language *karṇeṣu yogyaü navakarṇikāraḥ*[7]

Aśoka tree which is national tree of india *"kurvantya-śokahṛdayaü saśokam*[8]

Other vegetation are *kurbak, campak flower, atimuktalata.*

6.3 Biodiversity:

Two animal are specially described in this season *bhramar or*

---

1. śathapatha brāhmaṇa,1.7.2, edi. Vebar, Choukhambha Publishing house, New Delhi 1964.
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986, pp21..
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.24
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.28
5. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.36.
6. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.24.
7. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.6.
8. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.18

kokila-madhuniṣekālabdha gandhaḥ prabandhaḥ kokilālāparamyaḥ[1].

6.4 Effect on mankind:

All people are gladdened by the sight of mountains whose sites are decked with numerous beautiful flowering plants, the regions of whose summits are full of the notes of delighted cuckoos, (and) the surfaces of whose numerous rocks are covered with thick

śaileyejālapariṇaddhaśilā talaughā
ndṛṣṭvā janaḥ kṣitibhṛto mudameti sarvaḥ.[2]

Whomen whose hearts are anger with passion - *mattaḥ priyāü cumbati rāgadṛṣṭaḥ.*[3]

People bodies languid through the intoxication of love -

aügānio nidrālasa vibhramāṇi,
vākyāni kiücita madālalasāni
bhrakopajihmāni ca vikṣitāni,
prakāmakāmaḥ pramadājanānām.[4]

Conclusion :

The *ṛtusaühāra* is a scientific model of Indian climatology which consist information about all climatic factor like temperature, humidity, winds, raining and their effect on human kind. This natural account is sketch a picture of India as playground of nature and agriculture land. From the above detailed discussion, some light is thrown on the awareness of our ancient seers about the environment, and its constituents. It is clear that the Indian vision to live in harmony with environment was not merely physical but was far wider and much. Policy development, business, financial and even personal decisions are made every day around the world but most important thing is friendly frequency between man and environment which is great massage of *ṛtusaühāra*. Before concluding it should be stated to that natural dissuasion under climatology through *ṛtusaühāra* is relavent even now.

---

1. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.37
2. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.25
3. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.13
4. M.R Kale, ***ṛtusaühāra***, 6.11

References:

1. Edi. Vebar , ***Atharvavaeda - prātiśākhya***,12.1, Hoshiyarapura, Vishveshavarananda Shodh Samsthana 1967.
2. Edi. Vebar, ***śathapatha brāhmaṇa***,1.7.2, New Delhi, Choukhambha Publishing house, 1964.
3. M.R Kale, ***ṝtusaühāra***, 1.1, New Delhi, Motilal banarasidas, 1986.
4. Brahmananada, Tripathi, ***Ṛtusaühāra***, New Delhi, Choukhambha Publishing house, 1987.
5. Suresh Chandra, Banerjee, **flora & fauna in Sankrit literature**, Calcutta 1986.
6. E., Fedrov, **Man & Nature**, London, The Ecological Crisis and social progress 1987.
7. walter, Ruben, **kalidasa, Human Meaning Of His Work**, New Delhi, People Pub. House, 1984.
8. B. J., Mason, Cloud, **Rain and Rain Making,** London, Cambridge University Press, 1962.
9. A., B., Keith, **History of Sanskrit literature**, London, oxford University press,1920.
10. Krishna Chandra , Roychowdhury, **Kalidasa's Imagery in the Meghaduta**, University of Burdwan, 1991.
11. Pandit, Ranjit Sitaram, ***Ṛtusaühāra***, New Delhi, National Information & Publications, 1947

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

आलङ्कारिकाणां दृष्ट्या अन्योक्ति-अलङ्कारः

-देवस्मिता वारिक

शोधच्छात्रा, पण्डिचेरी केन्द्रीयविश्वविद्यालयः,
पुडुचेरी

[शोधलेखेऽस्मिन् पण्डितराजजगन्नाथस्य भामिनीविलासे तथा रुद्रटस्य काव्यालङ्कारे च ग्रन्थे निरूपितस्य अन्योक्ति-अलङ्कारस्य स्वरूपं वैशिष्ट्यं च प्रतिपादितम्।]

सारांशः

संस्कृतभाषायाः अलङ्कारशास्त्रस्येतिहासः गुरुतमः। संस्कृतसाहित्ये अलङ्कारतत्त्वं अनिवार्यमिति धिया पण्डिताः रसध्वन्यादिविषयेषु अधिकं लग्नाः भवन्ति। किन्तु कवेः कल्पनायाः उच्चता तत्प्रयुक्तानाम् अलङ्काराणां विश्लेषणेन ज्ञायते। कल्पनां त्यक्त्वा कवित्वं प्रतिष्ठितं न भवति। कल्पनां त्यक्त्वा कविकल्पनायाः पल्लवनं न भवति। न कस्या अपि भाषायाः अलङ्कारसाहित्यमद्यापि तज्जेतुं पारयति। भाषायां व्युत्पत्तिविवर्धनाय यथा व्याकरणशास्त्रमपेक्षते तथैव काव्ये नैपुण्यायालङ्कारशास्त्रमपि। अलङ्कारशास्त्रं विना केवलं काव्ये नैपुण्यमेव न सम्पद्यतेऽपितु वाक्यदोषदृष्टिरपि नोत्पद्यते। साहित्यशास्त्रे षट्सम्प्रदायाः वर्तन्ते। यथा–1. रससम्प्रदायः 2. अलङ्कारसम्प्रदायः 3. रीतिसम्प्रदायः 4. वक्रोक्तिसम्प्रदायः 5. ध्वनिसम्प्रदायः 6. औचित्यसम्प्रदायः इति। साहित्यशास्त्रे विद्यमानेषु प्रसिद्धेषु षट्सम्प्रदायेषु द्वितीयस्थानं भजते **अलङ्कारसम्प्रदायः।** यस्य प्रवर्तकः भामहाचार्यः। अलङ्कारनिबन्धकर्त्तारः प्राचीना अर्वानीनाश्चाचार्याः बहवो हि सञ्जाताः। अतः अलङ्काराणां तात्त्विकम् अनुशीलनं कतिपयैः आलङ्कारिकैः विहितमस्ति। तेषु भरत–दण्डी–रुय्यक–वामन–रुद्रट–आनन्द–वर्धनाचार्य–मम्मट–जयदेव–विश्वनाथ–पण्डितराजजगन्नाथ–अप्पयदीक्षितप्रभृतयः प्रायशः केचन प्रसिद्धाः। तेषु रुद्रटः तस्य ग्रन्थः काव्यालङ्कारे अन्योक्ति-अलङ्कारस्य प्रयोगः अत्युत्तमरूपेण कृतं। परन्तु मम्मट–रुय्यक–भरत–भामह–अप्पय्यदीक्षितः तथा पण्डितराजगन्नाथप्रभृतयः आचार्यः 'अन्योक्तिः' इति न स्वीकृताः। पण्डितराजजगन्नाथस्य मतेन एतत् तु अप्रस्तुतप्रशंसा एव। पण्डितरजजगन्नाथेन कृते। भामिनीविलासस्य प्रस्ताविकविलासेऽपि अन्योक्तयः प्रस्तुताः। अतः भामिनीविलासस्य प्रथमविलासः

प्रस्ताविकविलासः इति स्मृतः न तु अन्योक्तिविलासः। सः तस्य अन्यतमकृतौ रसगङ्गाधरे अप्रस्तुतप्रशंसायाः उल्लेखं कृतवान्। अतः अहं अस्मिन् पत्रे रुद्रटपण्डितराजजगन्नाथयोः मतेन अन्योक्ति-अलङ्कारस्य वैशिष्ट्यम् स्वरूपम् च दर्शयितुं इच्छामि इति।

मुख्यशब्दः—अलङ्कारशास्त्रम्, साहित्यशास्त्रम्, अलङ्कारः, अन्योक्ति-अलङ्कारः, अप्रस्तुतप्रशंसा, वैशिष्ट्यम्, स्वरूपम्, काव्यं, उदाहरणम्, पण्डितराजजगन्नाथः, रुद्रटः।

प्रस्तावना—

शोधकार्यं समाजस्य काठिन्यं दूरीकरोति, नूतनतथ्यमुत्पाद्य व्यावहारिकं आनयति। अतः शोधकार्यं सर्वदैव समस्यावहुलस्य साधनम्। शोधकार्यं विना नवनववस्तूनाम् उद्भावः नैव दृश्यते। भौतिकजगतः दृश्यमानं काव्यजातं सर्वं शोधकार्येण परिपूरितं भवति। पण्डितराजजगन्नाथः महापण्डितः आसीत्। तस्य काव्ये अलंकारशास्त्रस्य चर्चा तथा प्रतिपादनेन सः सिद्धहस्तः। सः पाण्डित्येन अलंकारशास्त्रस्य परिष्करणं कृत्वा तस्य कार्यं उत्तमरूपेण प्रतिपादयति। अलंकारो नाम सौन्दर्यम्। संस्कृतसाहित्ये अलंकारस्य स्थानं तु सर्वाग्रे वर्तते। यथा कटक-कुण्डल-हारादिभिः आभूषणैः कामिन्याः सौन्दर्यवृद्धिः भवति। तथैव अनुप्रासोपमादिभिः अलङ्कारैः कविताकामिन्याः शोभावर्धनं क्रियते। आचार्यमम्मटेनापि उक्तम्—

"उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः"॥ इति॥[1]

प्रस्तावितशोधकार्यम्—

अतएव मम शोधप्रबन्धमाध्यमेन जनानाम् मङ्गलाय इदं भामिनीविलासस्योपरि अप्रस्तुतप्रशंसा तथा रुद्रटस्य काव्यालङ्कारग्रन्थे अन्योक्तिअलंकारयोः मध्ये भेदः, महत्वम्, वैशिष्ट्यम् च दर्शयितुं प्रयत्नं करोमि।

उपक्रमः—

आचार्यभामहमते क्वचित् कामिनी सुन्दरी सती आभूषणं विना न शोभते। तथैव सरसकाव्यानामपि शोभा आभूषणरहितेन अनुप्रासोपमादिनामालङ्काराणामभावे न शोभते। अलङ्कारः इति शब्दः अलम् इत्यनेन कृ धातोः घञ् इति प्रत्ययेन निष्पत्तिः जायते। अलङ्कारशब्दः करणार्थे भावार्थे च प्रयुज्यते। अलङ्क्रियते इति

---

1. काव्यप्रकाशः, अष्टमोल्लासः, श्लोकः 67॥

अलङ्कारः इत्यनेन करणव्युत्पत्या अलङ्कारशब्देन अनुप्रासादयः शब्दालङ्काराः तथा च उपमादयो अर्थालङ्काराणां ग्रहणं क्रियते। पुनश्च अलङ्करोति इति अलङ्कारशब्देन कटककुण्डलादीनाम् आभूषणानां ग्रहणं कर्तुं शक्यते। काव्यप्रकाशकारः मम्मटोऽपि काव्यस्य लक्षणप्रसङ्गे कथयति-

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"।[1]

अर्थात् ये शब्दार्थयुक्ताः भवन्ति, परन्तु दोषरहिताः इति। तथा माधुर्य-ओज-प्रसादादि-गुणैः युक्ताः ते काव्यपदवाच्याः भवन्ति। ते अलंकारसहिताः भवितुम् शक्यन्ते। अलंकाररहिता अपि भवितम् शक्यन्ते-अनलंकृती पुनः क्वापि इत्यर्थः। एवं कथनेन आचार्यमम्मटस्य तात्पर्यं भवति यत्, अत्र रसस्य प्रधानता भवेत्। न अलंकारस्य प्रधानता तेन उक्तम्। अलंकारस्य स्पष्टं करणाऽभावात् काव्यस्वरूपे हानिः न भवति। परन्तु काव्यादर्शः तथा चन्द्रालोकादि अनेकग्रन्थाः अलंकारस्य प्रधानतां वदन्ति। तेषु चन्द्रालोककारजयदेवः काव्यप्रकाशस्य काव्यलक्षणं खण्डनं करोति यथा-

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृताः।
अग्नौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृताः"॥[2]

यथा अग्निः शीतलं भवितुं न शक्यम्। तथा काव्यं अलंकारशून्यं न भवितुम् शक्यते। अर्थात् काव्यं सर्वदा अलंकारयुक्तं भवेत्।

रुद्रटस्य काव्यालङ्कारे अन्योक्ति-अलङ्कारः-

भरत-भामह-मम्मट-रुय्यक-अप्पय्यदीक्षितः तथा पण्डितराजगन्नाथप्रभृतयः आचार्याः 'अन्योक्तिः' इति न स्वीकृताः। तेषां मते एतत् तु अप्रस्तुतप्रशंसा एव। पण्डितराजगन्नाथकृत भामिनीविलासस्य प्रस्ताविकविलासेऽपि अन्यक्तयः प्रस्तुताः। अतः भामिनीविलासस्य प्रथमविलासः प्रस्ताविकविलासः इति स्मृतः न तु अन्योक्तिविलासः। रुद्रटः स्वयं काव्यालङ्कारग्रन्थे 'अन्योक्तिः' इति पदं उल्लिखितवान्। रुद्रटेन मतेन अन्योक्तेः लक्षणं-

"असमानविशेषेणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः"।[3]

असमानेति। यत्रासाधारणविशेषणमप्युपमेयमुपमानेनोक्तेन परं केवलं गम्यते

---

1. काव्यप्रकाशः, प्रथमोल्लासः, श्लोकः 1
2. जयदेवस्य 'चन्द्रालोकः'
3. काव्यालङ्कारः, अष्टमोध्यायः, श्लोकः 74

प्रतीयते सेत्युक्तेन प्रकारेणान्योक्तिर्भवति, तर्हि भवितुम् शक्यते ननु यद्यसमानविशेषणं तत्कथं तेन गम्यत इत्याह-समानेतिवृत्तमिति। समानं सदृशमितिवृत्तशरीरं यस्य तत्थोक्तम्। यतः उपमानतुल्यव्यवहारमुपमेयमतस्तेन गम्यते इत्यर्थः। अपिशब्दात्किञ्चित्समानविशेषणत्वेऽपि क्वापि भवतीति सूच्यते इति।

"मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरम्।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि"॥[1]

मुक्त्वेति। अत्र हंसेनोपमानेनोक्तेन सज्जनः प्रतीयते। विशेषणानि चात्र सलीलहंसादीन्यसमानानि। नहि पुरुषः सरो मुक्त्वा पल्वलमभिलसति। इतिवृत्तं तु समानम्। यतस्तस्य शिष्टजनाधिष्ठितं स्थानं त्यजतः खलमन्यं चाश्रयतस्ततुल्य उपालम्भ इति।

पण्डितराजजगन्नाथस्य रसङ्गाधरे अप्रस्तुतप्रशंसायाः प्रयोगः-

पण्डितराजजगन्नाथस्य रसगङ्गाधरे अप्रस्तुतप्रशंसायाः लक्षणं वर्तते।

अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुत-व्यवहारो यत्र प्रशंस्यते साऽप्रस्तुततप्रशंसा। इयं च पञ्चधा विभज्यते यथा-

1. अप्रस्तुतेन स्वसदृशं प्रस्तुतं गम्यते यस्यामित्येका।
2. कार्येण कारणमित्यपरा।
3. कारणेन कार्यमिति तृतीया।
4. सामान्येन विशेष इति चतुर्थी।
5. विशेषेण सामान्यमिति पञ्चमी।

आद्या यत्र अप्रस्तुतेन स्वसदृशं प्रस्तुतस्य अभिव्यक्तिः भवति, तत्र तु प्रथमप्रकारः अप्रस्तुतप्रशंसा। यथा-

"दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः।
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः"।[2]

दानजलम्लानकपोलस्थलयुक्ताः गजाः दिगन्ते श्रूयन्ते। करिण्याः कारुण्यास्पदम् सन्ति। मृगाः खलु असमशीलाः सन्ति। पुनः इदानीं, अयं मृगपतिः अस्मिन्लोके अनुपमशिखानां नखानां पाण्डित्यं कस्मिन् प्रकटयतु इत्यर्थः।

---

1. काव्यालङ्कारः, अष्टमोध्यायः, श्लोकः 74
2. रसगङ्गाधरः द्वितीयमाननम्।

अप्रस्तुतप्रशंसायाः द्वितीयप्रकारमुदाहर्तुमाह–**'कार्येण कारणं गम्यं यथा'–**

"किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन्धारामण्डल
क्रीडाकुण्डलितभ्रू शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।"
नानाभूषणरत्नजालजटिलास्तत्कालमेवाभवन्
विन्ध्यक्ष्माधर गन्धमादनगुहासंबन्धिनो भूरुहाः"।[1]

हे धरामण्डल पृथिवीन्द्र! अरुणलोचने अनेनामर्षोदयो व्यज्यते, यस्मिन्, त्वयि क्रीडया कुण्डलिते भ्रुवौ यस्मिन् तद्यथा स्यात्तथा दोर्मण्डलम् निजबाहुयुगलं, अवलोकयति सति, ततकालमेव विन्ध्यक्ष्माधरस्य गन्धमादनस्य तन्नाम्नो गिरेश्च या कन्दराः वर्तन्ते। तत्संबन्धिनस्तत्र वर्तमानाः भूरुहाः वृक्षाः, नानाविधानां भूषणानां, रत्नानाञ्च, जालेन समूहेन जटिला व्याप्ताः। अस्माभिस्तव वीरता वर्णयितुमशक्येति यावत्। इति श्लोके विन्ध्यारण्यतरूणां भूषितत्वरूपेण कार्येण शत्रुपलायनात्मकं कारणं पत्याय्यत इति भावः।

अप्रस्तुतप्रशंसायाः तृतीयप्रकारमुदाहर्तुमाह–

'कारणेन कार्यं गम्यं यथा'–

"सृष्टः सृष्टिकृता पुरा किल परित्रीतुं जगन्मण्डलं
त्वं चण्डातप निर्दयं दहसि यज्ज्वालाजटालः करैः।
संरम्भारुणलोचनो रणभुवि प्रश्थातुकामोऽधुना
जानीमो भवता न हन्त विदितो दिल्लीधरावल्लभः"।।[2]

हे चण्डातप! पूर्वस्मिन् काले निश्चयेन, जगन्मण्डलम् संसारचक्रं रक्षितुम् सृष्टिकृता ब्रह्मणा सृष्टः जनितः त्वम् निर्दयम् ज्वालाजटालैः ज्वालाकुलैः किरणैः दहसि। तस्मात् वयम् जानीमः यत् भवता सूर्येण कोपावेगरक्तनयनः तथा अधुना रणभूमौ गन्तुमिच्छुः दिल्लीधरावल्लभः न ज्ञातम्। हन्त! खेदकरमेतदित्यर्थः।

अप्रस्तुतप्रशंसायाः चतुर्थप्रकारमुदाहर्तुमाह–**'सामान्येन विशेषो यथा'।**

"कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कः।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति"।[3]

अत्र सामान्यार्थेन प्रस्तुतो विशेषो गम्यते। उपमाप्यस्या आनुगुप्येन स्थिता। संसारे सर्पसदृशः अधमः बुद्धिपूर्वकं संपादितम् महोपकारम् पयः इव निशङ्कः सन् पीत्वा, वैपरीत्येन नाशयितुं यतते इत्यर्थः।

---

1. रसगङ्गाधरः द्वितीयमाननम्।
2. रसगङ्गाधरः द्वितीयमाननम्।
3. रसगङ्गाधरः द्वितीयमाननम्।

अप्रस्तुतप्रशंसायाः पञ्चमप्रकारमुदाहर्तुमाह–**'विशेषेण सामान्यं यथा'–**

"पाण्डित्यं परिहृत्य यस्य हि कृते बन्दित्वमालम्बितं
दुष्प्राप्यं मनसापि यो गुरुतरैः क्लेशैः पदं प्रापितः।
रूढस्तत्र स चेन्निर्गीर्य सकलां पूर्वपकारावलीं
दृष्टः प्रत्यवतिष्ठते तदधुना कस्मै किमाचक्ष्महे"।[1]

अत्र दुष्टेषु कृत उपकारः परिणामे न सुखं जनयतीति प्रस्तुतं विशेषेण सामान्यं गम्यते। इत्यस्मिन् श्लोके यत्पदनिर्दिष्टस्य कस्यचिदेकस्य पुरुषस्य दुष्टतापूर्णमाचरणं वर्ण्यमानं विशेषरूपमप्रस्तुतम्। ततः अवगम्यमानः 'दुष्टेषु कृत उपकारः परिणामे सुखं न जनयति' इत्याकारकोऽर्थः प्रस्तुतः सामान्यरूप इति विशेषव्यक्तसामान्याश्रिताप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्योदाहरणं पद्यमेतत्सम्पद्यते।

उपसंहारः-

इत्थं अन्योक्ति-अलङ्कारः तथा अप्रस्तुतप्रशंसायाः मध्ये प्रभेदः वर्तते येन, काव्ये शिल्पत्वस्यातिशयता भवति। अर्थात् कविसहृदययोः तार्किकशक्तेः विकाशः जायते। तर्कविद्याबलेन भावयित्री कारयित्री च उभयोः प्रतिभयोः वर्णनाबोधनचातुर्यं तथा संस्कृतकाव्यलेखनपरम्परायामैश्यर्यस्वरूपं वैशिष्ट्यम् च प्रतिपादयति। अन्योक्तिः अलंकारः कवेः पाण्डित्यं, सहृदयस्य सहृदयत्वं च प्रमाणीकरोति। अतः निष्कर्षरूपेण वदितुम् शक्यते यत् अन्योक्ति-अलंकारः कवि-सहृदययोः कृते विद्वतौषधम् एव।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची–

1. 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्, आचार्यशेषराजशर्मा रेग्मीप्रणीतं साहित्यदर्पणम्, चौखम्बा कृष्णदास आकादमी वाराणसी।
2. पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः रसगङ्गाधरः चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
3. कविवरश्रीरुद्रटप्रणीतः काव्यालङ्कारः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
4. पं. रघुनाथप्रसादः चतुर्वेदीप्रणीतः काव्यप्रकाशः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
5. अलंकारमञ्जरी संस्कृतहिन्दीव्याख्याकारः पं. श्री जगन्नाथशास्त्री तैलङ्गः।
6. पण्डितराजजगन्नाथग्रन्थावली, चौखम्बा कृष्णदासी, वाराणसी।

✦✦✦

1. रसगङ्गाधरः द्वितीयमाननम्।

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

जीवैकत्वनानात्वविचारः

-डॉ. गणपति वि. हेगडे

सहायकाचार्यः, अद्वैतवेदान्तविभागः,
मुम्बादेवी आदर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः, भारतीयविद्याभवनं,
के.एम्. मुन्शी मार्गः, गिरगांव चौपाटी, मुम्बई

[जीवब्रह्मणोः ऐक्यम् आमनन्ति अद्वैतवेदान्तिनः। किन्तु व्यवहारे जीविनां नानात्वात् एकत्वम् उत अनेकत्वमिति सन्देहः जागर्ति। अस्मिन् लेखे जीवैकत्वम् उत नानात्वमिति विचारः विस्तरेण कृतो विद्यते।]

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

वेदान्ते प्रसिद्धेऽस्मिन् श्लोके **जीवो ब्रह्मैव नापरः** इत्यत्र त्रयः पक्षाः आश्रिताः सन्ति। अविद्याकार्यान्तः करणं तत्र प्रतिबिम्बो जीवः इति पद्मपादाचार्यानुयायिनां प्रतिबिम्बवादः प्रथमः। अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः इति वाचस्पतिमिश्रानुयायिनाम् अवच्छेदवादः द्वितीयः। चैतन्याभासो जीवः इति सुरेश्वराचार्याणाम् आभासवादः तृतीयः। एतादृशजीवस्य नानात्वमेकत्वं च पक्षद्वयम्। अयमेव एकजीववादोऽनेकजीववादश्च उच्यते।

श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्रैः सिद्धान्तलेशसंग्रहे एकजीववादपरकतया त्रयः पक्षाः प्रोक्ताः। अत्र प्रथमे पक्षे अपरे तु इति आरब्धम्, अनन्तरम् अनुपदोक्तमेव मतानुयायिनः इत्युक्तम्। किन्तु अत्र अनेन एकजीववादिनः के इति स्पष्टं नाभवत्। दृष्टिसृष्टिवादिनः वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकाराः प्रकाशानन्दाचार्याः भवितुमर्हन्ति इति सम्भाव्यते। यतो हि जगदिदं स्वप्नतुल्यमित्यत्र एकजीववाद-दृष्टिसृष्टिवादयोः साम्यं दृश्यते।

ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वाविद्यया मुच्यते इति अविकृतस्यैव ब्रह्मणः आविद्यकः जीवभावः इति वदतां मते ब्रह्मणः एकत्वात् जीवस्यापि एकत्वम्। तदुक्तं ब्रह्मबिन्दूपनिषदि यथा-

एक एवाऽऽत्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥[1]

इत्यादि श्रुतेः एकमात्रजीवेन एकमात्रं शरीरं सजीवम्, अन्यानि शरीराणि तु जीवरहितानि। यद्यपि अस्मिन् मम देहे यथा प्राणस्पन्दनं सजीवत्वं च अनुभूयते तथापि तत् सर्वं स्वाप्नविषयवत् असत्यम् अलीकम्। स्वप्ने दृश्यमानाः सजीवाः सक्रियाश्च मनुष्यमूर्त्यादयः यथा द्रष्टुः मनः कल्पिताः, तथैव जाग्रदवस्थायां दृश्यमानः अयं प्रपञ्चः तदन्तर्गतजीवाश्च सर्वे द्रष्टुः अज्ञानकल्पिताः। यावदज्ञानं तिष्ठति तावदेव अज्ञानं प्रसूतम् इदं सर्वं सत्यत्वेन अनुभूयते। ज्ञानेन अज्ञाने विनष्टे तु इदं सर्वं तिरोभवति। सः एकः जीवः कः इति प्रश्ने यः द्रष्टा स एव जीवः, तस्माद् अन्यत् सर्वम् अलीकम्।

अहं द्रष्टा इति चेत् युष्मदादिकं सर्वं मिथ्या, अहमेव जीवः। अस्मिन् मते जीवस्य एकत्वात् कश्चन जीवः बद्धः इति बद्धमुक्तावस्था अपि मिथ्या। तथैव अयं गुरुः, अयं शिष्यः, इत्यादयः द्वैतमूलकाः सर्वे भावाः कल्पनाप्रसूताः। अस्मिन् पक्षे इतोऽपि अस्वारस्य द्वयं वर्तते। द्वितीयस्य जीवस्याभावात् कः ब्रह्मविद्यामुपदिशति? कः तावदत्र उपास्येत? इति। अपि च अन्यस्य ईश्वराभावात् स्वस्य स्वयमेव शिक्षां ददातीति प्रसंङ्गः। अत्र समाधानम् एकजीववादिभिरुच्यते यथा मनःकल्पितगुरुशिष्यभावः यथा वा देवता विशेषः उपास्यते तथैव जागरणेऽपि एते सर्वे मनसा कल्प्यन्ते। स्वाप्नविषयवत् जाग्रत् विषयाणामपि अविद्याकल्पितत्वात् इति प्रथमः पक्षः।

केषाञ्चित् एकजीववादिनां मते केवलं हिरण्यगर्भ एव मुख्यः जीवः, अन्ये च सर्वे जीवाः हिरण्यगर्भस्य प्रतिबिम्बभूताः जीवाभासाश्च। हिरण्यगर्भश्च ब्रह्मणः प्रतिबिम्बस्वरूपः इति। इदं मतं सविशेषानेकशरीरवादः अथवा मुख्यैकजीववादः इत्युच्यते।

केषाञ्चित् मते कल्पभेदेन हिरण्यगर्भस्यापि भेदात् कः मुख्यजीवः हिरण्यगर्भः इति निर्णयाभावात् च एक एव जीवः अविशेषेण सर्वेषु शरीरेषु अधितिष्ठति, स च जीवः ईदृशः इति निर्देष्टुं न शक्यते इत्युच्यते। अयं वादः अविशेषैकजीववादः इत्युच्यते। एवं मतत्रयं सिद्धान्तलेशसंग्रहे एकजीववादम् उररीकृत्य उक्तम्।

यद्यपि श्रुतिसम्मतः एकजीववादः समीचीनः सर्वैः आदरणीयः तथापि बद्धमुक्तव्यवस्था नानुपपन्ना भवतीति अस्वारस्यम् अनेकजीववादिभिः प्रत्याक्षिप्तम्।

---

1. ब्रह्मबिन्दूपनिषद् –11,12

सांख्यादिभिरपि पुरुषबहुत्वं साधितम्। किन्तु सर्वज्ञात्ममुनिभिः एकजीववादमनुसृत्यापि बद्धमुक्तावस्था प्रतिपादिता। यथा- अविद्यायां प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः। अविद्यायाः एकत्वात् जीवस्यापि एकत्वम्। तस्य जीवस्य अभिव्यक्तिस्थानम् अन्तःकरणम्। तच्चान्तःकरणम् अविद्यायां कल्पितम्, देहभेदेन भिन्नम्। तथा च अन्तःकरणभेदेन बद्धमुकावस्था अपि उपपन्ना भवतीति सर्वज्ञात्ममुनीनां सिद्धान्तः।

श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्रैः स्वग्रन्थे एकजीववादं निरूप्य अनेकजीववादस्य पञ्च पक्षाः निरूपिताः सन्ति। अनेकजीववादिभिः बद्धमुक्तव्यवस्थायाः उपपादनार्थम् अनेकजीववादः आश्रितः वर्तते। जीवानां परस्परभेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् जीवभेदप्रतिपादनार्थम् अन्तःकरणमेव उपाधित्वेन ग्रहणीयं, न अविद्या इति अनेकजीववादिनां मतम्। पुनरपि अत्राशङ्का अज्ञानस्य अविद्यायाः वा एकत्वे, अन्तःकरणस्य नानात्वेऽपि बद्धमुक्तव्यवस्था न उपपद्यते। यतो हि एकस्याः अविद्यायाः नाशे सर्वेषां मुक्तिप्रसङ्गः तादवस्थ्यमेव तिष्ठतीति अनेकजीववादः आरब्धः। **तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्**[1] इत्यादिश्रुतेः **प्रतिषेधादिति शारीरात्**[2] सूत्रेण च ब्रह्मसूत्रभाष्यप्रतिपादितः शुकमुक्तत्वादिप्रसङ्गः अनुपपन्नः इति मत्वा अन्तःकरणोपाधिमाश्रित्य अनेकजीववादः इति प्रथमं मतम्।

शुद्धं ब्रह्म अज्ञानस्य आश्रयं विषयञ्चेति वादिनः विवरणानुयायिनः बद्धमुक्तव्यवस्थाम् एवमुपपादयन्ति। यथा जीवन्मुक्तौ अज्ञानस्यांशाः अनुवर्तन्ते तथैव क्वचिदुपाधौ अन्तःकरणे ब्रह्मज्ञानानन्तरं निवर्तते। उपाध्यन्तरेषु एकस्यैव अज्ञानस्य अंशान्तरैः जीवः अनुवर्तते इति द्वितीयः पक्षः। अज्ञानसंसर्गः एव बन्धः। अज्ञानासंसर्गः मोक्षः इति तृतीयः पक्षः। भामतीप्रस्थानानुयायिनां चतुर्थः पक्षः यथा-अज्ञानं शुद्धचैतन्यमाश्रित्य न तिष्ठति। किन्तु जीवाश्रयम् अज्ञानं ब्रह्मविषयञ्च। यथा नष्टां व्यक्तिं जातिः जहाति तथैव अज्ञानम् उत्पन्नविद्यं किञ्चित् जहाति, अन्यान् यथापूर्वम् आश्रयति इति।

पञ्चमे पक्षे प्रतिजीवम् अविद्या भेदः अङ्गीक्रियते। अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः इत्युक्तरीत्या अविद्यायाः अनुवृत्तिनिवृत्तिभ्यां बद्धमुक्तव्यवस्था निरूप्यते। एवम् अनेकजीववादः सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे प्रोक्तः वर्तते। अत्रेदमवगन्तव्यम् एकजीववादो वा अनेकजीववादो वा नास्त्यत्र विप्रतिपत्तिः। उत्तमाधिकारिणां कृते प्रौढवादः एकजीववादः। अन्येषां तु अनेकजीववादः इति।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषत् 1-4-10
2. ब्रह्मसूत्रम् 4-2-12

परिशीलितग्रन्थाः-

1. ब्रह्मसूत्रम् (शाङ्करभाष्योपेतम्) - मोतिलाल बनारसीदास पब्लिशन् दिल्ली, 1998।
2. भगवद्गीता - गोरखपुर प्रेस।
3. वेदान्तपरिभाषा - प्रो. पारसनाथद्विवेदी, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वारणसी 2000।
4. उपनिषत् सन्देश - रामकृष्णाश्रम प्रकाशनम्।
5. उपनिषद्भाष्यम् -1,2,3 - श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्याः, श्रीदक्षिणामूर्तिमठ-प्रकाशन वारणासी, 2004
6. अद्वैतसिद्धिः - श्रीमधुसूदनसरस्वती, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान, वारणसी 1965।
7. वेदान्तसारः - श्रीसदानन्दः, चौखम्बा कृष्णदास अकाडमी वारणासी, 2002।
8. सिद्धान्तलेशसंग्रहः - श्रीमदप्पय्यदीक्षितः, चौखम्बा कृष्णदास अकाडमी वारणासी, 2002।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

प्रहेलिकाऽलङ्कारस्य समीक्षणम्

-डॉ. फिरोज़

सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः,
कला-सङ्कायः, का.हि.वि., वाराणसी

[काव्येषु अलङ्काराणाम् अधिकं प्रामुख्यं विद्यते। विनालङ्कारं काव्यं न शोभते। अस्मिन् शोधलेखे प्रहेलिकालङ्कारस्य किं स्वरूपं, लक्षणं, च सूपत् निरूपितम् अस्ति।]

अलङ्करोति इति अलङ्कारः अथवा अलङ्क्रियते अनेन इति। उभयथा अलङ्करणसाधनम् अलङ्कार अभीष्यते। **"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"**[1] इत्युक्तवा भामहेन अलङ्कारस्य काव्ये कियन्महत्त्वं वर्तत इति स्पष्टीकृतम्। अर्थात् गुणगौरवसम्पन्नापि स्त्री यथा अलङ्कारैः एव शोभते, न तथा अलङ्काररहिता। एवं शब्दार्थयोः सौन्दर्याधायकं तत्त्वं वर्तते अलङ्कारः। न केवलं सौन्दर्यमेव वर्धयति अलङ्कारः शब्दार्थयोः, अपितु चमत्कारमपि आदधाति। चमत्कारश्च सः उपमाऽति-शयोक्तिवक्रोक्त्यनुप्रासादिभिः अलङ्कारैः द्योतते।

अलङ्कारः काव्यात्मरूपेण यद्यपि महत्त्वं न याति, तथापि शब्दार्थशरीरस्य बाह्यसौन्दर्यवर्धनेन सह रसादीनपि पुष्टं करोति। यथा शरीरे वस्त्रादीनाम् अलङ्काराणां महत्त्वं तथैव अलङ्कारस्य महत्त्वं काव्ये भवति। यथा नैव शोभां गच्छति मानवः वस्त्रं विना, अलङ्कारच्युता वनिता यथा न शोभामेति,अलङ्काररहितं काव्यं तथैव न शोभते। यथा अग्निपुराणे-

अलङ्काररहिता विधवैव सरस्वती।[2]

आलङ्कारिकाः अलङ्कारस्य लक्षणं यथा प्रदत्तम्-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥[3] -इति मम्मटः

---

1. भामहकृद् काव्यालङ्कारः-1.21
2. अग्निपुराण्म्-343.12
3. का.प्र.-8.67

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।।[1] –इति विश्वनाथः

अस्याभिप्रयोऽयं वर्तते यदलङ्काराः अङ्गदादिवत् शब्दार्थयोः शोभावर्धकाः, रसादीनां च उपकर्तारः सन्ति। प्रसादादिगुणवत् अलङ्काराः परिहार्याः। अतस्ते अस्थिराः धर्माः कथ्यन्ते।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।।[2]

वामनो वक्ति– **"सौन्दर्यमलङ्कारः"**[3] इति काव्यशास्त्रगतं सर्वमपि सौन्दर्यम् अलङ्कारशब्देन गृह्यते। **"स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्"**[4] अर्थात् दोषाणां त्यागात् गुणानां च अलङ्काराणां च उपादानेन काव्ये सौन्दर्यरूपोऽलङ्कारो भवति।

अलङ्काराणां काव्ये स्थानविषये मतैक्यं नास्ति आलङ्कारिकाणाम्। रीतिवादिनोऽलङ्कारवादिनः च काव्ये अलङ्कारस्य स्थितिम् अनिवार्यरूपेण स्वीकुर्वन्ति। यथा–

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।[5]

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।[6]

गुणाः काव्यशोभामुत्पादयन्ति। अलङ्कारास्तु काव्यशोभायां अतिशयसम्पादकाः भवन्ति। इत्थमलङ्काराणा महत्त्वं प्रतिपादयति वामनः।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[7]

इति काव्यलक्षणम् उक्तवा अस्य सूत्रस्य वृत्तौ **"अलङ्कृती पुनः क्वापि"**[8] इत्यनेन मम्मटः सूचयति यत् काव्ये अलङ्कारस्याभावेऽपि काव्यत्वहानिः न भवति।

अस्मिन् मम्मटस्य काव्यलक्षणे आक्षेपं कुर्वन् वक्ति–

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलं कृती।।[9]

---

1. सा.द.–10.1
2. काव्यादर्शः–2.1
3. काव्यलङ्कारसूत्राणि–1.2
4. काव्यलङ्कारसूत्राणि–1.3
5. काव्यलङ्कारसूत्राणि–3.1
6. काव्यलङ्कारसूत्राणि–3.2
7. का.प्र.–1.4
8. का.प्र.–1.4 वृत्तिभागः
9. चन्द्रालोकः–1.8

भावोऽयमस्ति यत् अलङ्कारविहीनस्य काव्यस्य कल्पना यदि क्रियते चेत्, उष्णत्वगुणहीनस्य अग्नेः कल्पना विधेया, किन्तु एवंविधा कल्पना हास्यस्पदा एव भवति।

यथा हारादीनां मनोहरः सन्निवेशः, तथैव प्रसिद्ध्या कवेः प्रौढिवशेन वा शब्दार्थयोः मनोहरः सन्निवेशः अलङ्कारो भवति इति जयदेवः कथयति। कारिका यथा–

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कविप्रौढिवशेन वा।
हारादिवदलङ्कारः स सन्निवेशः मनोहरः॥[1]

कस्यापि मानवस्य बुद्धेः परीक्षणाय कृतः प्रश्नः, कृतं वाक्यं वर्णनं वा प्रहलिका उच्यते, यस्यां कस्यचित् वस्तुनः लक्षणानि गुणान् वा भ्रामकत्वेन प्रस्तूयते अथ च तस्य वस्तुनः नाम्नः ज्ञानस्य अथवा बोधस्य प्रस्तावः विधीयते।

नानालङ्कारेषु प्रहेलिकाऽपि अलङ्कारत्वेन गण्यते।

प्रहेलिका आदिकालतः व्यक्तित्वस्य भागो वर्तते। केवलं मनोरञ्जनाय न अपितु बुद्धिवर्धनाय मस्तिष्कस्य व्यायामाय अपि वर्तते।

प्रहेलिकानां रचनाविषये प्राय एतद् दृश्यते यत् यस्य विषयस्य प्रहेलिका निर्मातव्या भवति, तदनुसारमेव रूपगुणकार्याणां वर्णनम् एवं कर्तव्यं येन अन्यविषयस्य वस्तुनः वा वर्णनं प्रतीयेत। अथ च बहुधा विचार्य तस्य वास्तविकविषयोपरि घटयितुं शक्येत।

प्रहेलिका बहुधा काव्यशैल्यां विलिख्यते, यस्मात् सा मधुरा प्रतीयते।

अस्याः परम्परा प्राचीनकालादेव प्रचलिता वर्तते। ऋग्वेदीयः अयं मन्त्रः प्रमाणभूतः। यथा–

चत्वारि शृङ्गाः, त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्ताः सोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश॥[2]

अर्थात् यस्य चत्वारि शृङ्गाणि, त्रयो पादाः, द्वे शीर्षे, सप्त हस्ताश्च वर्तन्ते यश्च त्रिधा बद्धः, स मानवेषु प्रविष्टो वृषभयज्ञः वर्तते, शब्दं कुर्वन् महादेवोऽस्ति।

अस्य गूढार्थोऽयं वर्तते यत् अयं वृषभः यस्य यत्वारि शृङ्गाणि चत्वारः वेदाः सन्ति। 'प्रातः- मध्याह्न-सायंकालाः' इति त्रयः कालाः त्रयः पादाः वर्तन्ते। उदयमस्तञ्च द्वे शीर्षे विद्येते। सप्तप्रकारकाणि गायत्र्युष्णिगादीनि छन्दांसि सप्त हस्ताः सन्ति।

---

1. चन्द्रलोकः-5.1
2. ऋग्वेदः-

अयं मन्त्रः ब्राह्मणेन कल्परूपी त्रिभिः बन्धनैः बद्धः मानवे प्रविष्टो वर्तते। अस्य पर्यायाः सन्ति- प्रवल्हिका, प्रवह्लि, प्रहेली, प्रश्नदूती इति।

अयं चित्रजात्याः शब्दालङ्कारो वर्तते या च्युताक्षरदत्ताक्षरच्युतदत्ताक्षराभेदैः युता यमकरञ्जिता उक्तिरस्ति। प्रहेलिकायाः स्वरूपं -'नानाधात्वगम्भीरायमकव्यपदेशिनी' इति वर्तते।

ऋग्वेदानुसारं प्रहेलिका जनतायाः विकासोन्मुखावस्थया सहैव विकसिता जाता।

महाभारतस्य अनवरतलेखने वेदव्यासः मध्ये मध्ये कूटवाक्यामनां प्रयोगं करोति स्म। तेषां वाक्यानां सम्यग्रूपेण ज्ञानेन विना गणेशाय लिपिबद्धस्य आज्ञा नासीत्। तदा विचारयितुम् अवगन्तुं च विश्रामं लभते स्म यथासमयम्।

दण्डी प्रहेलिकां क्रीडागोष्ठीं इति उक्तवान्। अन्याः पुरुषाः च व्यामोहनाय उपयोगी इति उक्तवन्तः। दण्डिना प्रहेलिकायाः षोडश भेदाः उल्लिखिताः-

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥[1]

एताः षोडशनिर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चुर्दशः॥

दोषानपरिसंख्येयान् मन्यमाना वयं पुनः।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणा॥[2]

1. समायता 2. वञ्चिता 3. व्युतक्रान्ता 4. प्रमुदिता 5. पुरुषा 6. सङ्ख्याता 7. कल्पिता 8. नामान्तरिता 9. निभृता 10. सम्मूढा 11. परिहारिका 12. एकच्छन्ना 13. उभयच्छन्ना 14. समानशब्दामूढा 15. समानरूपा 16. सङ्कीर्णा (काव्यादर्शः-3. 106)

अस्यालङ्कारस्य भोजेनेत्थं प्रतिपादितं लक्षणम्-

प्रश्न एवानुत्तर प्रहेलिका[3]

---

1. काव्यादर्शः-3.97
2. काव्यादर्शः-3.103/7
3. शृङ्गारप्रकाशः- दशमः प्रकाशः, पृ.-557, प्रथमो भागः, रेवाप्रसादो द्विवेदी, सदाशिवप्रसादो द्विवेदी इन्दिरागाँधीराष्ट्रियकलाकेन्द्रम्, नई दिल्ली, कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्- 2007

अर्थात् उत्तररहितः प्रश्न एव प्रहेलिका वर्तते इति शृङ्गारप्रकाशे उक्तम्। पुनः सरस्वतीकण्ठाभरणे यथा–

प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः सापि षोढा च्युताक्षरा।
दत्ताक्षरोभयं मुष्टिबिन्दुमत्यर्थवत्यपि।।[1]

प्रहेलिका सा वर्तते, यत्र सकृदेव प्रश्नः कृतः।

इयं प्रहेलिका क्रीडागोष्ठ्यां, मनोविनोदे, अथवा क्रीडागोष्ठ्यां मनोविनोदाय प्रहेलिकायाः ज्ञातृणां सभायां मन्त्रणायै, परेषां कृते ज्ञानं न भवति, तदर्थं प्रहेलिका उपयोगिनी भवति।

वस्तुतः प्रहेलिका काव्यदृष्ट्या महत्त्वं न एति, यतोहि एषा आवश्यकगुणैः हीना, विविधदोषैः च संवलिता भवति, तथापि विदग्धमण्डले यत्र वासनाविशेषेण संस्कारिताः जनाः भवन्ति, तत्र अस्याः दोषः समाप्तिं याति।

संयोगात् भोजेन निर्दिष्टाः प्रहेलिकाः शेषेषु चतुर्दशभेदेषु एव आयान्ति। सम्भवतः भोजेन केवलं कठिना एव उल्लेखयोग्याः महत्त्वपूर्णाः च स्वीकृताः, यतोहि सरलास्तु सरला एव। रुद्रटानुसारम्–

मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम्।।[2]

एषा षोढा भवति–

1. च्युताक्षरा 2. दत्ताक्षरा 3. च्युताक्षरादत्ताक्षरा 4. मुष्टि 5. बिन्दुमती 6. अर्थवती च्युताक्षरा यथा– (विहङ्गिका हारेण)

पयोधरभराक्रान्ता संनमन्ति पदे पदे।
पदमेकं न का याति यदि हारेण वर्जिता।।[3]

जलधारकेण घटभारेण आक्रान्ता प्रत्येकस्मिन् पदे नमन्तिसा का, या काहारेण वर्जिता भवति चेदेकमपि पदं तथैव न याति, यथा स्तनभारेण आक्रान्ता काचित् सुन्दरी प्रतिपदे नमन्ति, हारेण विना एकमपि पदं न याति। अत्र विहङ्गि काहारेण वर्जिता न याति इति वक्तव्यमासीत् किन्तु हारेण वर्जिता इत्युक्तम्। अत्र 'क' इति अक्षरं च्युतम्। तस्मादियं च्युताक्षरा प्रहेलिका वर्तते।

---

1. स.क.–2.133
2. रुद्रटकृद् काव्यलङ्कारः–5.24
3. स.क.–2.358

दत्तक्षरा यथा- (शबरः)

कान्तयानुगतः कोऽयं पीनस्कन्धो मदोद्धतः।
मृगाणां पृष्ठतो याति शम्बरः रूढयौवनः।[1]

प्रियया अनुयातः विस्तरस्कन्धयुतः मदमत्तः, नवयौवनेन पूर्णोऽयं शम्बरः कः यः मृगान् अनुसरति। इत्यर्थः।

अत्र 'शबरः' पदस्य 'शम्बरः' इत्यस्मिन् अनुस्वारः इति दत्तः। अतोऽत्र दत्ताक्षरा प्रहेलिकायाः भेदः।

च्युतदत्ताक्षरा यथा-

विदग्ध सरसो रागी नितम्बोपरि संस्थितः।
तन्वङ्ग्यालिङ्गितः कण्ठे कलं कूजति को विटः।।[2]

अत्यन्तः निपुणः, रसयुतः, प्रेमभावसम्पन्नः, नितम्बोपरि स्थितः, कृशाङ्ग्याः कण्ठेन गृहीतः कः धूर्तः अथवा विशेषतः मधुरमस्फुटं च ध्वनिं करोति, एतादृक् विटः कः? इत्यर्थः।

'विटः' इत्यत्र 'वि' इत्यस्य त्यागात् 'घ' इत्यस्य निवेशात् 'घटः कलं ध्वनिं करोति' इति अन्य एव अर्थो निःसरति। अतः अत्र 'घ' इत्यस्य निवेशात् 'वि' इत्यस्य च्युतत्वात् प्रहेलिकायाः च्युतदत्ताक्षराभेदो वर्तते।

श्लोकादेरक्षरव्यत्यासेन कथनमक्षरमुष्टिः।[3]

श्लोकादेः अक्षराणां वैपरीत्यात् कथनमेव अक्षरमुष्टिः। अक्षरमुष्ट्यां केचन एतादृशः वर्णाः भवन्ति येषां समुचितरीत्या निवेशात् सार्थकस्य श्लोकस्य निर्माणं कर्तुं शक्यते। यथा अक्षराणां मुष्टिः-

अतिः अतिः अन्म अलं प्रीद्य रद्य जद्य फद्य।
मेलामेला मेलं मेलं फसफसफसः।।[4]

---

1. स.क.-2.359
2. शृङ्गारप्रकाशः-दशमः प्रकाशः, पृ.-557, प्रथमो भागः, रेवाप्रसादो द्विवेदी, सदाशिवप्रसादो द्विवेदी इन्दिरागाँधीराष्ट्रियकलाकेन्द्रम्, नई दिल्ली, कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्- 2007
3. शृङ्गारप्रकाशः-दशमः प्रकाशः, पृ.-558, प्रथमो भागः, रेवाप्रसादो द्विवेदी, सदाशिवप्रसादो द्विवेदी इन्दिरागाँधीराष्ट्रियकलाकेन्द्रम्, नई दिल्ली, कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्- 2007
4. स.क.-2.361

अतीत्यादिभिः अक्षरैः एकस्य सार्थकश्लोकस्य निर्माणं विहितम्। यथा–

अद्य मे सफला प्रीतिरद्य मे सफला रतिः।
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं फलम्॥[1]

अनेन प्रथमेण अकारेण प्रथमेन द्यकारेण च सह अद्य इति, 'मेलम्'इत्यस्मात् मे इति, 'फसफसफस' इत्यतः 'सफ' तथा 'मेला' इत्यतः 'ला' इति गृहीत्वा 'सफला', 'प्रीद्य' अथ च 'अतिः' 'रद्य' इत्यतः 'प्रीतिरद्य' इति निर्मितम्। पुनः द्वितीयं 'मेलम्' इत्यतः 'मे' इति, 'फसफसफस' इत्यतः 'सफ' तथा 'मेला' इत्यतः 'ला' इति गृहीत्वा 'सफला', 'रद्य' 'अतिः' इत्यतः 'रतिः' इति, पुनः 'फसफसफस' 'सफ', 'मेलम्' इत्यततः लम् इति अतः सार्थकं पदं जातम्।

'जद्य' इत्यतः ज इति अन्म इत्यतः न्म इति अतः जन्म इति, पुनः मेलं इत्यतः मे इति। श्लोकस्य अर्थः वर्तते यत् अद्य मम प्रीतिः रतिश्च सफले जाते अथ च जीवनं फलं च सफलं जाते। **"यथास्थितस्वरानुस्वारविसर्गसंयोगस्योक्तार्थस्य च श्लोकादेः कादिवर्णस्थाने बिन्दुविनिवेशो बिन्दुमती।"**[2] अर्थात् यथाक्रमं स्थितैः स्वरानुस्वारविसर्गादिभिः संयुक्तः श्लोकादीनां कादिवर्णस्थाने बिन्दुनां सन्निवेशः बिन्दुमती उच्यते। यथा–

तवापवादः प्रत्यब्धि पताका प्रतिसङ्गरम्।
फलं प्रत्यद्भुतोपायं यशांसि न तु न क्वचित्॥[3]

भवतः शासनं प्रत्येकं सागरं यावत् वर्तते। प्रत्येकस्मिन् युद्धे भवत एव ध्वजा उपरि भवति। प्रत्येकेन अद्भूतोपायेन सह फलस्य प्राप्तिर्भवति। अथ च इदमपि नास्ति यत् भवतः यशांसि सर्वत्र नास्ति अपितु सर्वत्र भवतः कीर्तिः वर्तते।

उपर्युक्तश्लोकस्य कादिनां स्थाने बिन्दूनां निवेशः कृतः, अथ च स्वरानुस्वारदयः यथाक्रमम् एव सन्ति।

००।००।० :   ०००ि०००।०।०ि०००००

०

००००ु ो०।००। ि०००००ि्[4]

००

---

1. स.क.–2.362
2. शृङ्गारप्रकाशः
3. शृङ्गारप्रकाशः
4. शृङ्गारप्रकाशः

निर्भेदः-

ठुठठा ठुठठा ठाठा ठुंठुठे ठुंठुठे ठठा।
ठाठठे ठाठठे ठिंठिं ठंठंठिठठठिठीठठः॥

उदधावुदधावाज्ञा संयुगे संयुगे जयः।
साहसे साहसे सिद्धिः सर्वत्र तव कीर्त्तयः॥[1]

योऽर्थः पूर्वश्लोकस्य आसीत् सैवास्य वर्तते। केवलं वर्णपदेषु भिन्नत्वं वर्तते। द्वितीये श्लोके आगतानां अनुस्वारविसर्गस्वाराणाम्, स्थितिः यथावत् वर्तते। अत्र वर्णविन्यासे सुविधा भवति।

अर्थप्रहलिका यथा-

अर्थप्रहेलिकायां कानिचित् विशेषाणि एतादृशानि निवेशन्यते। येषां वास्तविक वस्तुना सहैव कस्यचित् अन्यविशेषेण सहापि अन्वयः भवति। अन्यैः सह अन्विते सति भ्रमोत्पद्यते। अर्थप्रहेलिकायां न तु अपेक्षितं वस्तु दीयते न च तत्र च्युतदत्ताक्षरावत् कश्चन रूपो भवति। अत्र अपेक्षितं वस्तु एव विचार्य अवगम्यते। अत्रापि सूचितम् पक्वाम्रफलस्य ज्ञानं द्वर्थकपदानां प्रयोगात् भवति। अतोऽत्र अर्थप्रहेलिका।

उत्तप्तकाञ्चनच्छायं संदष्टदशनच्छदम्।
सरसं चुम्ब्यते हृष्टैर्वृद्धैरपि किमुज्जवलम्॥[2]

अर्थात् तप्तस्वर्णवत् भासमत्, ओष्टाभ्यां दष्टं, रसपूर्णं शुभ्रं च तत् किं उज्जवलं यं वृद्धाः अपि प्रसन्नं भूत्वा चुम्बन्ति। गूढम्-

गुप्ताक्रियापदादिप्रयोगो गूढम्।[3]

अर्थात् गुप्तपदाभिप्रायवस्तुभिस्सह क्रियाकारकसम्बन्धान् गूढकरणात्वात् गूढार्थविदः गूढस्य षड् प्रकाराः कुर्वन्ति-

क्रियागूढं, कारकगूढं, सम्बन्धगूढं, वस्तुगूढं, पादगूढं, अभिप्रायगूढं, चेति।

गूढालङ्कारे क्रियायाः कारकस्य सम्बन्धस्य पदस्य अभिप्रायस्य वस्तुनश्चेति एतेषु कस्यचित् एकस्य गोपनं भवति। तत्र क्रियागूढं यथा-

स्तनजघनभराभिरामन्दं गमनमिदं मदिरारुक्षेणायाः।
कथमिव सहसा विलोकयन्तो मदनशरज्वरजर्जरा युवानः॥[4]

---

1. शृङ्गारप्रकाशः
2. शृङ्गारप्रकाशः
3. शृङ्गारप्रकाशः
4. शृङ्गारप्रकाशः

हे युवानः! स्तनजघनानां भारेण मनोरमं, मन्दं मन्दं, मदिरारुक्षेणायाः इदं गमनम् अवलोकयन्तोऽपि यूयं सहसा कथं कामबाणेन जीर्णाः न भवत इत्यर्थः।

श्लोकेऽस्मिन् अनवधानदृष्टिपातेन पूर्णे छन्दसि क्रियायाः प्रतीतिरेव न भवति। 'स्त' 'न' इति पदद्वयं 'जघन'पदेन सह इत्यं निवेशितं यस्मात् एतयोः 'स्त' इति क्रियापदं 'न' इति अव्ययपदं स्त इति स्वीकरणे एव असङ्गत्वं प्रतीयते। किन्तु इयं क्रिया एव वर्तते, या गोपिता अस्ति। अस्या गोपनादेव क्रियागूढता वर्तते।

कारकगूढं यथा–

पिबन्तस्ते शरावेण वारि कह्लारशीतलम्।
केनेमौ दुर्विदग्धेन हृदये विनिवेशितौ॥[1]

कमलशीतलं जलं शारावेण पानसमये केन मूर्खेण इमौ तव हृदये निविशितौ? इत्यर्थः।

अत्र "शरौ" इत्यस्मिन् कर्मकारकस्य गूढत्वात् इदं कारकगूढस्य उदाहरणम्।

अस्य श्लोकस्यार्थ कारकस्य स्पष्टत्वात् अन्य एव भवति। वस्तुतः अत्र 'शरौ एण' इति पदद्वयं संयोज्य शरावेण इति कृतम् यस्मात् 'शरौ' इत्यस्य द्वितीया विभक्ति गुप्ता। तृतीयान्तपदस्य च निर्माणं भवति। अतः 'शरौ एण' इति ज्ञाते अर्थो भवति– हे मृग! कमलात् शीतलजस्य पानसमये केन तव हृदये इमौ शरौ निवेशितौ। इति।

सम्बन्धगूढं यथा–

न मयागोरसाभिज्ञं चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि।
अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहितेक्षणे॥[2]

मम चेतः केनापि अपराधेण परिचितं नास्ति। त्वं किमर्थं मयि कुप्यसि? हे रक्तनेत्रे! अलं रुदितेन। इति अर्थः।

अत्र 'न मे आगोरसाभिज्ञं चेतः'– मम मनः केनापि अपराधेण परिचितं नास्ति।

सामान्यतः सम्बन्धस्य गणना कारकेषु एव भवति। अतः अस्य पृथग्तया निर्देशः नावश्यक आसीत्। किन्तु संस्कृते 'सम्बन्धसम्बोधनौ' प्रधानकारकौ न स्वीकृतौ। दत्तोदाहरणस्य छन्दसि 'न मे गोरसाभिज्ञम्' इत्यस्मिन् स्थले सन्धिं विधाय 'न मयागोरसाभिज्ञम्' इति रूपे आगते। 'षष्ठ्यन्त मे इति स्थाने तृतीयान्त

---

1. शृङ्गारप्रकाशः
2. काव्याद.–3.108

मया इत्यस्य भ्रमो भवति।

वस्तुगूढं यथा- (दासी असि)

पानीयं पातुमिच्छामि श्यामे कमललोचने।
यदि दास्यसि नेच्छामि न दास्यसि पिबाम्यहम्।।[1]

हे कमलाक्षि! अहं जलं पातुमिच्छामि। यदि दास्यसि चेत् नेक्ष्यामि, न दास्यसि चेत् पास्यामि। इति एकोऽर्थः अन्योऽर्थ दास्यसि इत्यस्य विच्छदे सति- यदि दासी असि चेत् नेक्ष्यामि, दासी नासि चेत् पास्यामि इति।

अत्र क्रियाद्वस्य साम्यमेव प्रतीयते। यदि एते क्रियां मत्वा अर्थः स्वीक्रियेत चेत् विरोधउत्पद्यते। किन्तु एते वस्तुतः संज्ञायां क्रियायां च संहृतरूपं वर्तते। "दास्यसि" इत्यत्र 'दासी+असि' इत्यस्मिन् रूपे अभीष्टः वर्तते, न च लृटः क्रियायाम्। दासी इति पदं गुप्तं भूत्वा क्रियायाः रूपे प्रतीयते। अतोऽत्र वस्तुगूढम् अस्ति।

पादगूढं यथा-

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः।।[2]

शिवेन प्रक्षिप्ता सुवर्णमयी संहतिः अन्तरालमये आकाशे सञ्चरनती आसीत्, स्वकीयोच्चस्वरेण कर्णविवरं भेदयती आसीत्। अथ च विद्युन्माला इव चकासती आसित्।

अत्र स्थितेभ्यः द्वितीयप्रथमसप्तमपञ्चमैकादशनवमत्रयोदशषोडषाक्षरैः गूढः चतुर्थपादः निःसारयितव्यः। यथा विद्युतामिव संहतिः इति पादगूढम्। अतः अत्र निर्दिष्टवर्णानां क्रमिकयोजनायाः चतुर्थपादः निःसरति। सम्पूर्णपाद एव गूढोऽस्ति। तस्मादत्र पादगूढः।

अभिप्रायगुढं यथा-

जइ देवरेण भणिआ खग्गं घेत्तूण राउलं वच्च।
ता किं सेवअवहुए हसिऊण वलोइअं असणं।।

(यदि देवरेण भणिता खड्गं गृहीत्वा राजकुलं व्रज।
तत्किं सेवकवध्वा हसित्वावलोकितं शयनम्।।)[3]

---

1. शृङ्गारप्रकाशः
2. किरातार्जुनीयम्-15.43
3. शृङ्गारप्रकाशः

यदि देवरेण कथिता यत् खड्गं गृहीत्वा राजकुलं गच्छ इति, तदा किमर्थं दासी हसित्वा शय्यां दृष्ट्वती।

अत्र इदं प्रकटितं यत् श्अनया दास्या विपरीतरत्याः चिह्नस्वरूपचरणेषु लग्नं लाक्षारसादिकं दृष्टम्। अतः अयं पुरुषकरणीयकर्मसु मां नियुङ्क्ते। अनेन अभिप्रायेणैव सेवकवध्वाः शय्यां प्रति दृष्टिरासीत्। अतोऽत्र अभिप्रायगूढं प्रहेलिकायाः भेदः लक्ष्यते। यथा भोजेन अस्य प्रहेलिकाया उत्तरे भणितम्–

निरीक्षितमनेनेह पुरषायितलक्ष्म च।
पादालाक्षादिकं तेन नियुङ्क्ते मां न कर्मणि।।[1]

अत्र निरीक्षितमनेनात्र पुरुषायितलक्ष्म पादलक्षादिकं, तेन नियुङ्क्ते मां नृकर्मणि इत्यभिप्रायेण वध्वा शयनावलोकनमित्यभिप्रायगूढम्।

रसस्य परिपन्थित्वालङ्कारः प्रहेलिका।।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका।।[2]

अर्थात् रसविरोधात् प्रहेलिका नालङ्कारः। स च केवलं उक्तिवैचित्र्यं वर्तते। एतस्य च्युताऽक्षरा, दत्ताऽक्षरा, च्युतदत्ताऽक्षरादयः भेदाः भवन्ति।

उदाहरणम्–

कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम्।
किं करोतु कुराङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता।।

अर्थः– वृक्षे कोकिलः कूजति। यौवने कमलं विकसितमस्ति। मुखेन निष्पीडिता मृगनयना कि कुर्यात्?

अत्र 'रसाले' इति कथने 'साले' इति 'र' च्युतः। अतोऽत्र प्रहेलिकायाः भेदः– च्युताक्षरा लक्ष्यते।

'वने' इत्यत्र 'यौवने' इति 'यौ' दत्तः। वदनेन इत्यत्र मदनेन इति न च्युतः 'व' दत्तः। आदिशब्दात्क्रियाकारकगुप्तादयः।

तत्र क्रियागुप्तिर्यथा–

पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः।
तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभर्णानि च।।

अर्थः– पाण्डवानां सभां दुर्योधन आगतः। तस्मै दुर्योधनाय गां सुवर्णं सर्वाणि

---

1. शृङ्गारप्रकाशः
2. सा.द.–10.13

च आभूषणानि अत्र 'दुर्योधनः' इत्यस्मिन् 'आदुर्योऽधनः' इति। 'अदुः' इति क्रियागुप्तिः। एवमन्यात्रापि ज्ञातव्यम्।

भामहः प्रहेलिकां खण्डयति। कथयति च यत् इयं शास्त्रम् इव व्याख्यागम्या वर्तते। (काव्यालङ्कारः-2.20)। भामहानुसारं अस्या आदिव्याख्याता रामशर्माच्युतोऽस्ति। (1.29)

विश्वनाथेन प्रहेलिकायाः भेदत्रयं प्रतिपादितम्- च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, च्युतादत्ताक्षरा च।

ध्वनिवादिभिः प्रहेलिका अलङ्कारत्वेन न स्वीक्रियते। अन्यैश्च सर्वैः प्रहेलिका अलङ्कारोऽङ्गीक्रियते। काव्यं सुकुमारमतीनां कृते विरच्यते। तेषां रसास्वादे विघ्नोत्पादनात् अशक्यमस्यालङ्कारत्वं काव्ये। ये च सन्ति सहृदयाः, परिपक्वमतयः विद्वान्सश्च तेषां कृतेऽयं प्रहेलिकाऽलङ्कारः रसास्वादस्य विषयो भवितुं शक्नोति। तेऽत्रानन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति। तेभ्यः चमत्कारोत्पाकोऽयं अलङ्कारः वर्तते। यदि अस्माभिः मन्यते यत् केवलं सुकुमारमतीभ्य उपदेशं दानमेवास्ति काव्यस्य प्रयोजनं चेदस्य अलङ्कारत्वं सिद्धं न भवितुं शक्यते। साहित्यदर्पणकारोऽपि वक्ति यत् परिपक्वमतिवद्भिः एतत् सेव्यमस्ति तदाऽस्यालङ्कारत्वं सिद्धं भवति।

भोजादिभिराचार्यैः यत् प्रहेलिकाया अलङ्कारत्वं प्रतिपादितम् तत् परिशीलवतां बुद्धिनां कृते आह्लादत्वमुत्पादयितुं एव इति मे धीः। किन्तु मम्मटादयः प्रहेलिका अलङ्कारत्वेन न स्वीकुर्वन्ति यतोहि एषा सुकुमारमतीनां रसास्वादने बाधामुत्पादयति।

एवमिह प्रहेलिकालङ्कारः समीक्षितः।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में योग की आवश्यकता

-डॉ. सुभद्रा झा
तिमारपुर, नई दिल्ली

[वर्तमानसन्दर्भे हि अष्टाङ्गयोगानां कीदृशी उपयोगिता वर्तते? किञ्च तस्य स्वरूपं विद्यते? इति विषयमवलम्ब्य लेखिका स्वविचारान् शोधलेखे प्रास्तौत्।]

इस संसार में सबसे अद्‌भुत कुछ है तो वह है ईश्वर के द्वारा मनुष्य की रचना। इस विश्वरूपी सागर में प्रत्येक मनुष्य अपना विशेष व्यक्तित्व लेकर जन्म लेता है इसलिए मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। मानव शरीर अद्‌भुत आश्चर्यों से भरा होता है इसके द्वारा ही भौतिक और आध्यात्मिक जगत् के अनेक चमत्कारों का ज्ञान होता है। जीवित रहने की इच्छा मानव जाति का सर्वोपरि सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की पूर्ति मानव शरीर द्वारा ही सम्भव है इसलिए इस शरीर का स्वस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे शरीर को स्वस्थ रखने में योग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही मनुष्य ने योग के मर्म को अनुभव कर लिया था। जब हम योग का नाम लेते हैं तो हम अपनी चेतना को परम सत्य के साथ जोड़ने की बात करते है।[1] इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह घर छोड़कर किसी पर्वत या जंगल में एकान्त स्थान पर जाकर योगाग्भास करे आधुनिक युग की विशेषता है अल्पकालिक जीवन को सही ठंग से व्यतीत करने के लिए कड़ी मेहनत और घोर संर्घष करना। इस संघर्ष में मनुष्य तभी विजयी होता है जब उसका शरीर और मन दोनों स्वस्थ हों। शरीर और मन के बीच सनातन काल से परस्पर सम्बन्ध रहा है। शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है तथा मन का शरीर पर। योग हमारे मन और शरीर के बीच तादात्म्य स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह एकव्यक्ति को सभी आयामों

1. श्रीमद् भगवद् गीता यथारूप- श्री मद् ए. सी भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद पृष्ठ सं. 236

पर मानसिक, सामाजिक और बौद्धिक स्तर पर उच्च कोटि की संवेदनशीलता प्रदान करता है।

इस व्यवहार जगत में जहाँ मनुष्य को अनेक विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करना होता है उसके लिए मन को वश में कर पाना अत्यन्त कठिन है दिखावटी रूप में मनुष्य संतुलन बनाए रखने का प्रयास कर भी ले किन्तु स्वाभाविक रूप में ऐसा कर पाना कठिन है। कठोपनिषद् में कहा गया है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगृह्यमेव च
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥[1]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक शरीर रूपी रथ पर आरुढ़ है और बुद्धि इसका सारथी है मन लगाम है तथा इन्द्रियाँ घोडे है इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों की संगति से यह आत्मा सुख या दुःख का भोक्ता है यद्यपि बुद्धि को मन का नियन्त्रण करना चाहिए किन्तु मन इतना प्रबल और हठी है कि इसे अपनी बुद्धि से जीत पाना कठिन हो जाता है जिस प्रकार कभी-कभी अच्छी से अच्छी दवा द्वारा भी रोग वश में नही हो पाता है। ऐस ही प्रबल मन को सिर्फ योगाभ्यास द्वारा वश में किया जा सकता है।

योग शब्द संस्कृत के युज् धातु से बना है जिसका अर्थ है जुड़ना। यह जुड़ना ईश्वर से हो या स्वयं से या अपने लक्ष्य की प्राप्ति से।

विभिन्न दार्शनिकों ने योग के भिन्न-भिन्न अर्थ व्यक्त किए हैं जिन्हें यदि हम सम्यक् रूप से समझ ले तो जीवन काफी हद तक सुगम हो सकता है। श्री कृष्ण ने गीता में कहा है "योगः कर्मसु कौशलम्" जो कर्म सहज सुन्दर स्वाभाविक रूप से हो जाए वही योग है।[2]

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में योग का लक्षण बताया है

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

अर्थात् चित की वृत्तियों का निरोध ही योग है। अन्य विषयों से चित्त को हटाकर एक ही विषय के प्रति चित्त को एकाग्र करना। ये चित्त की एकाग्रता योग के द्वारा ही लाई जा सकती है। किसी भी कार्य को सही ठंग से करने के लिए चित्त की एकाग्रता होना अत्यन्त आवश्यक है।

1. कठोपनिषद्-1.3.34
2. गीता-2.50

विवेकानन्द जी भी कहते थे कि तुम जो भी कार्य कर रहे हो पूरा दिमाग उसी में लगाओ। यदि तुम निशाना लगा रहे हो तो तुम्हारा ध्यान सिर्फ अपने लक्ष्य पर होना चाहिए। फिर आगे, पीछे, दाएँ, बाएँ कौन है सब भूल जाओ। निश्चित रूप से बेहतर और सकारात्मक परिणाम मिलेंगें। योग में भी इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि जो कुछ करो सच्चे हृदय से एकाग्रमन से तन्मय होकर करो मंजिल तुम्हारे समाने होगी।

इस तथ्य को यदि हम अपने सामाजिक जीवन में भी लागू करें तो काफी हद तक समस्याएँ हल हो सकती हैं जैसे जब हम किसी को समय दे रहे हैं खासतौर पर परिवार को तो जो सदस्य जिस कालखंड का अधिकारी है उसे वह पूरी तरह से दें उस समय से छेड़छाड़ न करें। दूसरा-जब भी किसी को सुनें शतप्रतिशत उदार रहें। लोग भरे पड़े हैं बोलने के लिए। आप खाली हो जाएँ सुनने के लिए प्रकृति का ये उसूल है वह वहाँ नहीं लौटाती जहाँ आप देते हैं लेकिन किसी न किसी रूप में अवश्य लौटाती है। ये सब सम्भव है योग के द्वारा।

योग के आठ अङ्गो में पहले पांच बहिरङ्ग है क्योंकि उनका सम्बन्ध विशेषतया बाहरी क्रियाओं से है आधुनिक युग में सांसारिक मनुष्य यदि इन पांच अङ्गों की विशेषता को अपने जीवन में सही ढंग से अपना ले तो वह निश्चित रूप से सभी तनावो से मुक्त होकर अपने जीवन का लक्ष्य आसानी से प्राप्त कर सकता है।

सामान्यतः मनुष्य मन के व्यग्र होने पर ध्यान करने का प्रयास करते हैं परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती इसका कारण यही है कि वह योग के बाहरी अङ्ग यम नियम आदि का पालन सही ढंग से नही करता। जैसे नीव के बिना मकान नहीं ठहर सकता वैसे ही यम नियम का पालन किए बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना असम्भव है। ये बाहरी अङ्ग यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार योग की नीव है इनके बिना कोई भी योग का अधिकारी नहीं हो सकता। मनुस्मृति में भी कहा गया है-

यमान् सेवेत् सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥[1]

बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करे। केवल नियमों का पालन करने वाला यमों का पालन न करने से अपने लक्ष्य से साधन पथ से गिर जाता है। इसलिए नियम से पहले यम का पालन आवश्यक है।

1. मनुस्मृति-4/204

योग के इन पांच बहिः अङ्गो का वर्णन इस प्रकार है, यम- अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यम है।

1. अहिंसा- किसी को मन, वचन, कर्म से कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

2. सत्य- अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा जैसा भाव हमारे मन में है वैसा ही प्रकट करना सत्य है।

3. अस्तेय- अन्याय पूर्वक किसी का धन, द्रव्य, अधिकार न लेना अस्तेय है।

4. ब्रह्मचर्य- शरीर और मन वचन कर्म एवं इन्द्रियों?

5. अपरिग्रह- आवश्यकता से अधिक धन सम्पत्ति योग विलास की वस्तुएँ एकत्र न करना अपरिग्रह है।

नियम- शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानाानि नियमाः[1]

अर्थात् पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान पे पांच नियम है।

1. पवित्रता- पवित्रता दो प्रकार की होती है बाहरी और आंतरिक। जल मिट्टी साबुन आदि से पात्र, वस्त्र और शरीर के अङ्गों को शुद्ध और स्वच्छ रखना, शुद्ध सात्विक आहार से शरीर को सात्विक और निरोग रखना बाह्य पवित्रता है। ईष्या, अभिमान, घृणा काम क्रोध के त्याग से भीतरी पवित्रता आती है।

2. सन्तोष- सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूलता-प्रतिकूलता सब में प्रसन्नचित्त बने रहना संन्तोष है।

3. तप- मन और इन्द्रियो के संयम के लिए किए जाने वाले व्रत, उपवास आदि तप कहे जाते हैं।

4. स्वाध्याय- ओंकार सहित गायत्री मंत्र का जप वेद उपनिषद् आदि कल्याणकारी शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है।

5. ईश्वर प्रणिधान- मन वचन और शरीर द्वारा ईश्वर की भक्ति ईश्वर प्रणिधान है।

---

1. योगदर्शन-2/32 साधनपाद
2. योगदर्शन-2/46 साधनपाद
3. योगदर्शन-2/49 साधनपाद

आसन– स्थिर सुखमासनम्[2] आराम् से स्थिर होकर बिना हिले डुले बैठना आसन है।

प्राणायाम – तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।।[3]

आसन से स्थिर हो जाने पर श्वास प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। बाहर की वायु का नासिका द्वारा अन्दर प्रवेश करना श्वास है और भीतर की वायु का बाहर निकलना प्रश्वास है। प्राणायाम अनुभवी योगियों से ही सीखना चाहिए नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

प्रत्याहारः– स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।[1]

विमुख होना। इसमें इन्द्रियों अपने बहिर्मुखी विषयों से पीछे हटकर अन्तर्मुखी होती है इस कारण इसे प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में हो जाती है।

महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में योग का लक्षण बताया है – योगश्चित्तवृत्ति निरोधः[2] अर्थात् योग के मुख्य रूप से आठ अङ्ग बताए गए है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इनमें पहले पांच बाह्य अङ्ग है बाकी तीन अन्तरङ्ग है। योग के तीन अन्तरङ्ग अङ्ग धारणा, ध्यान, समाधि का प्रयोग सभी कार्यो में होता है। इनमें प्रथम धारणा अर्थात एकाग्रता है जब योगाभ्यास द्वारा हमारा चित्त एकाग्र हो जाता है तो एक प्रकार से ध्यान की अवस्था में हम अवस्थित हो जाते हैं।

विवेकानन्द जी भी कहते थे कि तुम जो भी कार्य कर रहे हो पूरा दिमाग उसी में लगाओ। यदि तुम निशाना लगा रहे हो तो तुम्हारा ध्यान सिर्फ अपने लक्ष्य पर होना चाहिए फिर आगे, पीछे दाएँ बाएँ कौन है सब भूल जाओ। निश्चित रूप से बेहतर और सकारात्मक परिणाम मिलेंगे। योग में भी इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि जो कुछ करो सच्चे हृदय से एकाग्रमन से तन्मय होकर करो तो मंजिल तुम्हारे सामने होगी। जब हम ध्यान में अवस्थित हो जाते हैं तो हमारा मन इस तरह निमग्न हो जाता है। कि हम ध्येय प्राप्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो जाते हैं इसी अवस्था को समाधि कहते हैं। किसी भी कार्य को सम्पन्न होने में ये तीनों धारणा, ध्यान समाधि अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। न केवल आध्यात्मिक ज्ञान के लिए अपितु लोक व्यवहार के लिए भी।[3]

---

1. योगदर्शन–2/54 साधनपाद
2. पातञ्जलय योग दर्शन–समाधिपाद–सूत्र 2
3. योगाङ्क–गीता प्रेस गोरखपुर

हर मनुष्य की इच्छा स्वयं से और पर्यावरण से सामञ्जस्य बैठा कर जीवित रहने की होती है। परन्तु मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाओं ने उसके जीवन से शांति को खत्म कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप वह व्यग्र और व्याकुल रहने लगा है उनमें संयम का निरन्तर अभाव होता जा रहा है। हर कोई स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने में लगा है। जिन्दगी की दौड़ में कहीं पिछड़ न जाऐं इस भावना नें उसे और अधिक व्यग्र बना दिया है। मानवीय संवेदनाएँ और नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हो रहा है। महत्त्वाकांक्षा को ओट में मनुष्य ने अपनी आवश्यकताएँ भी बढ़ा ली है। जिसके पूर्ण न होने पर उसके अन्दर विभिन्न तरह की उलझने उत्पन्न होती हैं जो निरन्तर विषाद और हताशाओं को जन्म देती हैं ऐसी स्थिति में योग मनुष्य की हताशा और विषाद को दूर करके, उसमें स्थिरता लाता है और शांति प्रदान करता है। वास्तव में योग एक मनोदशा है एक भाव है, एक जुड़ाव है। इस भाव और जुड़ाव को अनुभव करने की आवश्यकता है। इसके अनुभव से हमारी मनोदशा काफी हद तक बदल जाती है। हममें (व्यक्ति में) सकारात्मक बदलाव आता है। योग हमारी व्यक्तिगत विशेषता को निखारकर बाहर लाती है। योग का सम्बन्ध केवल धर्म, कर्म, परमात्मका की प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति से नही है अपितु इसका सम्बन्ध हमारी सोच से भी है। जो जिन्दगी में सही ढंग से आगे बढ़ने में हमारी मदद करता है।[1]

वास्तव में योग एक जीवन शैली है। मनुष्य चाहे तो उसका सम्पूर्ण जीवन ही योगमय हो सकता है। इस क्लेशमय संसार में रहते हुए शांति का अनुभव कर सकता है। जैसे नदी जहाँ पर अधिक गहरी होती है वहाँ बिल्कुल शान्त और स्थिर होती है वैसे ही मनुष्य को शान्ति प्राप्त करने के लिए और मानसिक तनाव को दूर करने के लिए अपने अन्दर गहराई के भाव को लाना होगा। मन की गहराई एवं हृदय की शान्ति योग और ध्यान के द्वारा लाई जा सकती है। योग के माध्यम से हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग का व्यायाम हो जाता है जिससे हमारे अन्दर के विकार स्वयं ही बाहर निकल जाते हैं। जब शरीर के विकार स्वयं ही बाहर आ जाएंगे तो मन में शांति का अनुभव होना स्वाभाविक ही है। योग स्वयं के बारे में समझ जीवन का प्रयोजन और ईश्वर से हमारा तादात्म्य स्थापित करने में सहायता करता है। यह जीवन का प्रकाश है विश्व की चेतना है जो सदैव सजग रहते हुए मनुष्य को भी सजग रहने को प्रेरित करती है।

✦✦✦

1. दैनिक भास्कर समाचार पत्र-जीने की राह-पं. विजयशंकर मेहता

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 17) ISSN : 0975-1769

भारतेन्दु और उनका 'मुद्राराक्षस'

-डॉ. मंजुला दास
सहाचार्या एवं कार्यवाहक प्राचार्या
सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली

[संस्कृतनाटकसाहित्ये मुद्राराक्षसस्य विशिष्टस्थानं विद्यते। तस्य हिन्दीभाषायाम् अनुवादः भारतेन्दु-महोदयेन कृतमस्ति। अस्मिन् लेखे नाटकवैशिष्ट्यं, नाट्यशास्त्रीयविषयाः सम्यक् निरूपिताः।]

'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त कृत प्रसिद्ध संस्कृत-नाटक है, जिसका प्रथम हिन्दी-अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया गया था। नाटक की प्रस्तावना में उपलब्ध उल्लेख के अनुसार विशाखदत्त सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज भास्करदत्त के पुत्र थे।[1] कुछ विद्वानों ने, जो 'भास्कर' के स्थान पर 'पृथु' को शुद्ध पाठ मानते हैं, इन्हें अजमेर के राजा पृथुराय से सम्बद्ध माना है। इनमें पाश्चात्य विद्वान् विल्सन मुख्य हैं। पाटलिपुत्र के प्रति विशाखदत्त की आस्था और काश, हंस, हिम आदि के उल्लेख के आधार पर उन्हें उत्तर भारत का निवासी माना गया है। वह वैदिक धर्म के अनुयायी थे, इसीलिये मंगलाचरण के श्लोक में उन्होंने शिव की उपासना की है। चतुर्थ अंक में राक्षस ने जीवसिद्धि के दर्शन को अशुभ माना है, जिससे यह संकेत मिलता है कि बौद्धों के प्रति वह उतने सहिष्णु नहीं थे।

विशाखदत्त के स्थिति-काल के विषय में विभिन्न मत हैं। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम 'मुद्राराक्षस' के भरतवाक्य के अन्तर्गत 'चन्द्रगुप्त' का उल्लेख अन्तःसाक्ष्य के रूप में द्रष्टव्य है-

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां!
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगतां शिश्रिये भूतधात्री॥
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

---

1. आज्ञापितोखस्मि परिषदा यथाद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रास्य महाराज भास्करदत्तसुनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटक...।

अन्तिम शब्द 'चन्द्रगुप्त' को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413 ई.) के समय का मानते हैं तथा कालिदास का भी उनसे सम्बन्ध जोड़ देते हैं। 'मुद्राराक्षस' के प्रसिद्ध टीकाकार ढुण्डिराज इस भरतवाक्य को नाटक के पात्र चन्द्रगुप्त मौर्य का यशोगान मानते हैं, पर इस मन्तव्य को इस आधार पर अस्वीकार किया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की यत्र-तत्र प्रशंसा होने पर भी प्रस्तुत कृति में राक्षस, मलयकेतु आदि विरोधी पात्रों ने उसकी पर्याप्त निन्दा की है। स्वयं चाणक्य उसे 'वृषल' जैसे निन्दनीय नाम से पुकारता है जिससे चन्द्रगुप्त के विशाखदत्त का आश्रयदाता होने के विषय में सन्देह उपजता है। 'चन्द्रगुप्त' के स्थान पर 'अवन्तिवर्मा', 'दन्तिवर्मा' अथवा 'रन्तिवर्मा' पाठ को शुद्ध मानने वाले विद्वानों ने उन्हें कन्नौज या काश्मीर से सम्बद्ध मानकर नवम शताब्दी में उनका स्थिति-काल स्वीकार किया है। डॉ. कीथ तथा डॉ. दासगुप्त का यही मन्तव्य है। किन्तु, काश्मीर के राजा को 'मुद्राराक्षस' में म्लेच्छ कहा गया है तथा भरतवाक्य में उल्लिखित म्लेच्छों का आक्रमण अवन्तिवर्मा आदि के समय नहीं हुआ था। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त द्वितीय 'शकारि' के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। डॉ. जायसवाल ने विशाखदत्त की समासरहित सरल शैली को देखकर उनका समय छठी शताब्दी के पूर्व निर्धारित किया है जो इस मत के अनुकूल है। साथ ही उन्होंने यूनानी सेनापति सेल्यूकस के नाम का पहले 'शलयकेतु' और पश्चात् 'मलयकेतु' के रूप में नामान्तर स्वीकार किया है। श्री कृष्णाचार्य तो 'मुद्राराक्षस' की मूल प्रेरणा चन्द्रगुप्त द्वितीय के हूणों और शकों के साथ हुए युद्ध को ही मानते हैं, क्योंकि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हूणों का आक्रमण नहीं हुआ था। एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक विशाखदत्त का एक अन्य नाटक भी प्राप्त हो चुका है, जो पूर्णतया चन्द्रगुप्त द्वितीय के जीवन पर आधारित है और उनके चरित्र की निष्कलंकता को सप्रयास सिद्ध करता है। विशाखदत्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालिक होना इससे भी सिद्ध होता है।

'मुद्राराक्षस' के हिन्दी-रूपान्तरकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885 ई.) ने मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के नाटकों की रचना की है। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत-दुर्दशा' आदि उनके मौलिक नाटक हैं। प्राचीन गाथाओं द्वारा जनता को राष्ट्रीय-सांस्कृतिक उद्‌बोध प्रदान करना उनका मुख्य उद्देश्य था। भाषा का रूप अधिक प्रखर न होने पर भी उनकी शैली में उल्लेखनीय विदग्धता थी। अनूदित नाटकों में उन्होंने शब्दानुवाद का आश्रय न लेकर भाव-रूपान्तरण पर बल दिया है। जहाँ आवश्यकता समझी, वहाँ उन्होंने अपनी ओर से भी कुछ जोड़ दिया। नान्दी, प्रवेशक और पद्यों के अनुवाद में इस प्रवृत्ति को सहज ही लक्षित किया जा

सकता है। उनकी अनूदित रचनाओं में 'विद्यासुन्दर' (1868), 'पाखण्डन विडम्बन' (1872), 'धनंजय-विजय' (1873), 'कर्पूरमंजरी' (18750) तथा 'मुद्राराक्षस' (1878) उल्लेखनीय हैं। 'मुद्राराक्षस' में भी अनुवादक की रुचि यथासम्भव सहजता की ओर रही है। इसीलिये ज्योतिषशास्त्र और राजनीति से सम्बन्धित प्रसंगों की उन्होंने मौलिक व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसी अनूदित कृति के आधार पर विशाखदत्त की नाट्यकला और भारतेन्दु की अनुवाद-पद्धति का विवेचन अभीष्ट है।

भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से समीक्षा

सामान्यतः नाट्यविवेचन में सम्प्रति पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का अवलम्बन लिया जाता है, किन्तु प्रस्तुत कृति में भारतीय नाट्यशिल्प का निर्वाह ही सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के आधारभूत तत्त्व हैं- वस्तु, नेता और रस।

वस्तु

नाटक के मूल कथ्य को 'वस्तु' कहते हैं, जो तीन प्रकार की होती है- ऐतिहासिक, काल्पनिक तथा इतिहास-कल्पना-मिश्रित। 'मुद्राराक्षस' का कथानक यद्यपि इतिहास-सम्मत है, तथापि विभिन्न सन्दर्भों में कल्पना का आश्रय लिये जाने के फलस्वरूप इसे 'मिश्रित' कहना ही उचित होगा। कथा-गठन की दृष्टि से विचार करने पर सर्वप्रथम आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं की ओर ध्यान जाता है। नाटक के मुख्य कथानक अर्थात् आधिकारिक कथावस्तु के अन्तर्गत सामान्यतः प्रमुख पात्रों के क्रियाकलाप का वर्णन रहता है, जबकि प्रासंगिक कथाओं से अभिप्राय उन विभिन्न संक्षिप्त सन्दर्भों से हैं, जो मुख्य कथानक को गति प्रदान करते हैं। 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य द्वारा राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने के लिए किये गये प्रयत्न और राक्षस की विफलता आधिकारिक कथा से सम्बद्ध प्रसंग हैं तथा मलयकेतु, भागुरायण, चन्दनदास आदि से सम्बद्ध कथांश नाटककार की उद्देश्य-सिद्धि में सहायक होने के कारण प्रासंगिक कथाओं के रूप में गणनीय हैं।

कथावस्तु का विभाजन दृश्य और सूच्य, इन दो आधारों के अनुसार भी किया जाता है। दृश्य कथा को रंगमंच पर दर्शकों के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है जबकि सूच्य कथा किसी भी पात्र द्वारा सूचित कर दी जाती है। 'मुद्राराक्षस' में प्रत्यक्ष घटनाक्रम कम है, अधिकांश घटनाएँ सूच्य ही हैं। उदाहरणार्थ राक्षस के कार्य-साधन में प्रवृत्त विषकन्या, दारुवर्म्म आदि की जिस भाँति मृत्यु हुई, उसे गुप्तचर विराधगुप्त द्वारा राक्षस के समक्ष सूच्य-रूप में ही

प्रस्तुत किया गया है। सूच्य कथावस्तु की योजना के लिए नाटक में विष्कम्भक, अंकास्य, चूलिका, प्रवेशक, अंकावतार आदि का विधान रहता है। विशाखदत्त ने इनमें से प्रथम दो को प्रस्तुत नाटक में स्थान नहीं दिया, किन्तु अन्य उपकरणों को उन्होंने यथास्थान ग्रहण किया है। चूलिका अथवा नेपथ्य की योजना इसमें आद्यन्त लक्षित की जा सकती है। चतुर्थ और पंचम अंकों के आरम्भ में पूर्व-घटित घटनाक्रम की सूचना देने के निमित्त 'प्रवेशक' का भी सफल समावेश हुआ है। इसी प्रकार सप्तम अंक में 'अंकावतार' की स्थिति है, क्योंकि इसमें छठे अंक में सूचित घटनावली को स्थान प्राप्त हुआ है।

कथानक में प्रभाव अथवा नाटकीयता के समावेश के लिए भारतीय नाट्यशास्त्र में संवादों की विशिष्ट पद्धति से योजना पर भी बल दिया गया है। इस दृष्टि से कथावस्तु के तीन भेद किये गये हैं- श्राव्य, अश्राव्य तथा नियतश्राव्य। 'श्राव्य' को रंगमंच पर उपस्थित पात्र तथा सभी दर्शक सुन सकते हैं, 'अश्राव्य' अर्थात् स्वगत को बोलने वाला पात्र ही सुन सकता है और 'नियतश्राव्य' कुछ विशेष पात्रों की श्रवण-सीमा में ही आते हैं। वर्तमान काल में इनमें से 'श्राव्य' को ही महत्त्व प्राप्त है- अन्य दोनों प्रकार के संवादों से युक्त कथावस्तु को मनोविज्ञान के विरुद्ध समझा जाता है। किन्तु, 'मुद्राराक्षस' में उपर्युक्त तीनों प्रकार के संवादों की योजना मिलती है।

'मुद्राराक्षस' में नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि का नियोजन भी भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुरूप हुआ है। नान्दी-पाठ को 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत स्थान देते हुए नाटककार ने उसके उद्घात्यक, कथोद्धत, प्रयोगतिशय, प्रवर्तक और अवगलित नामक भेदों में से उद्घात्यक को स्थान दिया है। सूत्रधार द्वारा चन्द्रग्रहण के पक्ष में कथित 'चन्द्र बिंब पूरन भए...' प्रभृति शब्दों का चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त के पक्ष में अर्थ-ग्रहण होने से 'मुद्राराक्षस' में उद्घात्यक प्रस्तावना की स्थिति सहज स्पष्ट है, जिसका संकेत सूत्रधार की इस उक्ति में भी मिलता है-

चन्द्रग्रहण को नाम सुनत निज नृप को मानी।
इतही आवत चन्द्रगुप्त पै कछु भय जानी॥

कथावस्तु को उत्कर्ष प्रदान करने वाले अर्थात् उद्देश्य-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य तत्त्व भी नाटक में अपेक्षित होते हैं। ये हैं- अर्थप्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएँ, नाट्यसन्धियाँ तथा नाट्यवृत्तियाँ। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' के कथा-गठन को प्रभावी बनाने के लिए इनके नियोजन की ओर यथास्थान ध्यान दिया है।

अर्थप्रकृतियाँ- भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की कथा पाँच सोपानों में विभाजित रहती है- 'बीज' के अन्तर्गत कथानक का मुख्य आरम्भिक

भाग आता है, 'बिन्दु' कथानक की विकासावस्था के आरम्भ से सम्बद्ध है, 'पताका' अर्थात् मुख्य प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ-साथ विकासमान रहती है, 'प्रकृरी' के अन्तर्गत गौण अर्थात् प्रासंगिक कथांश आते हैं और 'कार्य' से नाटक के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि अभिप्रेत है। 'मुद्राराक्षस' में इन अर्थप्रकृतियों का सन्धान सरलता से हो जाता है। प्रथम अंक में चाणक्य जहाँ राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने का निश्चय करता है, वहाँ 'बीज' है। 'बिन्दु' के अन्तर्गत चाणक्य को राक्षस की मुद्रा प्राप्त होना, शकटदास से धोखे से पत्र लिखवाना, राक्षस का कुटुम्ब सौंपने के लिए चन्दनदास पर दवाब डालना और अन्ततः उसे बन्दी बना लेना प्रभृति घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। सिद्धार्थक तथा भागुरायण चाणक्य के पक्ष में जो कार्य करते हैं, उन्हें 'पताका' में परिगणित किया जा सकता है। 'प्रकरी' के अन्तर्गत चन्द्रगुप्त और चाणक्य के कृत्रिम वाग्यु और राक्षस को इसकी प्रतीति से सम्बद्ध घटनाक्रम आता है। राक्षस द्वारा विवश भाव से चन्द्रगुप्त का अमात्य-पद ग्रहण करना 'कार्य' है।

कार्यावस्थाएँ- अर्थप्रकृतियों की भाँति कथा-विकास को कार्यावस्थाओं में भी विभाजित किया जाता है। इनकी संख्या भी पाँच है- प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। प्रस्तुत नाटक में चाणक्य को राक्षस की मुद्रा प्राप्त होने तक की घटना 'प्रारम्भ' के अन्तर्गत आती है। 'प्रयत्न' में चाणक्य द्वारा मलयकेतु और राक्षस में विरोध उत्पन्न कराना, शाकटदास के वध का मिथ्या अभिनय करना आदि घटनाएँ आ जाती हैं। 'प्राप्त्याशा' के रूप में राक्षस द्वारा आक्रमण की योजना और चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य की मिथ्या विग्रहावस्था का उल्लेख किया जा सकता है। चाणक्य द्वारा राक्षस की योजनाओं को असिद्ध कर देना 'नियताप्ति' और राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व ग्रहण कर लेना 'फलागम' है। 'मुद्राराक्षस' में कथानक की ये विकास-अवस्थाएँ अत्यन्त सहज रूप में अन्तःसम्बद्ध रही हैं।

नाट्यसन्धियाँ- मुख्य तथा गौण कथाओं में सम्बन्ध-स्थापना नाट्यसन्धियों का कार्य है। 'सन्धि' का आधारभूत तत्त्व है- कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का पारस्परिक सहयोग। फलस्वरूप इसके भी पाँच सोपान होते हैं- मुख सन्धि, प्रतिमुख सन्धि, गर्भ सन्धि, विमर्श सन्धि और निर्वहण सन्धि। 'प्रारम्भ' और 'बीज' के विन्यास को 'मुख सन्धि' कहते हैं। 'मुद्राराक्षस' में सूत्रधार के गमन के पश्चात् जब चाणक्य रंगमंच पर प्रवेश करता है और राक्षस को लक्षित करके स्वगत कहता है कि इसी से तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हें मिलाना चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चन्द्रगुप्त के मन्त्री बनो[1] वहाँ 'प्रारम्भ' नाम्नी कार्यावस्था है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम अंक में ही उसे समस्याओं में उलझा

1. मुद्राराक्षस, प्रथम अंक, पृ. 50

हुआ दिखाकर भावी उद्योग की बीज-सृष्टि की गई है। सन्धि-प्रकरण में इसी को 'मुख सन्धि' कहा जायेगा। 'प्रतिमुख सन्धि' में 'बिन्दु' और 'प्रयत्न' का संयोग होता है। चाणक्य द्वारा जाली पत्र लिखवाने का प्रयत्न तथा चन्दनदास का पकड़ा जाना इसी सन्धि के अन्तर्गत आनेवाली घटनाएँ हैं, क्योंकि ये फल-प्राप्ति के लिए साधन-स्वरूप हैं। 'गर्भ सन्धि' में 'पताका' और 'प्राप्त्याशा' का योग रहता है। इसमें 'बीज' के उद्यमों के असफल होने की आशंका रहती है, पर पुनः उसी में आस्था दृढ़ हो जाती है। जब द्वितीय अंक में हमारा साक्षात्कार राक्षस की कुटिल राजनीति से होता है, तो फल के नष्ट हो जाने की शंका रहती है, किन्तु विराधगुप्त द्वारा राक्षस की योजनाओं की विफलता की सूचना पाने से हम पुनः आशान्वित हो जाते हैं। 'प्रकरी' तथा 'नियताप्ति' के सहयोग से 'विमर्श सन्धि' का निर्माण होता है। इस सन्धि में फल के विपक्ष का प्राधान्य रहता है। यद्यपि तृतीय अंक में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का विरोध मिथ्या है, किन्तु उसके सत्य हो जाने की शंका रहती है; फलस्वरूप वहाँ 'विमर्श सन्धि' है। यदि राक्षस-पक्ष पर विचार किया जाये, तो मलयकेतु और राक्षस में विरोध-सृष्टि भी इसी स्थिति की सूचक है। 'निर्वहण सन्धि' के अन्तर्गत 'कार्य' और 'फलागम' का योग रहता है। 'मुद्राराक्षस' के अन्तिम अंक में राक्षस का आत्मसमर्पण इसी सन्धि का द्योतक है।

नाट्यवृत्तियाँ- भरत मुनि ने नाट्यवस्तु में 'वृत्ति' अथवा 'अर्थवृत्ति' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वृत्ति के चार भेद मान्य हैं- 1. कैशिकी (सुकुमार-चेष्टायुक्त प्रसंग, यथा- नृत्य, गीत, शृंगार-प्रकरण), 2. सात्त्वती (उग्र भावों से सम्बद्ध अर्थात् वीर, रौद्र आदि रसों में प्रयुक्त वृत्ति), 3. आरभटी (छलकपटपूर्ण सन्दर्भों का विन्यास), 4. भारती (प्रधान वृत्ति, जो सभी रसों में प्रयुक्त होती है)। 'मुद्राराक्षस' का कथानक राजनीतिक घात-प्रतिघात पर आधारित है और इसमें छल, कपट, हत्या आदि प्रसंगों का बाहुल्य है; फलस्वरूप इसमें आरभटी वृत्ति को स्थान प्राप्त हुआ है। किन्तु, प्रस्तुत कथानक का साध्य शुभ है और समस्त कुटिल साधन उसी सात्त्विक साध्य को प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाये गये हैं; अतः आरभटी वृत्ति के साथ ही इसमें सात्त्वती का भी संयोग है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि सात्त्वती वृत्ति के चार भेदों- उत्थापक, परिवर्तक, संलापक और संघातक-में से 'मुद्राराक्षस' में 'संघातक' को स्थान प्राप्त हुआ है। 'संघातक' की स्थिति तब होती है जब नाट्यवस्तु में संघर्ष का बीजवपन या तो मित्र-हित के लिए हो अथवा सम्बद्ध पात्र की नियति उसे अनायास उसी ओर प्रवृत्त करे। आलोच्य कृति में चाणक्य और राक्षस के विराध के मूल में स्वामी के प्रति हितेच्छा तो विद्यमान है ही; राक्षस इस विरोध का मूल कारण भाग्य को भी

मानता है। अतः यह स्पष्ट है कि विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' की नाट्यवस्तु के संयोजन में भारतीय नाट्यशास्त्र के तत्त्वों का भलीभाँति निर्वाह किया है।

नेता- भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटक में नायक अथवा नेता के पद को सर्वाधिक गौरवपूर्ण माना है। दशरूपककार ने 'नेता' की गुणावली का निर्धारण इन शब्दों में किया है-

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥

बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

नायकों को विविध गुणों के आधार पर चार कोटियों में विभाजित किया गया है-

1. धीरललित- मृदुभाषी और कलाप्रिय व्यक्ति।
2. धीरप्रशान्त- द्विजादि की भाँति आचरणशील।
3. धीरोदात्त-तेजस्वी, गम्भीर, अहंकार-रहित और सहिष्णु।
4. धीरोद्धत- कठोर स्वभाववाला, जिसमें गर्व और ईर्ष्या का सम्मिश्रण हो।

'मुद्राराक्षस' में प्रायः पच्चीस पुरुष-पात्र हैं, स्त्री-पात्रों की संख्या नगण्य है। इनमें से नायक कौन है, यह प्रश्न पर्याप्त विवादास्पद है। सामान्यतः इस सन्दर्भ में तीन नाम प्रस्तावित किये जाते हैं- चन्द्रगुप्त, राक्षस और चाणक्य। नायक के लिए तीन गुण आवश्यक हैं- एक तो वह कथा का सूत्रधार होता है; दूसरे, पुरुष-पात्रों में उसका स्थान प्रधानतम होता है और तीसरे, घटनाओं के केन्द्र में रहने के कारण वही फल का भोक्ता होता है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त के नायकत्व पर विचार करने पर दो बातें सामने आती हैं- एक तो उच्चवंशीय क्षत्रिय और राजा होने के नाते उसे प्रमुख पात्र माना जा सकता है; दूसरे, फल की सिद्धि (राज्यलक्ष्मी का स्थिर होना) भी उसी को होती है। कीथ के अनुसार नाटक के भरतवाक्य में चन्द्रगुप्त का उल्लेख है, फलस्वरूप उसी को नायक स्वीकार किया जाना चाहिए। उन्होंने 'द संस्कृत ड्रामा' में इस मत का प्रबल प्रतिपादन किया है, किन्तु अब इस विषय में सन्देह प्रकट किया जाता है कि भरतवाक्य में राक्षस ने चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रशस्ति की है; अपितु यह सिद्ध किया जा चुका है कि वहाँ नाटककार द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रशंसा की गई हैं फिर, चन्द्रगुप्त मौर्य की एक कमी अत्यन्त स्पष्ट है- वह सम्पूर्ण नाटक में निष्क्रिय रहा है। उसका व्यक्तित्व चाणक्य पर निर्भर करता है, फलस्वरूप कथा का सूत्रधार वह कदापि नहीं है।

रस- भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य को रसात्मक वाक्य की संज्ञा दी गई है[1]; फलस्वरूप नाटक में भी रसविशेष का अंगी रस के रूप में, और एकाधिक अन्य रसों का सहायक रसों के रूप में, समावेश अभीष्ट होता है। वस्तुतः ह्रसास्वाद ही यहाँ साहित्य या कला का चरम अभिप्राय समझा जाता रहा है। मुद्राराक्षस जैसे राजनैतिक नाटक में भी हम इतिहास, राजनीति आदि बौद्धिक तत्त्वों को रसोन्मुख पाते हैं।[2] भारतीय आचार्यों ने शान्त रस के अतिरिक्त प्रायः अन्य समस्त रसों को नाटक के लिए अनुकूल माना है। इस दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' में वीर रस और उसके स्थायी भाव 'उत्साह' की आद्यन्त व्याप्ति रही है। किन्तु, वीर रस को इसमें परम्पराभुक्त रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। युद्ध में शस्त्र-कौशल दिखाने की अपेक्षा इसमें राजनीतिक कूट चालों का आश्रय लिया गया है। यद्यपि इसमें परोक्ष रूप में हत्या और छल-प्रपंच को मुख्य स्थान प्राप्त रहा है, किन्तु इसके साथ ही लेखक की दृष्टि सदुद्देश्यपूर्ण कथानक पर भी केन्द्रित रही है। फलस्वरूप न तो इसमें कोई युद्ध-दृश्य है और न रक्तपात का प्रत्यक्ष चित्रण, भले ही षष्ठ अंक में राक्षस खड्ग खींचकर 'समर साध' इत्यादि पढ़ते हुए 'इधर-उधर टहलता है।'[3] इसी भाँति पर्वतेश्वर, दारुवर्म्म आदि पात्रों की हत्या तो करायी गई है, किन्तु इसके लिए युद्ध अथवा संघर्ष की भूमिका प्रस्तुत न कर नाटककार ने राजनीति-कौशल का आश्रय लिया है। डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त के अनुसार, प्रस्तुत नाटक में वीर रस के एक नवीन भेद-राजनीतिवीर-की उद्भावना की गई है, जिसे 'युद्धवीर' की अंगभू प्रवृत्ति माना जा सकता है।[4] 'मुद्राराक्षस' की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें आद्यन्त एक ही रस का निर्वाह हुआ है। शृंगार, वात्सल्य, हास्य प्रभृति रसों की योजना इसमें नहीं की गई अन्यथा किसी स्त्री-पात्र और चन्दनदास के पुत्र के माध्यम से प्रथम दो रसों; और विदूषक को स्थान देकर हास्य रस का समावेश कुछ अनुचित न होता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रस-योजना के सन्दर्भ में विशाखदत्त ने इस कृति को सर्वथा मौलिक स्वरूप प्रदान किया है।

✦✦✦

---

1. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', साहित्यदर्पण 1/3
2. चिन्ताधारा (1955), जानकीवल्लभ शास्त्री, 'संस्कृत-साहित्य में एकांकी' शीर्षक लेख, पृ. 37
3. मुद्राराक्षस, छठा अंक, पृ. 143
4. मुद्राराक्षस, (1968), राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 22